साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य

द्वितीय खण्ड

विष्णुग्रन्थि-भेद

साधन समर

वा

देवी माहात्म्य

महिषासुर बध-विष्णु ग्रन्थि भेद

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मर्षि श्री श्री सत्यदेव

मातृचरणाश्रित सन्तान
श्री योगेश्वर वन्दोपाध्याय
द्वारा प्रकाशित

साधन समर कार्यालय
२०१ वि, मुक्ताराम बाबु स्ट्रीट,
कलकत्ता - ७

द्वितीय संस्करण

शततम सत्याब्द १९८२ ई०

मूल्य : [illegible]० रुपया
५०)

मुद्रक :

पपुलर आर्ट प्रिन्टर्स

१, मुक्ताराम बाबू सेकेण्ड लेन,

कलकत्ता - ७

मातृ-स्नेह — उत्थान

जानन्तु विश्वे अमृतस्य सन्ताः ।

स्नेह की सन्तान ! क्या सत्य की माङ्गलिक आह्वान तुमने सुनी है ? निद्रालस नयन उन्मिलित करके दूर से आई हुई सत्य का प्रकाश-रेखा देखने लगे हों ? क्या अनेक जन्मजन्मान्तर की मोह निद्रा मा के स्नेह-शीतल करस्पर्श से दूरीभूत होने की उपक्रम हुआ। जाग तो गये हो परन्तु उठ नहीं सके हो ? निद्रा की जड़ता अभी दूर नही हुई ? अच्छा वत्स ! उस निद्रा और जागरण के सन्धि स्थल में अवस्थान करके ही कान लगा कर निरन्तर मातृ आह्वान सुनते रहो। आकर्षणमय वह बुलाहट अवश्य ही तुमको उठावेगी—आह्वान के लक्ष्य तक ले पहुँचेगी। तुम्हारी अनादि काल की जड़ता विदूरित हो जायगी। केवल कुछ व्याकुलता से श्रवण द्वार खुले रक्खो जिनने तुमको जगाया है वहीं तुम्हें उठने की शक्ति देंगी, वे ही तुम्हारे प्राण में आकुलता पैदा करेंगी। उस आकुलता के प्रबल आकर्षण से तुम्हें विषय रूप तट परित्याग कर हमारी ओर मा की ओर धावित होने ही होगा।

अरे ! सेच्छा कल्पित मोह-मदिरा से मतवाले पुत्रों ! तुम जड़त्व के संस्पर्श से जिस सुख का आभास मात्र भोग कर मुग्ध हो रहे हो मा की गोद में बैठ कर मातृलीला दर्शन में इसकी अपेक्षा करोड़ों गुने अधिक भूमा सुख की अनुभूति पाओगे अमृतमय मातृ-स्नेहधारा में अभिषिक्त होंगें। माकी आदर में आत्महारा होंगें।

इसी से बार बार बुलाती हूं आओ सन्तान ! आओ अमृत के पुत्रगण ! यदि जाग गये हो यदि जगत् को सत्य की ही मूर्ति समझ लिया है, यदि जड़ को चिन्मय रूप में आदर करना सीखा है, यदि सब भूतो में भगवत् सत्ता दर्शन करने का अभ्यास हुआ है, तो आओ, उठ खड़े हो ! मेरी ओर देखो— देखो अगणित ज्योतिष्क-मण्डल सदा मेरी ही आरती कर रही है। अगणित विश्व मेरे ही अङ्ग में युग-युगान्तर से शोभा पा रहे हैं। अगणित जीव किसी अनादि काल

से मेरी ही पूजा की अर्घ्य सामग्री शिर पर धारण किये दौड़ रहे हैं। देखो— इस ब्रह्माण्ड यज्ञागार में हर एक परमाणु मेरे ही उद्देश्य से प्राणाहुति अर्पण कर रहा है। उद्देश्य है—आत्म निवेदन। उद्देश्य है सिर्फ एक बार मुझे देखकर मुझमय "आत्ममय" हो जाना।

अरे विन्दु विन्दु मेरे प्राण! अब कब तक विक्षिप्त भाव से रह कर सुख दुःख जन्म मृत्यु के घात-प्रति-घात से क्षत-विक्षत होते रहोगे। आओ, दौड़ कर महाप्राण सागर की ओर आओ। डरो मत, अपने को खोओगें नहीं बल्कि अपने को ही पाओगे। इस समय जितना पाकर मुग्ध हो रहे हो वह दुःख मिला हुआ अति तुच्छ है। उसमें इच्छायें का अभिघात है। अनभिलषित का प्राप्ति होती है। जन्म-मृत्यु की तारना, रोग शोक का अत्याचार है। और यहाँ कुछ न होने पर भी सब है। पूर्ण आनन्द, केवल अमृत, केवल स्नेह कभी शेष न होने वाली मातृ करुणा की धारा। और है अव्यय अचल जीवन महासत्य।

पुत्रगण तुम सत्य पर प्रतिष्ठित हुए हो; अब चैतन्य में, प्राण में प्रतिष्ठित होओ। तुम्हारे शिर पर श्रीगुरु के मङ्गलमय स्नेहाशिर्वाद वर्षित हो।



मध्यम चरित

ऋषिच्छन्दः—उपोद्घात।

मध्यम चरितस्य विष्णुर्ऋषिर्महालक्ष्मीदेवता
उष्णिकच्छन्दः शाकम्भरीशक्तिः दुर्गाबीजं वायुस्तत्त्वं
यजुर्वेदस्वरूपं महालक्ष्मी प्रीत्यर्थे जपे विनियोग।

मध्यम चरित—महिषासुर बध है। इसके ऋषि विष्णु हैं। जो समष्टि प्राण कर्त्तृक इस विराट ब्रह्माण्ड परिधृत है, वही विष्णु हैं। रजोगुण का बहिर्मुख विक्षेप रूप महिषासुर, इस महाप्राण के अङ्क में ही विलय होता है। इसलिये विष्णु ही इस मध्यम चरित का द्रष्टा ऋषि है। महालक्ष्मी देवता है। लक्ष्मी प्राणशक्ति का ही दूसरा नाम है। जब तक देह में प्राणशक्ति विराजती है। तब तक ही हमारे नाम के पूर्व लक्ष्मी का पर्य्याय श्री शब्द प्रयुक्त होता है। व्यष्टि प्राण शक्ति का नाम लक्ष्मी है और समष्टि प्राणशक्ति को महालक्ष्मी कहते हैं। यही पराप्रकृति की रजोगुणात्मिका महतीशक्ति है। यही रजोगुण की आत्माभिमुखी क्रियाशीलता है। विषयाशक्ति रूप विक्षेप इसके द्वारा निहत होता है। इस कारण महालक्ष्मी ही इस मध्यम चरित का देवता है।

उष्णिक इसका छन्द है। इस चरित में प्रविष्ट साधक का प्रवाह वा प्राणायाम उष्णिक् नामक वैदिक छन्द के अनुरूप स्पन्दनयुक्त होता है। शाकम्भरी शक्ति हैं। शाकम्भरी शक्ति का रहस्य तृतीय खण्ड में विशेष भाव से व्याख्यात होगा। दुर्गा बीज है। दुर्ग शब्द के उत्तर हननार्थक आ धातु से दुर्गा शब्द बना है, जो सब दुर्गति हरण करें वे ही दुर्गा है महिषासुर निहत

होने से ही मानव की दुर्गति का अन्त हो जाता है। दुर्गति हरण ही इस मध्यम चरित का बीज व मूल कारण है।

वायु तत्व। प्राण शक्ति जब स्थूलतत्त्व रूप से आत्मप्रकाश करती है तब वायु रूप में ही इसका प्रकाश होता है। श्वास प्रश्वास ही प्राण का बाहिरी लक्षण है। इसीसे वायु इसका तत्व है।

यजुर्वेद स्वरूप वायु के वेदन वा अनुभूति से ही यजुर्वेद आजानिक शब्द समूह प्रादुर्भूत होते है। इसी से वायुदेवता के मन्त्र से ही यजुर्वेद का प्रथम आरम्भ है। महालक्ष्मी की प्रीति अर्थात् महा प्राणामयी मा के प्रति महती प्रीति लाभ के उद्देश्य से ही इसका विनियोग होता है।



द्वितीय संस्करण का निवेदन

मंगलमयी माँ की इच्छा से 'विष्णुग्रन्थि भेद' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ है।

जो मातृकल्प महामानव इस ग्रन्थ का लेखक है, वह अब स्थूल शरीर में नहीं, तथापि उनका यह अमर दान जीवहितकर अमोघ आशीर्वाद उनकी दिव्य दृष्टि से उपलब्धिकृत इस महा सत्य का रसामृत श्रद्धावान पाठकों के हृदय पर अमृत ही वर्षण कर रहा है, उनका यह देन संसार संतप्त मानवों के—साधनपथ पथिकों के हृदय में नयी प्रेरणा और आशा का संचार करे यही महामाया से प्रार्थना है।

अधुना मुद्रण व्यय की अत्याधिक वृद्धि के कारण ग्रन्थ का मूल्य कुछ बढ़ गया है। इनके लिये हम पाठकों की कृपा भिक्षा करते हैं। आशा है कि सहृदय पाठकगण अनिच्छाकृत मुद्रण दोष अपनी उदारता से उपेक्षा करेंगे।

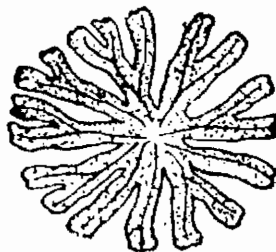
शततितम सत्याब्द
राखी पूर्णिमा १९८२ ई०
२०१बी, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

विनयावनत :
कार्याध्यक्ष
साधन समर कार्यालय



ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्व्वधी-साक्षिभूतम्,
भावातीतं त्रिगुणारहितं सद्‌गुरुं तं नमामि ॥

गुरो! बहुरूपधारी नारायण मूर्ति अपनी सेवा के लिये यह आयोजन आप ही का है अपनी सेवा से आप परितृप्त हों। एक बार यह जड़त्त्व का स्वांग परित्याग कर चैतन्य-प्राणमय स्वरूप में प्रकाशित हुजिये। जगत से जड़ता का तम दूर हो जाय। सेवक की आशा पुर्ण हो।



॥ श्री ॥

साधन-समर

वा

देवी-माहात्म्य ।

द्वितीय खण्ड

विष्णु ग्रन्थि भेद महिषासुर वध ।

ऋषिरुवाच ।

देवासुरमभूद्युद्धं पूर्णमब्दशतं पुरा ।
महिषेऽसुराणामधिपे देवानाञ्च पुरन्दरे ॥१॥

अनुवाद—ऋषि बोले—"प्राचीन काल में जब महिषासुर असुरों के और पुरन्दर देवों के अधिपति थे, तब पूर्ण सौ १०० वर्ष तक देवासुर-संग्राम संघटित हुआ था ।

व्याख्या—मधुकैटभ निहत हुआ—आगामि कर्म के बीज ध्वंस हो गये । साधक अब फिर नित नई आशा आकाँक्षा मन में रख कर कर्म्म में प्रवृत्ति न हों । कर्मक्षेत्र (देह) में अवस्थान करने से वाध्य होकर कर्म किया तो जाता है, परन्तु जहाँ तक हो सके आसक्ति रहित होकर उपस्थित कर्म्म पूरे करने की चेष्टा करते हैं । कर्म्म की सफलता में विशेष उल्लास नहीं, निष्फलता में भी किसी तरह का हा हताश नहीं । साधक को ऐसी अवस्था की इच्छा करना भी बड़े सौभाग्य की बात अवश्य है, किन्तु जो माँ की गोद में नित्य अवस्थान (जीव भाव की सम्पूर्ण विलय करने) की आशा में, समाधि के सहाय सुरथरूपी जीवात्मा विज्ञानमय गुरु मेधस के कृपा प्रयासी हुए थे, उनकी वह आशा अभी पूर्ण नहीं हुई, क्योंकि प्रज्ञा-चक्षु जितना ही खुलता जाता है, अज्ञान अन्धकार धीरे-धीरे

जितना भी दूर होता जाता है, उतना ही साधक अपने अलक्षित दोषों को विशेषभाव से लक्ष्य करने में समर्थ होता है। जैसे अत्यन्त मैले कपड़े पर लगा हुआ कोई चिह्न (दाग) लगा हो तो वह नहीं दिखाई देता, किन्तु वह वस्त्र जितना साफ होता जाता है, पहले के न दीखने वाले चिह्न उतने ही बिलकुल साफ नजर आने लगते हैं। उसी तरह जब तक जीव अज्ञानान्ध रहता है, तब तक वह अपने दोषों को नहीं देख सकता। परन्तु जब श्रीगुरु कृपा से ज्ञान-चक्षु खुलता जाता है, तब वह अपने गुप्त दोषों को भी प्रकटरूप से देखने में समर्थ हो जाता है।

परमात्माभिमुखी—मातृ-अङ्क-प्रयासी जीव पहले समझता था कि—"स्त्री-पुत्रादि संसार-बन्धन ही परमात्मा को पाने में विघ्न मात्र हैं। गृहस्थाश्रम त्याग किये बिना और किसी तरह इस बंधन से नहीं छूटा जा सकता।" किन्तु श्रीगुरु जब चक्षु से अङ्गुली लगा कर दिखा देते हैं कि स्त्री पुत्रादि गृहस्थ ही बन्धन नहीं है, असली बन्धन हैं अन्तर के संस्कार। संसार अन्तर में ही अवस्थित है। कितने एकान्त स्थान में पहाड़ की गुफा में जाकर क्यों न रहो, संसार किसी तरह नहीं छूटता। साधक जब मर्म, मर्म से अनुभव करके संसार की जड़ उखाड़ डालने की चेष्टा करता है, तब जगतमय सत्य-प्रतिष्ठा के फल से गुरु कृपा से सोती हुई प्राणशक्ति जाग्रत होकर, आगामि कर्मों के बीजरूपी मधुकैटभ का बध करती है। संसार महा-महीरुह की एक जड़ उखड़ जाती है। किन्तु अभी और दो जड़ें बड़ी गहरी गढ़ी रहने से वह सहसा नहीं उखड़ती।

साधक! तुम मा-मा कहते हुए जितना ही आकुल प्राण से माँ की गोद में बैठने के लिये आगे बढ़ना चाहते हो चतुरा, छलना-मयी माँ उतनी ही धीरे-धीरे दूर हटती जाती है। किसी तरह उसमें विभोर नहीं हुआ जाता, किसी तरह उसमें सब प्राण महाप्राणमयी माँ के चरणों में अर्पण कर बहुत्त्व के (चञ्चलता)

के हाथ से चिर-विश्राम नहीं प्राप्त किया जाता और माँ भी अपने स्नेहमय आलिङ्गन से सन्तान को सदा गोद में नहीं लिये रहती। कभी गोद में उठा लेती है और फिर छोड़ देती है। माँ अपने पूर्ण आकर्षणमय प्रज्ञा-चक्षु से जीव के चक्षु सदा नहीं मिलाये रहती। क्यों ऐसा होता है। दुर्जय असुर मधुकैटभ मारा गया है, नयी-नयी आशाओं की जड़ उखड़ गई है तथापि क्यों हम मातृ-वक्ष पर सदा विश्राम नहीं कर सकते? ऐसे भाव के द्वारा साधक जब पीड़ित होता है और इसका कारण उसकी समझ में आता नहीं, तब वह श्रीगुरु के चरणों की शरण लेता है, "शिष्यस्तेऽहं शाधि माँ त्वां प्रपन्नम्।" तब विज्ञानमय-गुरु साधक के सामने जो चित्र उद्‌घाटित करते हैं वही महिषासुर बध वा बिष्णु-ग्रन्थि-भेद नाम से व्याख्यात होगा।

मधुकैटभ बध के अन्त में महर्षि मेधस ने कहा था, "भूयः शृणु वदामी ते" वे जानते थे कि यहाँ तक जो कहा गया, मधु कैटभ-बध में देवी का जो महत्व दिखाया है उससे सुरथ की आशा पूरी तरह न मिटेगी, जीवत्व का बिन्दुमात्र शेष रहने पर भी आशा पूरी तरह नहीं मिटती, जीव जब तक पूर्ण भाव से ब्रह्मत्व पर नहीं पहुंच सकता, जब तक जीव और ब्रह्म की अभिन्नता पूर्णरूप से अनुभव नहीं कर सकता, तब तक इस आशा की निवृत्ति नहीं होती। यह विचार कर ही शिष्य को जिज्ञासा का अवसर न देकर अन्तर्यामी विज्ञानमय गुरु आगे कहते जाते हैं। इसी से अध्याय के प्रथम ही "ऋषिरुवाच" उल्लिखित हुआ है। ऋषि बोले—हे वत्स सुरथ! तुम्हारे भविष्यत कर्म बीज नष्ट होने पर भी सञ्चित कर्म्म अभी मौजूद हैं। वे जो बहुत्व विषयक फल उत्पन्न करेंगे, उसका कोई प्रतिकार अब तक नहीं किया गया है। तुम चाहे नवीन कुछ न चाहो, नित-नित नयी विषयाकांक्षायें न करो, चाहे अभिनव आशा की मोहिनी मूर्ति तुम्हें अभिभूत न करे; किन्तु तुम जो बहुत्त्व पहले चाहना कर चुके हो, बहुत दिन

अनेक जन्म-जन्मान्तर से जो अगणित आशा आकांक्षा पोषण कर आये हो, वे जो पुञ्जीभूत बहुत्व के संस्कार रूप से अचल प्रतिष्ठ होकर, तुम्हारे चित्त-क्षेत्र में बैठी हुई हैं। विचार देखो—तुम्हारी संचित संस्कार-राशि अब भी अखण्ड भाव से अपना अधिकार बढ़ा रही है। उन्हें विध्वंस किये बिना तुम्हारे निरबच्छिन्न भूमा सुख की आशा नहीं है। किन्तु भय नहीं वत्स! मुझे तुम्हारी माँ ने, गुरु रूप से अपना प्रकाश किया है, अब स्वयं खड्ग-हस्त से समराङ्गण में अवतीर्ण होकर तुम्हारे सब संस्कार विलय कर दूंगी। तुम केवल मेरी गोद में बैठे-बैठे एकाग्र-हृदय से मेरी कर्म्म-शृंखला—मेरी अपूर्व लीला देखते जाओ। मुग्ध सन्तान! भीत सन्त्रस्त पुत्र! जब तुमने माँ कह कर पुकारा है, जब मुझको ही एकान्त-आश्रय रूप समझा है, मेरे महाप्राण में अपने प्राण मिला देने के लिये व्याकुल भाव से चाह रहे हो, तब फिर भय नहीं। मैं तुम्हारे सब बन्धन काट कर, सदा के लिये अपने अङ्ग में मिला लूंगी। तुम धन्य होगे।

जीव! इसे तुम केवल भाव का ही उच्छ्वास—भाषा की झङ्कार मात्र ही न समझना। सचमुच तुम केवल एक बार सरल प्राण से पुकारो, सचमुच तुम मुझे अपना एकान्त आश्रय रूप मर्म मर्म से अनुभव करो, तो फिर तुम को कुछ भी नहीं करना होगा। मैं तुम्हारी सब साधना सब विशुद्धि ठीक-ठीक कर लूंगी। तुम सुख-दुःख में निर्विकार आनन्दमय नग्न शिशु की तरह मेरी स्नेहमय गोद में बैठे ही बैठे, द्रष्टा वा साक्षी मात्र-स्वरूप में अवस्थान करोगे। तुम्हारे आधार की कल्पित अपवित्रता मैं ही पवित्र कर दूंगी। तुम्हारा जन्म-जीवन पुण्यमय होगा।

इस मध्यम चरित्र में पूर्व कहे हुए संचित कर्म्म संस्कार समूह ही असुर रूप से वर्णित होंगे। जीव अनेक जन्मों में अनेक प्रकार वैध कर्म्मादि के अनुष्ठान से, अथवा योग तपस्यादि की सहायता

से, अथवा ज्ञान भक्ति के अनुशीलन से परमात्मा विषयक संस्कार-समूह संचय करते हैं। वे ही देवता, अर्थात —मन, बुद्धि, इन्द्रियों की जो परमात्माभिमुखी गति व मिलन का प्रयास है, उन्हीं को देव-शक्ति कहते हैं। और उक्त मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि की जो विषयाभिमुखी लालसा हैं, वे ही सुर विरोधी अर्थात् असुर नाम से कहीं हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान ने जो देवा-सुर सम्पद् विभाग किया है, यहाँ संक्षेप से उनका आभास देना आवश्यक है। अभय सत्व संशुद्धि, आत्मज्ञान के उपाय में एकान्त निष्ठा, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निर्लोभ, मृदुता, लज्जा, धीरता, तेज क्षमा, धृति, अद्रोह; निरभिमान ये सब देवताओं की सम्पद् अर्थात देवशक्ति के कार्य व्याख्याते हुए हैं। और इनके विपरीत अर्थात् भय, अशुद्धि आदि एवं दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ये आसुर सम्पद् व असुर-शक्ति के कार्य रूप में वर्णित हुए हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड में कहा है, "देवासुरा ह्वै यत्र संयेतिरे"। भगवान शङ्कराचार्य ने इसकी भाष्य व्याख्या में कहा है, "देवा दीव्यतेर्द्योतनार्थस्य शास्त्रोद्भासिता इन्द्रिय वृत्तयः, असुरास्तद्विपरीताः, संग्रामं कृत-वन्तः। शास्त्रीयप्रकाशवृत्योभिभवनाय प्रवृत्ता स्वाभाविक्यस्तमो-रूपा इन्द्रियवृत्तयोऽसुराः। तथा तद्विपरीताः शास्त्रार्थविषयविवेक-ज्योतिरात्मानो देवाः स्वाभाविक तमोरूपासुराभिभवनाय प्रवृत्ताः इत्यन्योन्याभिभवोद्भवस्वरूपः संग्राम इव सर्वप्राणिषु प्रतदेहं देवासुर सग्रामोऽनादिकाल प्रवृत्त इत्यभिप्रायः।"

इसका तात्पर्य—"जीवमात्र की ही देह में चिरकाल से देवा-सुर संग्राम चलता है। शास्त्रोद्भासित इन्द्रिय वृत्ति ही देवता हैं और

उनके विपरीत अर्थात् विषयासक्त वृत्तियां असुर हैं। दोनों पक्ष ही एक दूसरे की विषय सम्पत्ति हरण के लिये तैयार रह कर सदा संग्राम करते रहते हैं। प्राणियों के शरीर में दोनों तरह की वृत्तियां हैं। शास्त्रज्ञान से उत्पन्न परमात्म-विषयक इन्द्रियवृत्तियां और विषय भोग वासना रूप इन्द्रिय वृत्तियां। इन दोनों वृत्तियों का द्वेष्य द्वेषक भाव अनादि सिद्ध है।" इस तरह हम गीता उपनिषद् और जगद्गुरु शङ्कराचार्य के भाष्य से देवासुर और उनके परस्पर संग्राम-रहस्य जान कर देवी माहात्म्य में अवगाहन करेंगे। पक्षान्तर में यह भी विवेचना करनी चाहिये कि वेदादि सब शास्त्रों में यद्यपि देवासुर आदि का ऐसा आध्यात्मिक रहस्य ही व्याख्यात हुआ है, तथापि इस तरह दो श्रेणी के प्राणी एकत्र नहीं रह सकते, यह विचार करने का कोई कारण नहीं है, स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों ही समान सत्य हैं। ये कथायें प्रथम खण्ड में विस्तारपूर्वक कही गई है।

जब महिष नाम का असुर असुरों का राजा, और पुरन्दर देवताओं का राजा अर्थात इन्द्र था, तब ही यह देवासुर सग्राम संघटित हुआ था।

महिषासुर—रजोगुण, गीता में कहा है, "काम एषः क्रोध एषः रजोगुण समुद्भवः" काम और क्रोध रजोगुण से उद्भूत हैं। फिर अन्यत्र मानस पूजा विधान में भी कहा है—'क्रोधंच महिषं दद्यात" अर्थात क्रोध को महिष रूप से कल्पना करके देवी के उद्देश्य से बलिदान करे। यद्यपि यहाँ केवल क्रोध को ही महिष रूप से उल्लेख किया गया है, तथापि हम महिष शब्द से केवल क्रोध को न समझ कर, जिससे क्रोध की उत्पत्ति है उस रजोगुण को ही महिषासुर समझ ले। वास्तविक चण्डी के तीन रहस्य तीन गुणों का विश्लेषण मात्र हैं। प्रथम चरित्र में सत्वगुण के बाहरी विकास रूपी दो संस्कार मधुकैटभ नाम से वर्णित हुए हैं। इस द्वितीय

चरित्र में रजोगुण के वहिर्मुखी विकाश-जन्य जो संचित बहुत्व-संस्कार हैं, वे ही असुर वृन्द रूप से वर्णित होंगे। "एक मैं अनेक भाव से प्रकाश होऊ" यह भाव दूर हुआ है; किन्तु जो बहुत्व हमने स्वीकार कर लिया है अर्थात् अनादि काल से जो बहुत्व विषयक संस्कार चित्त क्षेत्र में पोषण करते आये हैं, वे तो दूर नहीं हुए, वे ही इस मध्यम चरित्र में वर्णित असुर समूह हैं। रजोगुण से इनका विकास होता है, सब कामना, वासना और भगवद्गीता में कहे हुए दम्भ, दर्प, अभिमान आदि सब आसुरी सम्पद इस रजोगुण के ही स्थूल विकास मात्र हैं। इसी से रजोगुणरूपी महिषासुर इनका अधिपति हैं।

फिर दुसरी ओर इस रजोगुण का अन्तर्मुखी विकास समूह ही देवता है। पुरन्दर इनका अधिपति है। पुर का जो विदारण वा ध्वंस करे उसको पुरन्दर कहते हैं। इस नव (९) द्वार वाले देह-रूप पुर को विदीर्ण करके अर्थात देहात्म बोध विलय करके देह-त्रयातीत, अवस्था त्रयातीत, गुणत्रयातीत परमात्म सत्ता (मातृ अङ्क) में, बिलकुल मिल जाने का जो प्रयास है, उसी का नाम पुरन्दर है। यह देवगण का अधिपति है। समस्त देवशक्ति अर्थात अभय, सत्व, शुद्धि, दान, दम, तितिक्षा आदि इसी का अनुवर्तन करते है। सब-देवभाव इस पुरन्दर के आज्ञापालक हैं।

यहां त्रिगुणतत्व सम्बन्ध में कुछ आलोचना करना आवश्यक है। मान लो कि विशुद्ध चैतन्य अर्थात् निर्विकल्प निरञ्जन परमात्म सत्ता में कुछ अनादि सिद्ध अज्ञान रहता है। इस अज्ञान का स्वरुप— मैं अपने आप को नहीं जानता"। यह अज्ञान भी किन्तु ज्ञान के ऊपर ही विद्यमान है; क्योंकि "जानता नहीं" यह जो अज्ञान है, वह भी वस्तुतः कुछ ज्ञानमात्र है। इस ज्ञान और अज्ञान के अनादि सिद्ध अपूर्व-मिलन को ही माया वा लीला वा पुरुष प्रकृति का संयोग कहा जाता है। ज्ञान ही जिनका स्वरुप है, वह

यदि मन में कहे कि "मै जानता नहीं" तो मन के उस विचार को लीला ही कहना होगा। नवयुवक पिता जैसे अपना ज्ञान-गौरव विस्मृत न होने पर भी शिशु पुत्र के साथ बालक की तरह खेल करके निर्म्मल आनन्द का भोग करता है ; यह भी ठीक वैसा ही है, अस्तु, परमात्मा-चिन्मयी मा 'मुझ को जानते नहीं' ऐसा कह कर जानने के लिये एक बार स्पन्दित होती है, अर्थात् आत्म-स्वरुप जानने के लिये स्वेच्छा कल्पित एक स्फुरण होती है—कुछ चञ्चल भाव लक्षित होता है, इसी का नाम रजोगुण है। इस प्रथम स्फूरण के साथ ही-साथ, उसके दोनों तरफ और भी दो स्पन्दन प्रकट होते है। एक प्रकाश और दूसरा स्थिति। प्रथम स्पन्दन से परमात्मा में विशिष्ट भाव प्रकाश पावे, उस विशिष्ट भाव से अपने को जानने का नाम प्रकाश वा सत्यगुण हैं और उस प्रकाशात्मक रजोगुण को जो स्पन्दन ठहरा सके उसका नाम स्थिति वा तमोगुण है। ये परस्पर संसर्गी हैं—एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता, फिर एक दूसरे को पूर्ण रुप से दबा लेने का भी प्रयास करते रहते हैं। ये तीन गुण जैसे बहिर्मुखी स्पन्दन-धर्म वाले हैं, वैसे ही अन्तर्मुखी हैं। पूर्व कह आये हैं कि ज्ञान अज्ञान सम्मिलित सत्ता के ऊपर ही ये तीनों प्रकार के स्पन्दन होते है अतएव इनका जैसा अज्ञान की ओर विकास है वैसा ही ज्ञान की ओर भी है। जो स्पन्दन अज्ञान अर्थात 'अपने को' न जानना विशेष भाव से समझा दें, उनका नाम असुर है; और जो स्पन्दन ज्ञान अर्थात आत्म–सत्ता जाग्रत करने में सहायक हों वे ही देवता हैं।

यह विषय नितान्त सहज नहीं है। जो दार्शनिक तत्व विचार में अभ्यस्त नहीं हैं, उनके लिये यह दुष्पाच्य (समझने में कठिन) हो सकता है। इसलिये संक्षेप में और सरल भाव से फिर पूर्व कहे विषय की आलोचना करते है। 'अपने आपको मैं नहीं जानता' यह समझ कर जानने का जो उद्यम वा चेष्टा है, उसी का नाम

रजोगुण है, उस चेष्टा के फल से जो कुछ कुछ जानना वा बोध करना है वही सत्वगुण है और उसमें बोध को पकड़ रखने का नाम तमोगुण है। यही योग-शास्त्र में प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति अथवा शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था है। गीता में इसी को प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह नाम से कहा है। (१४। २२) अच्छी तरह धीर भाव से यह त्रिगुण का स्वरूप हृदयङ्गम किये बिना देवासुर संग्राम समझने का और कोई उपाई नहीं है। फिर कहते हैं सत्वगुण—प्रकाशशीलभाव, रजोगुण—क्रियाशील भाव और तमोगुण—इन दोनों की धृति वा धारणशील भाव, ये सदा परिणामी—परिवर्तनशील हैं। जड़ जगत इन तीन गुणों का परिणाम है। ब्रह्मा से जड़ परमाणु पर्यन्त सब ही इन तीन गुणों के परस्पर संयोग वियोग और सम्मिश्रण के शिवाय और कुछ नहीं है।

सुख दुःखादि भी त्रिगुणात्मक ही है। जहाँ अति अधिक चेष्टा—क्रियाशीलता से अति अल्प आत्म-बोध की फुरना हो उसे लोक में दुःख कहते हैं। क्योंकि उस स्थान में क्रिया भाव अधिक है प्रकाशभाव कम है। जहाँ सत्वगुण की क्रिया अर्थात् प्रकाशभाव अधिक है, रजोगुण की क्रिया (चञ्चलता) कम है, वही सुख है। और जब तमोगूण की क्रिया प्रबल होती है, प्रकाश भाव बिलकुल नहीं रहता, सुख दुःख कुछ भी बोध नहीं रहता, उसका नाम मोह है।

सत्व गुण की चरम परिणति—अखण्ड प्रकाश अर्थात् केवल आत्म-बोध का फुरना जिसे विशुद्ध आत्म-बोध कहते है। उस अवस्था में पहुंचने पर ही रजोगुण का भी चरम परिणाम होता है। इसी का नाम पर वैराग्य अर्थात् 'मैं कौन हूँ" उसे जानने के लिये उद्यम करने का अभाव ऐसे तमोगुण की चरम परिणति निरोध अर्थात् फिर रजोगुण के जाग्रत होने का निरोध कर रखना है।

इस तरह तीन गुणो की दोनों दिशा पाई गई। एक दिशा में सृष्टि, स्थिति, प्रलय—जीव जगत् जन्म-मृत्यु, सुख दुःख इत्यादि।

और दूसरी ओर अखण्ड प्रकाश पर वैराग्य और निरोध। बात और भी सरल रूप में कहते हैं—एक तरफ भोग, दूसरी तरफ अपवर्ग वा मुक्ति। तीन गुणों के भोगाभिमुखी गति का नाम असुर भाव और अपवर्गाभिमुखी गति का नाम देवभाव है। यह देवासुर संग्राम अनादि काल से प्रति जीव में संघटित होता है। जिस दिन इस संग्राम की समाप्ति होगी उसी दिन जीव तीन गुणों के पार चला जायेगा, (गुणातीत हो जायगा) भोग वा अपवर्ग, बन्धन अथवा मुक्ति यह दोनों भ्रम सदा के लिये दुर हो जायेंगे।

इस मध्यम चरित्र में हमें जिन असुरों के नाम मिलेंगे, यहां उनका सक्षिप्त आभास दिये देते है। महिषासुर—असुरों का राजा, एवं चिक्षुर, चामर, उदग्र, कराल, उद्धत, बास्कल, ताम्र अन्धक, उग्रास्य, उग्रवीर्य, महाहनु, विड़ाल, दुर्द्धर, दुर्मुख, और असिलोमा इन सोलह असुरों के नाम पाये जायेंगे। वे यथाक्रम से रजोगुण, विक्षेप, आवरण, दर्प, भय, दम्भ, भोगाभिलाष, लोभ, मोह, क्रोध, शारीरिक बल, अभिमान, दोषदृष्टि, अक्षमा, निष्ठुरता और द्वेष नाम से व्याख्यात होंगे। यथास्थान पर इन विषयों की विस्तृत आलोचना की जायगी।

अब हम असल प्रस्ताव की ओर चलते हैं महिष और पुरन्दर की व्याख्या पहिले कर चुके हैं। जब एक तरफ महिष दुसरी तरफ पुरन्दर, क्रम से असुर और देवों के अधिपति होकर एक दुसरे की शक्ति क्षय करने को तैयार हुए हों, तब ही यह देवासुर संग्राम संघटित होता है। यद्यपि प्रत्येक जीव–देह में सदा यह समर अभिनय चलता रहता है, एक ओर भोग की वासना दुसरी ओर अपवर्ग का आकर्षण इन दोनों का आपस में संघर्ष प्रति परिमाणु में प्रतिक्षण होता है, तथापि जीव जब तक मनुष्यत्व पर न पहुँचे, जब तक विज्ञानमय कोष में आत्मबोध संग्रह न कर सके, तब तक इसे प्रत्यक्ष (अनुभव) नहीं कर सकता। अनेक जन्म

संचित सुकर्मों के फल से माँ की असीम करुणा के बल से, श्रीगुरु की अहैतुक प्रेरणा से, जब साधक हृदय में यह संग्राम अनुभूत होने लगे, तब ही समझना चाहिये कि उसका जन्म धन्य हुआ, अब शीघ्र ही यह संग्राम समाप्त होगा। साधक! देखो, एक तरफ तुम्हारे संचित-संस्कार आसुरी-शक्ति चला कर तुम्हें हराना चाहते हैं, तुम्हारी माँ की गोद मिलने की प्राणाकुल पिपासा को दमित कर रखते हैं। समझ सकते हो—अभय, सत्वसंशुद्धि, ज्ञान-योग आदि देवशक्तियां जो तुम्हारे मातृ-अङ्क पाने में पूर्ण सहाय हैं, जो तुमको शान्ति के—अमृत के हिरण्मय मन्दिर पर पहुँचाने में अद्वितीय सहचर हैं, वे देवशक्तियां इस समय दम्भ, दर्प, अभिमान आदि असुरों द्वारा निरन्तर लांछित पीड़ित हैं। देख कर व्यथित हो, आर्त हो—शरणागत हो, और भूमि-तल पर लोटते हुए कातर स्वर से 'मा' को याद करो। महा-शक्ति के समीप सजल-नयन से शक्ति भिक्षा मांगो। सरल प्राण से अपने को यथार्थ पीड़ित होना अनुभव करो। देखोगे—'माँ' स्वयं समराङ्गण में अवतीर्ण होकर, असुरकुल का विलय, देवकुल को आनन्द और तुमको मधुमय अव्यय मातृ-अङ्क में स्थान देकर धन्य करेंगी। आओ हम 'माँ' कहते हुए सरल प्राण शिशु की तरह मा के चरणों में आत्मनिवेदन कर निश्चिन्त और निष्कर्मा हों।

अस्तु, यह देवासुर संग्राम पूरे सौ (१००) वर्ष हुआ था—"पूर्णमिव्द शतम्"। मनुष्य की आयु का परिमाण सौ वर्ष – "शतं वे पुरुषाणामायुः" सत्ययुग में लाख वर्ष आयु होने की जो कहा-वत प्रचलित है, इसका तात्पर्य दुसरी तरह है। सब युगों में मनुष्य की साधारण आयु का परिमाण सौ वर्ष ही है। परन्तु योगादि शक्ति के प्रभाव से कोई उसकी मात्रा कुछ बढ़ा सकते हैं। हमारे ज्योतिष शास्त्र में जो अष्टोत्तरी और विंशोत्तरी मत से ग्रहों की दशा गिनने की रीति प्रचलित है, यह भी कुछ अधिक सौ वर्ष आयु

के प्रमाणरूप से ग्रहण की गई है। इन दोनों मतों से मनुष्य की आयु का परिमाण १०८ और १२० वर्ष मात्र पाया गया। अस्तु, देखते हैं कि सौ वर्ष बाद भी कई मनुष्य जीवित रहे हैं। इससे श्रुति की मर्यादा नष्ट नहीं होती। तात्कालिक मास वर्ष आदि गणना के साथ विवाद करने की कुछ आवश्यकता नहीं।

पूर्ण सौ वर्ष शब्द का तात्पर्य—एक पूर्ण मनुष्य जीवन अर्थात पूर्ण एक जीवन तक यह देवासुर संग्राम अनुभुत होता है। 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान मॉं प्रपद्यते।' (गीता ७। १९) अनेक जन्मों के बाद मनुष्य ज्ञानवान होता है। इसके बाद मुझको अपने को 'मॉं को' जान सकता है। थोड़ा थोड़ा कर 'मा को' जानना आरम्भ करने पर तब इस समर का पता मिलता है। पूर्ण एक मनुष्य जन्मव्यापी देवासुर संग्राम अनुभव करने के लिये अनेक जन्म-मृत्यु व्यतीत करने पड़ते हैं; क्योंकि साधारणतः हमारी वर्तमान आयु का परिमाण साठ वर्ष मात्र है। उसमें प्रायः तीस वर्ष आहार, निद्रा आदि प्रति दिन के कार्यों में व्यतीत होते हैं। शेष तीस वर्ष बालकपन बुढ़ापा और शोकादि अवस्था का समय बाद देने से जो शेष रहता है वह अति सामान्य मात्र है। वह समय भी द्रव्योपार्जन विषय-चिन्तन आदि कार्यों में बीतता है अतएव एक जीवन में कितनी घड़ी हम देवासुर संग्राम अनुभव कर सकते हैं ?

हमारा वर्तमान जीवन यथार्थ जीवन कहने योग्य नहीं है, क्योंकि जीवन कहने से गति शक्ति वाला जीवन ही समझा जाता है। मानलो कि एक रेलगाड़ी के इन्जिन में प्रतिदिन कोयला, जल और अग्नि के संयोग से भाप पैदा होती है, किन्तु रेलगाड़ी वहां से आगे नहीं चल सकी। इन्जिन जहां बनाया था वहां का वहीं खड़ा हुआ साठ वर्ष तक केवल कोयला जल और भाप खर्च करता रहा। क्या ठीक उसी तरह हमारा एक-एक जीवन वृथा व्यय

नहीं होता ? प्रतिदिन हम खाते पीते देह को ठीक रखते हैं, उद्देश्य है आगे बढ़ना–देवासुर संग्राम अनुभव करना उद्देश्य है असुर निधन कारिणी मा की चण्डमुर्ति दर्शन किन्तु क्या वह होता है ? "यत्रैव जायते तत्रैव म्रियते" इस तरह एक ही जीवन क्यों, सौ जीवन व्यतीत होने पर भी शायद पूर्न एक मनुष्य जीवन व्यापि देवासुर संग्राम दर्शन न हो।

यदि कहो कि अपने हृदय-क्षेत्र में ऐसा युद्ध देखने की हमें आवश्यकता हीं क्या है ? अपनी इच्छा से नहर खोद कर नदी में से अपने घर में मगर बुलाने की कुछ जरूरत नहीं; साध करके क्यों अशान्ति भोगने जायें ? यह साधन समर उन लोगों के लिये नहींहै, बल्कि जो सुरथ हुये है, जिन्होंने आत्म राज्य से अपने को विच्युत यह समझा है, केवल वे ही यह संग्राम देखकर परम आनन्द पाते हैं।

अस्तु, देवासुर संग्राम अनेक वर्ष तक होने से इस मन्त्र में बहु-काल के अर्थ में " शतवर्ष " शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा अर्थ भी हो सकता है, और पूर्व-पूर्व जन्म से ही जो इस युद्ध का आरम्भ है, यह समझाने ही के लिये पुरा शब्द का प्रयोग हुआ है। साधक याद रखें की आज जो चन्डी की आध्यात्मिक व्याख्या समझने व आलोचना करने योग्य धीवृत्ति प्रकासित हुई है यह दो एक जन्म की सुकृति का फल नहीं है। अनेक जन्म की सुकृति संग्रह करने पर तब "मा की कृपा" नामक वस्तु अनुभव की जा सकती है, और उसी के फल से क्रम से ये तत्व हृदयंगम करने की योग्यता आती है। परन्तु एक बात है—यदि कोई अपने भीतर अहर्निश ऐसा देवासुर संग्राम अनुभव करता रहे तो अवश्य ही वह धन्य हुआ है, उसका जीवन पुण्यमय है, उसके दर्शन से सुकृति मिलती है। उसका आशीर्वाद अमोघ है, वह पृथ्वी का अलंकार है, उसकी देह स्पर्श से वायुमण्डल शुद्ध होता है, उसके चरण स्पर्श से वसुन्धरा

पवित्र होती है। जीव ! क्या तुम अपने हृदय क्षेत्र में ऐसा युद्ध कभी देख पाते हो ? यदि नहीं देख सकते हो गुरु रुपी 'मा' के चरण जकड़ कर पकड़ों, मा ही तुम्हरा ज्ञान चक्षू खोल देंगी, तब देख पाओगे की तुम्हारा हृदय-क्षेत्र भीषण समर-क्षेत्र बन गया है ॥ १॥

तत्रासुरैर्महावीर्य्यैर्देवसैन्यं पराजितम् ।

जित्वा च सकलान्देवानिन्द्रोऽभून्महिषासुरः ॥ २ ॥

अनुवाद—उस युद्ध में महावीर्य्य असुरों द्वारा देवों की सेना पराजित हुई और देवताओं को पराभूत कर महिषासुर इन्द्र हुआ था।

व्यख्याअसु—रबल-अमीतवीर्य है। अनेक जन्म से बहिर्मुख कर्म करने के अभ्यास से ऐसी एक अवस्था हो गई है कि हमारा चित्त सदा रुप-रसादि विषयों का वृत्तिप्रवाह लेकर रहने में ही अपना भला समझता है। किसी तरह अन्तर्मुखी-मातृमुखी नही होना चाहता। उस स्थिर चिन्मय उदार क्षेत्र में क्षणभर भी नहीं ठहरना चाहता। यही असुर के असीम बलवीर्य का लक्षण है। दूसरी ओर देवों की सेना की भगवन्मुखी वृत्तियां, ये अति दुर्बल हैं, क्योंकि बहुत अल्प दिन से उनका आविर्भाव हुआ है। सद्भाव समूह अब भी पुष्ट नहीं हो सके हैं। इस दशा में प्रथमतः असुरों द्वारा देवशक्ति को निर्जित होना ही होगा।

मान लो कि एक ईस्पात का स्प्रिंग घुमाकर संकोच भाव में कर दिया, तो भी स्वाभाविक स्थिति स्थापकता–शक्ति के प्रभाव से, वह हर घड़ी प्रसार की ओर ही वेग देता है। किन्तु एक बड़े पत्थर के नीचे यदि उसे दबा कर रक्खा जाय तो उस ईस्पात की जो स्वाभाविक प्रसारिणी शक्ति है, वह हर घड़ी गतियुक्त होकर भी निरुद्धवत अवस्था में ही रहती है। असुरों द्वारा देवताओं का निग्रह भी कुछ ऐसा ही है।

साधक ! अपनी चक्षू को तुमने 'रुप देहि' कह कर जगतमय जो मा की ही रुप राशि प्रकट हो रही है ऐसा देखने में लगाया प्राणपण से अपनी देखने की शक्ति को मा के रुप में निरुद्ध करने का प्रयास किया, किन्तु चक्षु जगत का रुप लेकर तुम्हारे सम्मुख हुए। इसी तरह कानों को शब्दों के अन्यर्निहित नित्यनाद प्रणव-ध्वनि अथवा अपने उच्चारण किये किसी बिशेष मन्त्रादि के सुनने में लगा न तो वे क्षणभर में जगत् के व्यर्थ शब्द लेकर तुम्हारे पास आत हैं। मन को एकाग्र कर सच्चिदानन्द स्वरुप परमात्मा में मिला लेने को अग्रसर हुए, किन्तु क्षण भर में वह पूर्व स्वभाव को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के वैषयिक संकल्प विकल्प करने लगा। इस तरह देवासुर संग्राम होने लगा। जो यथार्थ बड़भागी हैं जो अमृत के निकट पहुंच चुके हैं, केवल वे ही इस युद्ध को अनुभव कर सकते हैं।

अस्तु-इस युद्ध में पहले देवता पराजित हुए (अन्तर्मुखी आकर्षण शक्ति की हार हुई)। यद्यपि अन्तर ही अन्तर कुछ मातृमुखी आकर्षण सदा ही रहता है; तथापि विकर्षण अर्थात् अनुलाभ गति का प्रभाव जब तक अधिक रहता है, तब तक यह युद्ध अनुभव होता ही नहीं। फिर जब मा की कृपा से धीरे धीरे आकर्षण शक्ति कुछ प्रबल होती जाती है, तब ही विरोधी दल के साथ संघर्ष होने लगता है। इस संघर्ष का प्रथम फल पराजय होता है। पराजित होने का कारण पूर्व ही कह चुके हैं।

जब देवगण हार गये तब महिष (रजोगुण के बाहिरी बिकाश) ने इन्द्रपद पाया। महिष अब तक केवल असुरशक्ति का ही चलाने वाला था, परन्तु अब देव शक्ति भी उसी के अधीन हो गई।

धीर भाव से समझ ने की चेष्टा कीजिये, रजोगुण की अन्तर्मुखी चरम परिणति का फल पर-वैराग्य है। वशीकार नामक वैराग्य के बाद प्रत्यगात्मा का प्रकाश होने पर गुणों

में अनासक्ति होने पर (श्रेष्ठ) वैराग्य होता है (यो० द १। १६ गीता २। ५६) सब शक्तियों के प्रवाह को पूर्ण रुप से संग्रह न करना ही रजोगुण की अन्तर्मुखी किया है। इसी का नाम पुरन्दर (पुर को बिदारण करने वाला) है यह जब देव-शक्ति का अधिपति रहता है, तब वहिर्मुखी वृत्ति प्रवाह का पूरी तरह से संहरण कार्य चलता रहता है और इसी के फल से पर-वैराग्य समागत होता है। किन्तु अब महिष ने देवलोक का आधिपत्य पाप्त किया है। बाहिरी बिषयों की ओर क्रिया शीलता ही उसका स्वभाव है. अतएव देव-शक्तियों को भी वह वहिर्मुख कर डालेगा। दया, क्षमा, उदारता, निस्पृहता आदि देव-भाव असुरों द्वारा दवे रहने पर, पर-वैराग्य की आशा नहीं है। कार्य्यतः सब कर्मों के बीज नष्ट हुए विना और किसी तरह पर वैराग्य उपस्थित हो ही नहीं सकता।

खुलासा यह है कि रजोगुण के एक तरफ पर-वैराग्य और दूसरी तरफ भोगाशक्ति है, वे ही क्रम से पुरन्दर और महिषासुर हैं। पर-वैराग्य का स्वरूप सर्वस्व त्याग, देह, मन, इन्द्रिय तक परित्याग है और भोगशक्ति का स्वरुप सर्बस्व ग्रहण है। पुरन्दर चाहता है मोक्ष, महिष चाहता है भोग, जब तक मोक्ष वासना प्रबल न होगी, तब तक महिष द्वारा पुरन्दर की हार ही होती रहेगी और महिष इन्द्रत्व प्राप्त करेगा ही।

ततः पराजिता देवाः पद्मयोनिं प्रजापतिम्।
पुरस्कृत्य गतास्तत्र यत्रेश गरुड़ध्वजौ ॥३॥

अनुवाद—अनन्तर हारे हुए देवगण पदमयोनि प्रजापति को आगे कर ज[illegible] शिव और विष्णु थे वहां गये।

व्याख्या[illegible] पदम्योनिब्रह्मा—ये सब भावों के अधिपति हैं इसी से ये [illegible]पति कहे जाते हैं। भाव और प्रजापति एक ही बात है, य[illegible]खण्ड में कहा है और उवनिषद में कहा है—

"उभये प्राजापत्या:" अर्थात् सुर और असुर दोनों ही प्रजापति से उत्पन्न हैं। देवशक्ति और असुर-शक्ति दोनों हीं मन के भाव हैं, मन के जिस अंश पर असुरों का अधिकार बढ़ जाता है; वहअंश प्रजापति होने पर भी पद्मयोनी नहीं होता। नाभि वा मणिपुर कमल से नीचे की ओर असुरों का क्षेत्र है और इसके ऊपर देव-क्षेत्र है। नाभि कमल से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति है, मन का जो अंश परमात्माभिमुखी हुआ है, जिस अंश में यथार्थ मातृ लाभ की वासना उदित होने लगी है, वही पद्मयोनि है। उसको अग्रवर्ती करके देवता अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वृन्द विष्णु और शिवके निकट पहुँचे। विष्णु—प्राणशक्ति, शिव—ज्ञानशक्ति। विष्णुका स्थान हृदय कमल वा अनाहत, और शिवका स्थान ललाट वा आज्ञाचक्र है। अतएव हारे हुए देवता पद्मयोनि को लेकर शिव और विष्णु के समीप पहुँचे। इसके कहने का तात्पर्य्य यह है कि परमात्माभिमुखी इन्द्रियशक्ति वाला मन, आसुरी भावों द्वारा पीड़ित होकर प्राण और ज्ञान के समीप पहुँचा।

साधक अनुभव कर सकते हैं कि पूर्ण मन से न तो मा को चाहा जा सकता है और न पूर्ण मन से जगद्-भोग ही हो सकते हैं। मनके एक सिरे पर जैसे मातृ दर्शन लालसा, मातृ महत्व सुनने की आकुलता होती है, ठीक उसी तरह दूसरे सिरे पर स्त्री-पुत्रादि बिषय-वासना का विलास चलता रहता है। मनके एक ओर देवराज पुरन्दर का कर्तृत्व देखते हैं और दुसरी ओर असुरराज महिष का आधिपत्य (पीड़ा देना) देखते है। इस पीड़ा देनेके फल से प्रथम देव शक्तियां हार जाती है। प्राण और ज्ञान-शक्ति पूर्ण भाव से मातृमुखी हुए विना मन को पूर्ण बल प्राप्त हो नही सकता, इस कारण मन को विवश होकर उनकी शरण लेनी पड़ती है। इससे पहले जिस प्राण ने जाग्रत होकर मधुकैटभ का बध किया है, जो विज्ञानमय गुरु मेधस रूप से अपना प्रकाश करके धीरे-धीरे अज्ञान दूर कर देते है, उनको शरण लेने से-ऊनके चरणों में पूर्ण भाव से आत्म

निवेदन कर सकने से यह असुर का आत्याचार निश्चय दूर हो जायगा, यही प्रजापति की आशा है।

मन किस तरह प्राण और ज्ञान के शरनापन्न होगा ? प्राण और ज्ञान-शक्ति की सत्ता विना मन की कोई पृथक् सत्ता नहीं है, मन पूर्णभाव से उन्हीं की सत्ता से सत्तावान है ऐसा अनुभव-होने का नाम ही मन का शरणागत होना है। जीव जब तक अस्मिता को जोर से पकड़े रहता है, जब तक उसका अभिमान से उठा हुआ शिर किसी के आगे झुकना नहीं चाहता, तब तक यह शरणागत भाव किसी तरह आता ही नहीं। यह शरणागत भाव ही आत्म-निवेदन है। "मैं कुछ नहीं जानती, मैं असमर्थ हूं दुर्बल हूं, अज्ञान शिशु हूँ"; ऐसा समझ कर तृण-गुच्छ की तरह विज्ञानमय गुरु के चरणों में अर्पण करने को आत्मनिवेदन कहते हैं। जो दीर्घकाल तक कठोर साधना करके भी अमृत का पता न पाये समझ लेना चाहिये की उनकी साधना अभी आत्मनिवेदन रूप भित्ति पर प्रतिष्ठित नहीं है। आत्मनिवेदन बिना साधना का आरम्भ ही नहीं होता। आत्मदान बिना आत्म-प्राप्ति कभी हो नहीं सकती ! हे मातृ सन्तानवृन्द ! तुम चाहे किसी जगह अपने को छोड़ दो—प्रणिपात करो; तो देखोगे कि आत्मलाभ हुआ है। प्राण दिये बिना प्राण नहीं पाया जाता, यह बात सदा याद रक्खो। क्या जड़ क्या चेतन, क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी इसका विचार किये बिना चाहे किसी भी जगह में प्राण को ढाल दो, और देखो कि—महाप्राणमयी स्नेहमयी मा के वक्ष पर तुम नित्य अवस्थित हो।

अस्तु, शरणागत भाव ही सब साधनाओं का एकमात्र उद्देश्य वा आधार है, यही सब शास्त्रों का अन्तिम सिद्धान्त है। इसीसे देखते हैं कि स्वयं प्रजापति भी ईश और गरुड़ध्वज के शरणागत हुए। स्वयं भगवान् ने भी एक दिन आदर्श-भक्त अर्जुन से कहा था—"मामेकं शरणं व्रज।" (गी० १८।६६)

यथावृत्तं तयोस्तद्वन्महिषासुर चेष्टितम् ।
त्रिदशाः कथयामासुर्देवाभिभवविस्तरम् ॥४॥

अनुवाद। देवताओं ने शिव और विष्णु के समीप जाकर महिषासुर का कार्य-कलाप और देवताओं की पराजय का सारा हाल वर्णन किया।

व्याख्या। असुरों के अत्याचार से पीड़ित मनने, प्राण और ज्ञान शक्तिके शरणमें जाकर बहिर्मुखी प्रवृति की अत्याचार कहानी और निवृतिमुखी वृतियोंकी दुर्दशा का पूरा-पूरा समाचार कह सुनाया; अर्थात् मन की सहायता से ही प्राण और ज्ञान को विक्षेप शक्ति का सब कार्य विवरण मालूम हुआ। प्राण भोक्ता है और ज्ञान प्रकाशक है। मन इन्द्रियों की सहायता से विषय संग्रह करके प्राण को उपहार देता है प्राण उसे ज्ञान के प्रकाश से देख भाल कर भोग करता है। मन के द्वारा लाये हुए विषयों का प्रकाश करना ही ज्ञान का कार्य है। और उस प्रकाशित विषय के संस्पर्श से सुख दुःख भोग करना प्राण का कार्य्य है, यानी मन आहर्ता वा स्त्रष्टा है और प्राण कर्ता वा भोक्ता है ऐवं ज्ञान प्रकाशक वा लयकारक है।

हम यहाँ जिस ज्ञान की बात कह रहे हैं वह बौद्ध ज्ञान है, वह बुद्धि है। इन्द्रियों की सहायता से जो विषय का प्रकाश हो वह बुद्धितत्त्व में ही लय होता है। बुद्धि के पार विषयों का प्रकाश नहीं है। इसी से बुद्धि या बौद्ध ज्ञान को प्रलय का देवता कहा है।

मन ने असुर की अत्याचार कहानी प्राण और ज्ञान से वर्णन की। अब तक उसे अत्याचार रूपसे वर्णन नहीं किया था, जो कुछ आया, चाहे जैसी वृत्ति उदय हुई वही बुद्धिके प्रकाश से प्रकाशित कर प्राणके भेट कर दी। प्रजापति अब तक अपना चिर अभ्यस्त कार्य ही करते रहे थे, इसी से प्राण और ज्ञानने भी अब तक इसे असुर के अत्याचार रूपसे ग्रहण नहीं किया था, किन्तु आज स्वयं मन

ही विषयों के प्रकाश को आसुरिक अत्याचार रूप से वर्णन करता है, अतएव वह भी उसी भाव से ग्रहण करते हैं। इसके सिवाय प्राण शक्ति की भी (मधु कैटभ वध के समय में) योगनिद्रा भङ्ग हुई है, ज्ञानशक्ति ने भी विज्ञानमय गुरु रूप से आत्मप्रकाश किया है, अतएव अब तक उन वैषयिक स्पन्दनों को अत्याचार रूप से ग्रहण न करने पर भी अब अच्छी तरह समझ सके हैं कि यह असुर के अत्याचार के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

खुलासा यह है कि जब तक रूप रसादि विषयों वा कामिनी काञ्चन को ही परम पुरुषार्थ रूप बोध किया जाय, तब तक मन प्राण और ज्ञान सर्वतोभाव से उन्हीं में मुग्ध रहते हैं, फिर जब धीरे धीरे प्रज्ञाचक्षु खुलते जाते हैं, तब वही मन, प्राण और ज्ञान उन्हें आसुरी स्पन्दन रूप समझ सकते हैं।

साधक ! तुम भी जब प्रवृत्ति की ताड़ना से अत्यन्त पीड़ित हो, तब इधर-उधर मत भागो। प्रवृत्तिके दमन करने को अति परिश्रम से सिद्ध होने वाले कठोर हठयोगादि को अवलम्बन करके उपाय को उद्देश्य समझकर ग्रहण न करो। बल्कि तुम भी प्रजापति की तरह हृदयानुभूत चैतन्यके प्राण के शरणागत हो, अपने अन्तरस्थित ज्ञानमय गुरु के चरणों की शरण लो, और रो कर कहो—प्राणमय गुरो: ! इस असुर की पीड़ा से बचाओ। हमने अनेक चेष्टायें कीं। परन्तु सब व्यर्थ हुई, किसी तरह से भी असुर के अत्याचार से छूट कर तुम्हें पूर्णरूप से जकड़कर पकड़ नहीं सके। किसी तरह तुमको अपना एकान्त आत्मीय समझकर ग्रहण नहीं कर सके। जब कुछ कुछ तुम्हें समझने के लिये आगे चले; तब ही असुर तुम्हारी ओर से खींचकर दूसरी ओर ले गये और फिर उसी शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध से आकर्षित हो गये। अब कब तक यह असुरों की पीड़ा सहते रहेंगे ? कब तक दैत्य की आज्ञा शिरोधार्य्य कर जीवन के दुःख-मय दिन गिनते रहेंगे ? हे गुरो ! दया करके इस सञ्चित कर्मों के

आकर्षण से रक्षा करो; प्रभो ! अब किसके चरणों का आश्रय लें, तुम ही हमारे "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानम् निधानं बीजम व्यम्" । यह कह कर रोओ, रो सकने से ही असुर का अत्याचार शान्त होगा किन्तु सावधान। रोने के लिये ही न रोना। केवल रोदन स्त्रियों की दुर्बलता मात्र है। वह सत्यप्रतिष्ठा का विरोधी है।

सूर्येन्द्राग्न्यनिलेन्दूनां यमस्य वरुणस्य च।
अन्येषां चाधिकारान् स स्वयमेवाधितिष्ठति ॥५॥

अनुवाद। सूर्य इन्द्र अग्नि वायु इन्दु यम वरुण और अन्यान्य देवताओं का अधिकार महिषासुरने अपने अधिकार में ले लिया है।

व्याख्या। इस मन्त्र में देवताओं के पराजय की बात कही गई है। सूर्य चक्षु का अधिपति देवता, इन्द्र-पाणीन्द्रिय का अधिपति अग्नि वागिन्द्रियाधिपति, वायु-अनिल–त्वगिन्द्रिय का अधिपति, इन्दु-मन का अधिपति, यम-पायुन्द्रिय का अधिपति है। इनके सिवाय अन्यान्य देवता अर्थात् सब इन्द्रियांधिपति देवताओंके जो विभिन्न अधिकार थे, उन पर महिषासुर ने स्वयं अधिकार कर लिया है।

यहां देवतातत्व के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करना आवश्यक है। ऐसा करने से यह अधिकार लेने का रहस्य सुगमता से समझ में आ जायगा ! चैतन्य में जो विशेष विशेष अवस्था है, उसी को देवता कहते हैं, अर्थात विशिष्ट चैतन्य ही देवता है। चैतन्य जब सब विशेषणों से रहित हो तब वह शुद्ध निरंजन निर्गुण आदि कहा जाता है। और जब कोई विशेष भाव सहित प्रकाशित हो तब वह देवता कहा जाता है । मान लो कि एक वृक्ष है, विशुद्ध चैतन्य के जिस अंश में मैं" वृक्ष हूं ऐसा सम्वेदन फूटा है; उस अंश का

नाम बुद्ध्याधिष्ठित चैतन्य वा देवता है। जो चैतन्य "मैं सूर्य" रूप से प्रकाशित है, वही सूर्यदेव है। जो चैतन्य "मैं बुद्धि" रूपसे प्रतिभात है वह बुद्धि का अधिपति देवता अच्युत है। जो चैतन्य सृष्टि कार्य में अस्मिता समझाता है वह ब्रह्मा है। ऐसा ही सर्वत्र समझिये। साधारणतः इन देवताओं की संख्या तीस व तेतीस कोटि है, ऐसा पुराणादि शास्त्र में वर्णित है। हमारी दश व ग्यारह इन्द्रियां (मन भी इन्द्रिय विशेष) सत्व रज और तमोगुण से गुणित होकर १०×३=३० और ११×३=३३ संख्या वाली होती हैं। अवान्तर विषय भेद से उनके असंख्य भेद होता हैं। कोटि शब्द यहां असंख्य का ही बोधक है। इस हिसाब से ३० व तेतीस कोटि कहना अयौक्तिक नहीं है। हमारी चक्षु आदि इन्द्रियोंमें जो अलग अलग चिति-शक्ति का प्रकाश अनुभव होता है अर्थात् जो चिति प्रवाह चक्षुः आदि इन्द्रियों रूपसे प्रकाश पाता है वही चक्षुरादि का अधिपति देवता है। ऐसा ही सब इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझिये। सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं की जिन विशिष्ट मूर्तियों का ध्यान वर्णित है, उक्त ध्यान को प्रतिपाद्य मूर्ति में समाधिस्थ होने से उनका जो स्वरूप और शक्ति अनुभव होती है उससे समझा जाताहै कि वे देवता हमारे अन्तर में ही मौजूद हैं। अन्तर कहनेसे जो छाती के भीतर कोई स्थान समझते हैं उन्हें ऐसा अनुभव होना कभी अवश्य सम्भव नहीं है। वास्तविक बाहरी कुछ भी नहीं है सब अन्तर ही है, किन्तु वह दूसरी बात है—

फिर दूसरी तरह से भी इस सत्य पर पहुंचा जाता है। चक्षु आदि इन्द्रियरूप से जो चित् प्रवाह प्रकाशित है। उसमें समाहित होने पर भी उक्त सूर्यादि का स्वरूप और शक्ति प्रत्यक्ष की जाती है। अतएव साधक समझ लें कि सूर्यादि देवताओं का साक्षातकार प्राप्त करने के लिये अथवा असाक्षात अवस्था में भी उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये इन्द्रिय शक्ति को प्रतीक (मूर्ति) रूप से आधार मान कर ब्रह्मभाव से उपासना करना है। केवल एक व्यष्टि इन्द्रियों को लक्ष्य

करके उसमें समाहित होने से उक्त रूप देवता का साक्षातकार व कृपा प्राप्त करना असम्भव है। उपासना का आलम्बन कितना ही छोटा क्यों न हो परन्तु उसकी ब्रह्मभाव से उपासना करनी होगी, नहीं तो उपासना आशानुसार फल नहीं देगी। यही साधना का रहस्य है। छान्दोग्यादि श्रुति वाक्य में भी इसका विशेष रूप से उपदेश है। अग्नि, वायु जल, सूर्य, अन्न, मन, प्राण, आदि एक-एक को अवलम्बन करके ब्रह्म रूप से दर्शन करना हैं। ब्रह्म कहने कोई न जानने योग्य किम्भूत किमाकार वस्तु न समझिये। जन्माद्यस्य यतः—जिससे इस जगत का जन्म, स्थिति और लय होता है, जो सबसे वृहत्तम है, वही ब्रह्म है, वही हमारे सम्मुखस्थित इस प्रतीक रूप में अवस्थित है। इस प्रतीक रूप केन्द्र से ही सारे जगत की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है। यही सब विश्व में व्याप्त हो रहा है। यही हमारे और सब भूतों को अन्तररूप से अवस्थित है। इस बोध-प्रवाह को पकड़ रखने का नाम ही प्रतीक की ब्रह्मभाव से उपासना है।

मान लीजिये कि आप इन्द्र देवता का साक्षात्कार वा कृपा प्राप्त करना चाहते हैं तो इन्द्र का जो बीज मन्त्र है (किसी शक्तिमान साधक से मन्त्र शिक्षा लेना चाहिये) उस मन्त्र की सहायता से अपनी पाणि इन्द्रिय को प्रतीक मान कर उपासना करनी होगी।

उपास्य—विषयक यथार्थ बोध को पकड़ रखने का नाम उपासना हैं। ऐसा करते करते जब पाणि इन्द्रिय तुम्हें अच्छी तरह अनुभूति योग्य हो तव उस अनुभूति को ब्रह्म रूप में अर्थात ब्रह्माण्ड व्यापी जो विराट पाणि वा आदान (ग्रहण) शक्ति है उस शक्ति रूप से धारणा करते रहो। क्रम से यह धारणा घनीभूत होने से ध्यान और समाधि आकर उपस्थित होगी। इस दशा में इन्द्र देवता सम्बन्ध में आपके जैसे संस्कार होंगे, वैसा ही मूर्त्ति प्रत्यक्ष होगी। अथवा किसी विशिष्ट मूर्ति के संस्कार न रहने पर भी आपको यथार्थ इन्द्र देवता का दर्शन होगा। तुम समाधि से

जागते ही देखोगे कि इन्द्र देवता के द्वारा अपना अभिलाषित वर पाकर धन्य हुए हो। देवता साधन के सम्बन्ध में यही संक्षिप्त रहस्य है।

परन्तु बात यह है कि साधारण भाव से इन विशिष्ट देवताओं की उपासना न करके, जो महती शक्ति इस परिदृश्यमान जीवजगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय रूप से प्रत्यक्ष होती है उस "जन्माद्यस्य-यतः" की उपासना करने से सब ही देवताओं की तृप्ति वा कृपा प्राप्त होती है। जिस तरह उत्तमाङ्ग (शिर) स्निग्ध (चिकना-शीतल) रहने से सब अङ्ग स्निग्ध रहते हैं' यह भी ठीक उसी प्रकार है। इसी से मन्त्र वाक्य में कहा है "तस्मिं स्तुष्टे जगत् तुष्टं, प्रीणिते प्रीणितं जगत्।" "उस परमात्मा (मा) की तुष्टि होने से सारा ब्रह्माण्ड ही परितुष्ठ होता है। मा की तृप्ति होने से सब लोक परितृप्त होते हैं। क्योंकि सब ही तो 'मा' है मा को छोड़ कहीं भी कुछ नहीं है। विशेष भाव से इस उसकी तृप्ति करने की चेष्टा न कर मा को तृप्त करने को तैय्यार होंगे तो सब की तृप्ति अपने आप हो जायगी।

कोई यह आपत्ति न करे—नित्यतृप्ता की फिर तृप्ति क्या? क्या वह खुशामद पसन्द है? क्या वह हमारे स्तुति वाक्यों से सन्तुष्ट होकर, तोषामोद प्रिय धनी की तरह हमको अभीष्ट वस्तु प्रदान करेगी! साधन समर प्रथम खण्ड पढ़ कर भी जिन के प्राण में ऐसा तर्क पैदा हो उन्हें प्रथम खण्ड फिर पढ़ना चाहिये। जब तक आप अच्छी तरह अनुभव न कर सको कि वह नित्यतृप्ता—नित्यसन्तुष्टा है। तब तक आप केवल मुख से ही कहेंगे कि—उनकी तृप्ति अतृप्ति क्या? जब देखो कि विपद में पड़ने पर भी उनकी तृप्ति की आकाँक्षा मन में होती है, जब तक तुम दिन रात प्रत्येक कर्म द्वारा उनकी तृप्ति करने में ही लगे रहो, यही तुम्हारा मनुष्यत्त्व है और इस तरह सदा उनकी तृप्ति करना ही तुम्हारे जीवन का व्रत हो। ऐसा करने पर समझ सकोगे कि—कार्य्यतः तुम ही परि-

तृप्ति पाते हो, क्यों कि वह तुम्हारी आत्मा है।

हम बहुत दूर चले आये, चलो फिर असल विषय की ओर चलें, महिषासुर ने सूर्य्यादि देवताओं का अधिकार छीन लिया है, यही मन्त्र का स्थूल मर्म है। इन्द्रियाधिपति देवता अपना चित्भाव परमात्मा-संयोगभाव भूल कर स्थूलाभिमानी जड़त्व प्रिय होगये हैं—जड़ शक्ति रुप में बिम्बित होते है ऐन्द्रियिक प्रकाश समूह परमात्मा की ओर की गति त्याग कर विषयों की ओर आकृष्ट हुए हैं। यह किस का प्रभाव है? उसी महिषासुर— रजोगुण का है।

मानलो कि—एक अखण्ड-चित् समुद्र में कुछ लाल रंग डाल दिया। उससे समुद्र का जितना अंश रंगित हो गया, वह अंश जब तक अपने को चित् समुद्र से पृथक् नहीं समझता, तब तक उसका देव भाव अखण्ड रहता है, किन्तु जब अपने को लाल रंग से रंगा हुआ देख कर अपने असल स्वरुप की बात भूल जाता है त्योंही वह अपने अधिकार से विच्युत हो जाता है। उस स्वाधिकार से विच्युत होने का कारण— तादृश संस्कार वैसे संस्कारों असुर हैं और इन संस्कारों को चलाने वाला रजोगुण ही राजा है। इसी से यहाँ देखते हैं कि महिष ने देवताओं को अपने-अपने अधिकार से हटा कर स्वयं अधिकार कर लिया है, अर्थात् इन्द्रियों ने अपना-अपना चिद्-भाव त्याग कर जड़-भाव धारण किया है।

साधक! तुम भी देखो कि तुम्हारी चक्षुः आदि इन्द्रियाँ साधारणतः जड़त्वप्रिय-जड़वस्तु में आकृष्ट, जड़भाव से ही परिचालित होती हैं। यही महिषासुर का अत्याचार है। देखो, अपनी आंखों को हजार बार समझा दिया कि— सब रूप केवल मा के ही रुप हैं, किन्तु चक्षु सर्वदा भौतिक रुप ही ग्रहण करते हैं। कानों से कह दिया कि सब शब्द मातृ-कण्ठस्वर, मातृ-आह्वान वा प्रणव की तरङ्ग मात्र हैं, किन्तु कान दिन रात मानव की भाषा ही आहरण करते हैं। त्वचा से कह दिया कि—जगत् में जितने प्रकार के

स्पर्श हैं वे मातृ आलिङ्गन के सिवाय और कुछ भी नहीं हैं, किन्तु वह सदा जगत् के स्पर्श ला कर उपस्थित करती है। ऐसा ही सब विषयों में समझिये। क्या आप समझ सके हैं,-क्यों ऐसा होता है? वह महिषासुर का अधिकार है, वह जड़त्व का, वह कर्म्म की चञ्चलता का अधिकार है। इसी से वह इस तरह तुम्हें धोखा देते हैं। हाय! यदि इन पर यह आसुरिक अत्याचार न होता, यदि जड़त्व का अधिकार न रहता तो ये इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग ही अखण्ड चैतन्य का पता लाकर देते, सर्वत्र मातृ-स्नेह का सम्वेदन ही प्रगट करते, जड़त्व का भ्रम सदा के लिये दूर हो जाता।

मनुष्य जब मा की कृपा से धीरे-धीरे आत्मबोध के समीप पहुंचता जाता है तब ही कुछ-कुछ यह अत्याचार अनुभव होने लगता है। क्षण-क्षण में चैतन्यमय भाव उदित होता है और फिर क्षण-क्षण में आसुरिक वा जड़ भाव से आच्छन्न हो जाता है। इस दशा में इन्द्रियों का उभय मुखी भाव लक्षित होता है। एक तरफ चैतन्य प्रिय और दूसरी ओर जड़त्व पर मोह। यह जड़ चेतन का युद्ध वी देवासुर संग्राम है। साधारणतः मनुष्य कुल में आने के पूर्व तक जीव को यह संग्राम अनुभव होता ही नहीं। तब इन्द्रियाधिपति देवतायों भी बिलकुल जड़भाव वाले रहते हैं। फिर जीव जब मनुष्य-क्षेत्र पर उपस्थित होता है तब धीरे-धीरे उसका यह जड़भाव दूर होता रहता है। साधक याद रक्खें, जड़ के द्वारा चैतन्य का पीड़ित होना यह ही देवासुर संग्राम का असल रहस्य है। किन्तु वास्तव में जड़ कहने का कुछ भी नहीं है। केवल जड़त्व-प्रतीति मात्र है। इस जड़त्व बोध का नाम ही बन्धन है, यही असुरभाव है। और चैतन्य मात्र अनुभव का नाम मुक्ति है। वही देवभाव है। शास्त्रकारों ने जड़ और चेतन का यह अर्थ किया है कि जो अपने आप को जाने और दूसरे को भी जान सके उसका नाम चेतन है, और जो अपने आपको न जाने और दूसरों को भी न जान सके उसका नाम जड़ है। इस

हिसाब से तीन गुण वा बुद्धि मन इन्द्रिय पर्यन्त सब दृश्य वर्ग का नाम जड़ है और जो इस सब दृश्य का द्रष्टा वा प्रकाशक है वही चेतन है। ये सब तत्त्व क्रम से और भी स्पष्ट होंगे।

अस्तु, साधक! तुम में जब तक बिन्दुमात्र भी जड़त्व की प्रतीति रहे तबतक समझो कि तुम्हारे ऊपर असुर का अत्याचार चलता है। अतएव किसी न किसी उपाय से उसे दूर करना ही होगा। जड़त्व ज्ञान ही अज्ञान है। जड़ और दृश्य कहने को न कभी कुछ था, न है, न कभी रह सकेगा, ऐसा अनुभव होने से ही यथार्थ ज्ञानमय स्वरूप का सन्धान मिलता है और अज्ञान की निवृत्ति होती है।

स्वर्गान्निराकृताः सर्वे तेन देवगणा भुवि।
विचरन्ति यथा मर्त्या महिषेण दुरात्मना ॥६॥

अनुवाद। उस दुष्ट स्वभाव महिषासुर द्वारा स्वर्ग से निकाल देने पर देवतायों मरण-धर्मशील जीवों की तरह भूतल पर विचरने लगे।

व्याख्या। महिषासुर दुरात्मा—असत् प्रकृति है। प्रथम खण्ड में कहा है—सत्‌स्वरूप परमात्मा जब लीलावश अल्पभाव वाला होकर प्रकाशित होता है, तब ही वह असत कहा जाता है। जब प्रकृति इस असत् अर्थात अल्प की ओर चलती है तब ही इसे दुरात्मा कहते हैं। साधारण बोलचाल में ऐसा समझिये कि—परिच्छिन्न रूप रसादि भोग करना ही जब आत्मा का स्वरूप समझ पड़े तब ही आत्मा की दुर्दशा है, पहले किये हुए कर्मों के बीजों आत्मा को ऐसे परिच्छिन्न भाव में वा असत् भाव में प्रगट करने के लिये निरन्तर उन्मुख हो रहे हैं। रजोगुण उनका मूल केन्द्र है, अतएव दुरात्मा है। इसके अत्याचार से देवतायों इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग स्वर्ग से - चैतन्यक्षेत्र से विताड़ित हैं। वे जड़त्व के अधिकार में आ

अधिष्ठानपन चैतन्य रूप मा की गोद में नित्य अवस्थान रुप स्वर्ग सुख से भगा दिये हैं, अमर होकर भी मर्त्य की भाँति मरणधर्म-शील जीवकी तरह, भूतल पर अर्थात् पार्थिवभाव में विचरने को वाध्य हुए हैं ।

देखो जीव । चैतन्य ही तुम्हारा स्वरुप है । तुम्हारी इन्द्रियां चैतन्य का ही प्रवाह मात्र है, जहां चैतन्य है वहीं अमृत है वहां ही आनन्द नित्य विराजमान् है । किन्तु तुम असुर द्वारा ऐसे सर्वस्व खो बैठे हो कि प्राणों की बाजी लगा कर ढुढ़ने पर भी आनन्द का एक कणा मात्र भोग नहीं कर सकते । अमृत समुद्रमें—मातृ वक्ष पर नित्य अवस्थान करते हो, तो भी प्रति श्वास प्रश्वास में मृत्यु से मृत्यु की ओर चलते जाते हो; तुम्हारी यह दुर्दशा एक दो दिन से नहीं बल्कि अनेक युग युगान्तर से चली आती है । यही है "विचरन्ति यथामर्त्या महिषेण दुरात्मना ।" जीव धीरे साबधानी से यह असुर का अत्याचार प्रत्यक्ष करो ।

इस जगत में जो पार्थिव सुख से अपने को सुखी समझते हैं वे भी असल सुख से बिलकुल वञ्चित हैं, यह कुछ धीर भाव से विचा-रने पर समझ में आ सकेगा । काम काञ्चन के सम्भोग में जो सुख वह इतना चंचल और इतना दुःख से मिला हुआ है कि उसे सुख न कहना ही अच्छा है । तो भी जो उसी में परम सुख जान कर मोहित रहते हैं वह उनके पक्ष में ऊंट के कांटे चबाने के समान है । ऊंट कटीले पेड़ों (किकर छेंकुर आदि) को खाना पसन्द करता है कांटे खाता है, कुछ तृप्ति भी होती है किन्तु मुख और जीभ कांटों से घायल हो जाती है । रक्त गिरता है, पीड़ा भी होती है । पार्थिव सुख भी ठीक इसी प्रकार है । बार बार याद कीजिये कि जड़ वस्तु में सुख नहीं है । सुख वस्तु चित् का ही स्वरूप है । जब तक जड़त्व बोध सम्पूर्ण दूर न हो । तब तक सुख का पता मिलता ही नहीं । उपनिषद् कहता है—"यो वै भूमा तत्सु-

खम् नाल्पे सुखमस्ति।" जो भूमा है, जो महत् है, वही सुख है, अल्प में अर्थात् असद् भाव में सुख नहीं है। सुख का ही दूसरा नाम स्वर्ग है। (सु—अर्ज—घञ्) सुकृति द्वारा जो अर्जन किया जाय वही स्वर्ग है। देवता इस भूमा सुख से संयुक्त हैं। इसी से देव लोक को स्वर्ग कहते हैं। जड़त्व के प्रबल आकर्षण से देवता अब अपना अपना चैतन्यभाव जागृत नहीं कर सकते। इसी से मन्त्र में देवताओं को स्वर्ग से निकला हुआ कहा गया है।

खुलासा यह है कि देवता अर्थात् इन्द्रियाष्ठित चैतन्य, अस्मिता के विशेष-विशेष व्यूह (मोर्चे) मात्र हैं। विज्ञानमय कोष में अहंभाव को ले जाने पर इस अस्मिता का स्वरुप अनुभव होता है। वही स्वर्ग है। इन्द्रियों का वैषयिक स्पन्दन उपस्थित होने पर ही स्वर्ग से पतन होता है।

एतद्वः कथितं सर्वमअमरारिविचेष्टितम्।
शरणञ्च प्रपन्नाः स्मो बधस्तस्य विचिन्त्यताम् ॥७॥

अनुवाद। आप की सेवा में असुरों का सब कार्य्य विवरण वर्णन किया। हम आपकी शरण में आये हैं, आप उसके बध का उपाय विचारिये॥

व्याख्या। महिष—अमरारि। अमरत्व का अमृतलाभ का विरोधी है। उसकी अत्याचार कहानी—देवताओं को पीड़ा देने का विवरण सब कहा गया। देवताओं अब जड़त्व के असत् प्रियता के हाथ से छुटना चाहते हैं; इसी से विष्णु और शिव के शरणागत हुए हैं। यह शरणागत भाव ही साधना का एकमात्र आधार है जिसमें ये लक्षण प्रकाशित हुए उसको साधना का सफलता अवश्य होगी। शरणागत भाव बिना योग तपस्या आदि किसी अनुष्ठान पूर्ण फलप्रद नहीं होता। शरणागत भावरुप-भित्ति के ऊपर ही साधना का मन्दिर दृढ़ प्रतिष्ठित है। यदि कोई बहुत दिन तक अनेक प्रकार साधना करने

पर भी अशानुसार फल न पावें तो समझलें कि वे शरणागत भाव छोड़कर अथवा अपूर्ण अनुष्ठान करके साधना में प्रवृत्त हुए है। क्या जागतिक कर्म में क्या साधना राज्य में सर्व्वत्र ही भगवान के उपर निर्भरशीलता, भगवान की ही एकमात्र आश्रयरूप से ग्रहण करना ही कर्त्तव्य है, उसमें कर्म्मशक्ति वर्धित होता है।

पुनरुक्ति होने से भी यह बात बार-बार आलोचना के योग्य हैं। पुनः-पुनः आघात देने से ही लोहे का काँठी काट के अन्दर सुप्रविष्ट होता है। जिन्होंने चित्तांचल्य दुर करने के लिये माकी चरण में शरण न लेकर हठक्रया की साहाय्य अवलम्बन करते हैं उन्होंने कितनी कृतकार्य होते है नहीं जानते है, परन्तु हमलोग यह भी देखते है कि असुर से पीड़ित देवतायों "शरणञ्च प्रपन्नाः स्म" बोलकर शिव और विष्णु के शरणागत हुये। यह शरणागत भाव यदि कृत्रिमता (बनावटी) रहित हो, सरल प्राण से निष्कपट हृदय से यदि अपने को छोड़ दे सकें तब ही साधक तुम निःसन्देह शान्ति भोग के अधिकारी और सब विपद् से छूटने के अधिकारी होगे। याद रक्खो—तुम्हारी सब सधनाये शरणागत भाव लाने ही के लिए हैं। जीस दिन देखो कि हृदय का सब कपट छोड़ कर पूर्ण भाव से मातृ चरण में शरणागत हो गये हो, उसी दिन तुम्हारी सब साधना पूर्ण हो जायगी। जीवन मधुमय होगा।

जीव जब अपनी दुर्दशा से अर्थात अमरत्व के विघातक क्षूद्रता और जड़त्व से मुक्ति चाहता है तब उसको भी इसी तरह प्राण और ज्ञान शक्ति के शरणापन्न होना होता है। बाहिर में जो विष्णु है अन्तर में वह प्राण है, बाहिर में जो शिव है अन्तर में वह ज्ञान है। जब तक इस प्राण और ज्ञान का पता न मिले, जब तक ज्ञान को शिव और प्राण को विष्णु रूप न समझा जा सके अर्थात शिव और विष्णु शब्द का उच्चारण होते ही जिसका लक्ष्य अन्तर स्थित ज्ञान और प्राण के केन्द्र का स्पर्श न करे तब तक वह किस तरह शिव और

विष्णु के शरणापन्न होगा ? और शरण लिये बिना महिषासुर बध का उपाय है ही नहीं ! इसी से फिर कहते हैं—साधक किसी भी स्थान में अपने को छोड़ दो, परन्तु भगवान समझ कर छोड़ो। तुम्हारा आश्रय जड़ पदार्थ होने पर भी साधना में कुछ हानि न होगी। जड़ प्रतिमा अथवा जड़ देह तुम्हारे भगवन् ज्ञान में बाधा उत्पन्न नही करेगी। निषाद पुत्र एकलव्य ने मिट्टी की द्रोणमूर्ति से अभूतपूर्व अस्त्र चलाने की विद्या सीखी थी। अनंत ज्ञान का भण्डार तुम्हारे भीतर ही मौजूद है। वाह्य वस्तु—वाह्य आश्रय उस ज्ञान को खोलने का आधार मात्र है।

इत्थं निशम्य देवानां वचांसि मधुसूदनः।

चकार कोपं शम्भुश्च भ्रुकुटीकुटिलाननौ ॥८॥

अनुवाद। देवताओं के ऐसा शोचनीय अत्याचार सुन कर मधुसूदन और शम्भु क्रोधित हुए। इससे उनका मुख-मण्डल भ्रुकुटी कुटिल भाव को प्राप्त हुई।

व्याख्या। सन्तान—अति पीड़ित है। जड़त्व द्वारा चैतन्य का कल्पित आवरण मा अब कब तक सहन करेंगी। प्राणशक्ति में क्षोभ होने लगा। प्रलय के देवता गुरु—शम्भु का क्रोध उद्दीपित हो गया है। मा के रणरङ्गिनी मूर्ति से आविर्भूत होने का समय आ गया है। अब रक्षा नहीं। अब की बार महिषासुर का निधन अवश्य ही होना है।

साधक ! सचमुच जिस घड़ी तुम अपने को पीड़ित समझ सको सचमुचमें जिस समय रोकर कहोगे—"मा ? मैं बहुत ही पीड़ित हूँ। अब इस असुर का अत्याचार और यह जगद्-भार वहन नहीं कर सकता। एकबार अपनी शान्तिमय गोद में स्थान दो।" उसी क्षण देखोगे कि तुम्हारे प्राण, जिन्होंने इससे पूर्व मधु दैत्य का विनाश किया है, वे प्राण क्रुद्ध होने लगे हैं। जो शम्भु जगद् का

मंगल करने वाले हैं, मातृ यज्ञ के सर्वप्रधान होता हैं; वे भी क्रुद्ध होने लगे हैं, उनका मुख-मण्डल भ्रुकुटी कुटिल हो गई है।

प्राण और ज्ञान जब तक आत्म-शक्ति—आत्म-भाव भूल कर बहुत्व के मोह से जगत के खेल में मोहित रहते हैं, तब तक यह क्रोध का भाव लक्षित नहीं होता; किन्तु अब वे मन के द्वारा असुर की अत्याचार की कहानी श्रवण कर आकुल होने लगे हैं। कुरुक्षेत्र समर में धर्मराज स्थापन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने भी जब देखा की अपूर्व गीतातत्त्व सुन कर भी साधकवरेण्य अर्जुन पूर्ण उद्यम से युद्ध नहीं करते, केवल अपने पक्ष की ही रक्षा करते जाते हैं, तब अर्जुन के प्राण में व्यथा देकर क्रोध का पूर्ण बिकाश करने के लिये, अभिमन्यु-वध का चक्रान्त करने को बाध्य हुए थे। उसी तरह साधक जब तक पूर्ण उद्यम से, सम्यक् मनोयोग से साधन- समर में अवतीर्ण नहीं होता, तब तक मा धीरे-धीरे असुर बल बढ़ा कर देव-शक्ति पर अकथनीय अत्याचार करती रहती है। जड़ा प्रबल आधात-प्रबल अत्याचार हुए बिना; हमारी आत्मशक्ति जाग्रत नहीं होती। हम महाशक्तिमान् हैं, हमारे भीतर सृष्टि, स्थिति, प्रलय, करने वाली महाशक्ति मौजूद है. यह हम को विशेष भाव से समझा देने ही के लिये असुर अत्याचार रूप से मातृ-करुणा धारा प्रवाहित होती है। रूप रसादि विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियवृत्ति को पुष्ट करने का एकमात्र उद्देश्य आत्मशक्ति की फुरना है। पहले—पहले वह उपेक्षित रहती है। किन्तु अत्याचार की मात्रा जब असह्य होकर उपेक्षा की सीमा से बाहर हो जाती है, तब फीर चुप करके नहीं रहा जाता। प्राण और ज्ञान-शक्ति क्षोभित हो उठती है। साधक इसे अपने जीवन में निश्चय ही अनुभव करने लगते हैं। ये सब महामाया की (मा) हमारा मा की अचिन्तनीय लीला, अभूतपर्व आनन्दमय विकाश मात्र है।

ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः ।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शङ्करस्य च ॥६॥

अनुवाद । अनन्तर अति-कोप-पूर्ण चक्रधारी विष्णु और ब्रह्मा एव शिव के बदन-मण्डल से महत्तेज निकला ।

व्याख्या – इस मन्त्र में दो 'ततः" शब्द हैं । उनमें से प्रथम का अर्थ अनन्तर और दूसरे का अर्थ—प्रसिद्ध, वह बदन का विशेषण है। विष्णु, ब्रह्मा और शिव अत्यन्त क्रोधित हुए थे, इसी से उनका अपना अपना तेज अपने शरीर में स्थान न पाकर बाहर निकलने लगा, जिस तरह किसी जल से भरे कटाह के नीचे अग्नि जलाने से जल कटाह से बाहर निकलने लगता है। इस मन्त्र का तात्पर्य कुछ विशष रहस्यपूर्ण है । आओ साधक ! हम मातृचरण में प्रणत होकर धीरभाव से आगे बढ़ें । मा विज्ञानमय-मूर्ति से हमारे हृदय में आविर्भूत होकर अति-गहन रहस्यपूर्ण चण्डी तत्व प्रकाशित करें, हम धन्य हों !

क्रोध वा तेज क्या वस्तु है ? मन, प्राण और ज्ञान की जो परमात्मा की ओर विशेष उमंग है, वही असुरों अर्थात् वहिर्मुखी वृत्तियों के पक्ष में क्रोध है। क्रोध का उदय होने से तेज प्रकाशित होता है। मनुष्य जब किसी कारण से किसी पर क्रोधित होता है, तब उसका चेहरा लाल पड़ जाता है, नेत्रों से चिनगारी सी निकलने लगती है । वहीं क्रोध-जन्य तेज का बाहरी प्रकाश है। यहां भी उक्त तीनों देवताओं का जो परमात्मा की ओर रजोगुणात्मक स्पन्दन है वही क्रोध है। पूर्व महिषासुर को काम-क्रोधादि का मूलीभूत राजोगुण रूप से समझा चुके हैं, अब फिर देवताओं में भी वही क्रोध उसी रजोगुण का प्रकाश देखते हैं ।

ऐसा ही होता है, जिस तरह कण्टक से कण्टक निकाला जाता है, वैसे ही क्रोध के द्वारा क्रोध का निपात करते हैं। यह मनो-

विज्ञान का एक सुन्दर रहस्य है। अनेक लोग कहते हैं—अक्रोध के द्वारा क्रोध का निष्काम के द्वारा काम का और अहिंसा के द्वारा हिंसा का जय करे, अर्थात् किसी विरोधी-वृत्ति को बढ़ा कर दूसरी विरुद्ध-वृत्ति का दमन करे किन्तु हम देखते हैं कि उसमें बहुत वेग करना होता है और अनेक बार सफलता भी नहीं होती। अधिक दिन ऐसा अभ्यास करते करते धैर्य्यवान् साधक कुछ सफलता पा सकते हैं। किन्तु देवी माहात्म्य के ऋषि यह बात नहीं कहते। उनका अभिप्राय यह है कि क्रोध को जय करना हो तो क्रोध पर क्रोध करो। काम को जय करना हो तो काम की कामना करो। (यह बात शुम्भ बध में देखोगे) जिसका क्रोधी स्वभाव है उसकी क्रोध वृत्ति अत्यन्त उद्दीपनशील, अनायास उदय होती है। एक बार यदि उसे क्रोध के ऊपर क्रोध करने का कौशल शिखा दिया जाय, तो वह अनायास सफलता पा सकता है, किन्तु क्रोधित मनुष्य को अक्रोध अर्थात् क्षमा-वृत्ति का अभ्यास करना और उसमें सफलता पाना कष्ट-साध्य है।

इसी तरह यदि हिंसा को दूर करना चाहो तो हिंसा ही करो किन्तु हिंसा की यह प्रसङ्ग क्रम से एक बात कहते हैं—साधकों में जिनकी जो वृत्ति प्रबल है, वे उसी वृत्ति द्वारा मा को जकड़ कर पकड़ने की चेष्टा करें। माँ यह नहीं कहती कि केवल श्रद्धा, भक्ति आदि साधु-वत्तियों द्वारा ही मातृ-युक्त होना होगा, बल्कि काम, क्रोध, हिंसा; द्वेष आदि असाधु-बृत्तियां भी योग युक्त होने के उपाय-स्वरूप ग्रहण की जा सकती हैं। वृन्दावन में गोपियाँ काम-वृत्ति द्वारा, मथुरा में कंस भयवृत्ति द्वारा, दैत्यराज हिरण्य-कशिपु हिंसा-वृत्ति द्वारा, चेदिराज शिशुपाल द्वेष-वृत्ति द्वारा भगवान् के साथ युक्त हुए थे। भगवान् ने भी उनको अपनी गोद में स्थान देने में कृपणता नहीं की। आजी मा यह बात नहीं कहती कि तुम अच्छी-अच्छी वृत्तियां छांट कर ले लो तब मेरे पास

आओ। वह कहती है कि "सर्व भावेन शरणं गच्छ "भला हो, बुरा हो, साधु हो, असाधु हो, प्रशंसित हो, चाहे निन्दित हो, किसी भी भाव की सहायता से हमारे शरणागत हो, चाहे किसी वृत्ति द्वारा केवल मेरे साथ युक्त होने की चेष्टा करो। चाहे किसी तरह मेरे समीप आने की चेष्टा करो। मैं तुमको सायुज्य प्रदान करूँगी। मैं मां हूं, तुम सन्तान हो, तुम भले हो कि बुरे, यह देखने वाली दृष्टि मेरी नहीं है। मै सिर्फ यह देखती हू कि तुम मेरी ओर अपना मुख फिरा सके हो या नहीं। मेरा लक्ष्य यही है कि तुम जगत् की ओर से धीरे-धीरे मेरी ओर मुख फिराओ। किसी वृत्ति की सहायता से मेरी ओर मुख फिराया है, यह विचारने का मुझे अवसर नहीं है, क्योंकि मैं तुम्हारी मां हूँ। "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"।

समझ लिया, मां, तुम स्नेहान्ध हो, हमारा भला बुरा देखने की दृष्टि तुममें नहीं है, किन्तु हम किसी भी वृत्ति द्वारा तुममें नित्य युक्त नहीं हो सकते हैं। भली या बुरी किसी भी एक वृत्ति की सहायता से तुममें विभोर नहीं हो सकते। हो सका था हिरण्यकशिपु, वह विद्वेष-वृत्ति द्वारा तुम्हारे साथ ऐसा योग-युक्त हुआ था कि उसके आहारनिद्रादि दैनिक कार्य भी भगवद्विषद्ध भाव से किये जाते थे। उसने तुम्हारे साथ ऐसा विद्वेष भाव दृढ़ कर रक्खा था कि जिसके वश होकर प्राणों से प्यारे पुत्र को कराल काल का ग्रास बनाने की अनेक बार चेष्टा की थी। जो भगवद्-विद्वेष भगवान् प्रिय आत्मज को भी हत्या करने को उद्यत हो सकता है, उसका परिमाण कितना होगा, यह हम धारणा भी नहीं कर सकते। जिस विद्वेष के फल से मां; तुम जड़ स्फटिक के खम्भे को भेद कर नरसिंह मूर्ति से आविर्भूत होकर, हिरण्यकशिपु के स्थूल देह की प्रत्येक नस नस अपने पवित्र अंग से लपेट ली थी, वह विद्वेष कितना बड़ा होगा। जिस भगवद्-विद्वेषी

की आत्मज सन्तान प्रह्लाद हो, उस विद्वेष के परिमाण की क्या हम धारणा कर सकते हैं ? हम दुर्बल सन्तान हैं, मां ! हमारे मन में इतना बल कहां है ? यदि ऐसा बल होता तब तो तुम स्वयं ही आकृष्ट होकर हमें धन्य कर देतीं । क्या उससे तुम्हारे मातृ-धर्म का विशेष विकाश होता ? जो बलवान हैं वे तो आत्म-प्राप्ति कर ही लेंगे, किन्तु जो हम जैसे दुर्बल है, जिनके चित्त संशय से व्याकुल हैं, अविश्वास से कलुषित हैं, जो काम क्रोधादि आसुरी वृत्तियों द्वारा पीड़ित हैं, ऐसी सन्तानों को भी यदि तुम हृदय की ओर खींच लो, भुजाओं की लपेट से सदा लपेटे रहो, तब ही तो मा ! तुम्हारे मातृत्व धर्म्म की सम्यक फुरना हो । दुर्बल भेड़ के बच्चे की भांति हमारे क्षीण कण्ठ का संशय आन्दोलित मातृ आह्वान, यदि तुम्हारे स्नेहपूर्ण विशाल वक्ष पर बिन्दुमात्र आन्दोलन उठा सके जिसके फल से तुम दुर्बल की जगत् की मा होकर अपना प्रकाश करो, तब ही तो तुम्हारा मा नाम सार्थक हो, और हम भी धन्य हो जावें ।

साधक ! तुम्हारी जो वृत्ति जब सब से अधिक प्रबल रूप में प्रकाश पावे, तब उसी वृत्ति द्वारा मा को जकड़ कर पकड़ने की चेष्टा करो । इस उपाय से सहज ही वृत्ति का निग्रह सिद्ध हो जाता है । यहाँ भी क्रोधमूलक महिषासुर को दमन करने के लिये क्रोध की ही उभरता देखते हैं । किस तरह ऐसा हुआ ? सुनो, एक ही रजोगुण का दो प्रकार का विकाश है । एक बहिर्मुख—जिसका स्थूल विकाश काम, क्रोध इत्यादि हैं, दूसरा अन्तर्मुख—जिसका स्थूल प्रकाश पर-वैराग्य, शम-दम, उपरति, तितिक्षा इत्यादि हैं । जो रजोगुण महिषरूप से—काम, क्रोधादि वृत्ति रूप से प्रवाहित होकर बार-बार जन्म मृत्यु रूप संसार गति को अत्यन्त प्रिय समझ कर आलिङ्गन करना चाहता है, वही रजोगुण फिर पर-वैराग्य रूपमें प्रकाश पाकर मुक्तिमार्ग में भी अग्रसर होना चाहता है । इसी से

महिषासुर के साथ देवों का संग्राम है। जब वहिर्मुखी जो वृत्ति प्रबल हो, तब अन्तर्मुख में उस वृत्ति के सम जातिय वृत्ति-प्रवाह को जागृत कर सकने से ही अभीष्ट सिद्धि होती है। "समः सम शमयति" यही बड़ी अमूल्य कहावत है। साधक इसे विवेचना कर देखें और योगादिशास्त्र में जो क्रोधादि-वृत्ति निग्रह के उपाय स्वरूप उनके विरोधी अक्रोध आदि वृत्तियों की साधना विहित है, उसे साधना का फल रूप समझें—अर्थात् क्रोध को दमन करने के लिये क्रोध पर क्रोध करने का फल होता है, अक्रोध। इसी तरह हिंसा की प्रतिहिंसा करने का फल होगा, अहिंसा। ऐसा ही सर्वत्र होता है।

यहां भी हम ठीक इसी तरह असुर के प्रतिकूल ब्रह्मादि का क्रोध देखते हैं। जीव, जब जिस दिन तुम्हारे मन, प्राण और ज्ञान क्रोधित होने लगें और अब असुर का अत्याचार सह्य न करेंगे, यह विचार उद्वेलित हो उठें, उसी दिन समझ लेना कि असुर निग्रह का समय निकट आ पहुँचा है।

निश्चक्राम महत्तेजः—तेज शब्द का अर्थ ज्योति-प्रकाश है। मनोमय, ज्ञानमय और प्राणमय ज्योति उमड़ कर बाहिर आ गई, अर्थात् स्थूल में प्रत्यक्ष हुई। सचमुच ही इस ज्योति का दर्शन होता है। मनोमय ज्योति का लाल रंग है, प्राणमय ज्योति श्याम वर्ण है और ज्ञानमय ज्योति का शुभ्र वर्ण है। जो सत्य-प्रतिष्ठ हुए हैं अर्थात् जगत्मय सत्य-प्रतिष्ठा करके प्रशान्त उदार महान् चिदाकाश का जिन्होंने पता पाया है, वह जिनके वशीभूत हुआ है, अर्थात् इच्छामात्र से ही उदित होता है और अभीष्ट समय तक स्थिर रहता है, वे उस आकाश को मनोमय धारणा करते ही ब्रह्म-तेज वा रक्तवर्ण देख पावेंगे। इसी तरह प्राणमय धारणा से श्याम-वर्ण और ज्ञानमय धारणा से रजतगिरिनिभ (चांदी के पर्वत की तरह) शुभ्रवर्ण प्रत्यक्ष कर सकेंगे। साधारणतः वह तेज आज्ञाचक्र से ही विकसित होता है, इसी से मन्त्र में 'वदनात्' कहा गया है।

फिर सांख्य-योग दृष्टि से भी वह महत्तेज ही महत्तत्त्वरूप से लक्षित होता है। महत्तत्व का उदय अर्थात् साक्षात्कार न होने तक विषय-इन्द्रिय के संयोगजन्य चंचलता, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि ज्ञानजन्य सुख-दुःख की पीड़ा ये सब दूर नहीं होतीं, किन्तु महत्तत्त्व में केवल एक बार आत्मबोध संग्रह कर सकने से, जीव का कर्तृत्व भोक्तृत्व बोध समूल विलय हो जाता है। यह महत्तत्त्व ही ईश्वर है। इसी से इसको ब्रह्मा, विष्णु और शिव सम्बन्धी तेज कहा गया है। सृष्टि स्थिति और लय महत्तत्त्व में ही होता है ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इसे हिरण्यगर्भ कहा गया है. यह तत्व आगे और भी स्पष्ट होंगे।

अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ॥१०॥

अनुवाद— इस तरह इन्द्र आदि अन्यान्य देवताओं के शरीर से भी अति महत्तेज निकला और सबका तेज मिलकर एक हो गया।

व्याख्या—देवता-तत्व पूर्व कहा गया है। प्रत्येक देवशक्ति जो इन्द्रियों की अधिष्ठाता थी वह ब्रह्मादि की भांति उमंग उठी और प्रत्येक देवता के अङ्ग से अतिमहान् तेज निकला और वह तेज एकत्र हो गया। प्रत्येक इन्द्रिय में देव और असुर भाव हैं, जैसा कि चक्षु—जैसा कि एक ओर भौतिक रूप से आकृष्ट है दूसरी ओर वैसे ही रूपातीत वस्तु प्रत्यक्ष करने को लालायित है। जब तक मनुष्य में यह भाव न आवे अर्थात् इन्द्रियां केवल विषयों की ओर ही आकृष्ट रहें, क्षण भर के लिये भी भगवन्मुखी न होना चाहें, तब तक समझना चाहिये कि अभी चण्डी तत्व समझने योग्य समय नहीं है। अस्तु, असुर द्वारा पीड़ित देवशक्तियां जब यह देखने लगीं कि वे जिनके आश्रित हैं, जिनकी सत्ता से उनकी सत्ता है वे ही जब क्षोभित हो उठे हैं, तब उनको क्रोध अवश्य ही होना है। मन, प्राण और ज्ञान जब क्रोधित हुए हैं तब उनके आश्रित इन्द्रियाँ

उमंग उठें तो विचित्रता ही क्या है ? सागर में ज्वार होने से ही नदी नालों में भी ज्वार होता है। मन— इन्द्रियों का केन्द्र है, प्राण इन्द्रियों को धारण करने वाले हैं ज्ञान इन्द्रियों का प्रकाशक है। जब उनका तेज निकला तब उनके आश्रित इन्द्रियों से भी तेज निकलने लगा।

इन्द्रियों का तेज क्या वस्तु है। प्रत्येक इन्द्रिय में पृथक् पृथक प्रकाश शक्ति है। चक्षु कर्णादि अथवा वाक् पाणि आदि प्रत्येक में स्वतन्त्र प्रकाश शक्ति विद्यमान है। ज्ञान के प्रकाश से ही ये प्रकाशमय हैं। जिस तरह सब जल समुद्र का ही जल है, तो भी नदी में जो जल रहता है, उसे नदी का जल कहते हैं; उसी तरह ज्ञान के प्रकाश से ही समस्त प्रकाश मय होने पर भी प्रत्येक की विभिन्न प्रकाश सत्ता है। वे अब तक व्यष्टिभाव से कार्य्य करते थे, सब पृथक् पृथक् भाव से असुर विजय में यत्न करते थे। इसी से इनकी चेष्टा सफल नहीं हुई। आज सब व्यष्टि शक्तियाँ मिल गई हैं, अब देवशक्तियां पूर्ण बल से बलवान हैं, अतएव असुर दमन भी रुक नहीं सकता। जगत् के कामों में भी देखते हैं कि जब किसी जाति की विशेष उन्नति आवश्यक होती है, तब उसकी व्यष्टि शक्तियां मिलाई जाती हैं, और उससे शीघ्र ही अभीष्ट सिद्ध होता है। साधना जगत् में भी ठीक ऐसा ही होता है।

इन्द्रियों ने स्वतन्त्रता त्याग कर एक ही उद्देश्य से सब शक्ति एकत्र की है इसी से मन्त्र में कहा है—"तच्चैक्यं समगच्छत"। एकता ही कार्य्य-सिद्धि का अमोघ उपाय है। इन्द्रियों की एकता क्या और पृथक्-भाव ही क्या ? मान लो कि जब तक केवल चक्षु इन्द्रिय भौतिक रूप से आकृष्ट न होकर विश्वमय मातृ रूप में लक्ष्य स्थापन करने का प्रयास पाती है, कान, नाक आदि उसके सहाय नहीं होते, तब तक सौ चेष्टा करने पर भी वह पूर्ण सफल नहीं हो सकती, किन्तु जब अन्यान्य इन्द्रियों के साथ मन प्राण और ज्ञान

का सम्मिलन होता है। तब वह असीम शक्ति सम्पन्न होकर अभीष्ट पाने में समर्थ होती है। अन्यान्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझिये। इसके सिवाय उनकी परस्पर सहायता भी है। प्रत्येक साधक अपने जीवन में ये विषय कुछ चिन्तन करने पर ही समझ सकेंगे।

इन्द्रियों की पृथक् पृथक प्रकाश शक्ति प्रत्यक्ष करने का उपाय, अलग-अलग इन्द्रियों में समाहित होना है। याद रखिये कि इस साधन-समर में राजा सुरथ समाधि के साथ अग्रसर होता है। जीव जब समाधिस्थ होने में समर्थ होता है—तब ही ये तत्व फुरते हैं। जो एकमात्र अखण्ड घन चिद्रस इन्द्रिय रूप प्रणालियों में प्रविष्ट हो रहा है, अर्थात् इन्द्रिय विशिष्ट होकर प्रकाश पाता है, उस परिच्छिन्न चित् शक्ति में समाहित होने से ही विभिन्न इन्द्रियों की अलग-अलग प्रकाश सत्ता लक्षित होती है। ऐसा कर सकने से ही इन्द्रियों का स्वभाव और अवस्था इच्छानुसार बदली जा सकती है। इसी का नाम इन्द्रिय जय है। अस्तु, वे विभिन्न प्रकाश वा ज्योति विभिन्न रंग की लक्ष्य में आती रहती हैं। फिर साधकों की स्वाभाविक विभिन्नतानुसार भी उनके अलग-अलग रंग होते हैं। जिसका जो गुण अतिरिक्त मात्रा में प्रकाशशील है। उसकी इन्द्रिय-शक्ति को प्रकाश भी उसी गुण के रंग वाला होता है। सत्वगुण—शुभ्र, रजोगुण-रक्त और तमोगुण कृष्णवर्ण है। यही तीन गुणों के मौलिक रंग हैं। इनकी मिलावट की कमी-बेशी से इन्द्रियों की शक्ति की वर्णगत विभिन्नता लक्षित होती है।

यहां भी "महत्तेजः" शब्द से महत्तत्व ही समझना चाहिये। सबसे अधिक प्रकाश-शीलता के कारण ही इस मन्त्र में महत् को तत्व न कह कर तेज कहा गया है। इन्द्रियां जब तक स्वतन्त्रभाव से प्रकाश पाती हैं तब तक साधक इस तेज का पता भी नहीं पाते। जब सब इन्द्रियों का व्यष्टि प्रकाश एक समष्टि प्रकाश के

ऊपर पहुंचता है तब ही समझा जाता है कि यह महत्तत्व है। यही धी वा गायत्री है, यही सृष्टि, स्थिति, प्रलय की अधीश्वरी है।

यहां पहुँचने से "ऐक्य" अर्थात् एक भाव ही विशेष भाव से प्रकाशित होता है। कैसा मनोरम यह स्थान! एक साथ एकत्व बहुत्व का प्रकाश कैसा होता है वह इस स्थान पर आकर साधक समझ सकते हैं। विस्मय और आनन्द से मन्त्रमुग्धवत् हो जाते हैं। आचार्य शंकर ने यहीं खड़े होकर उच्च कण्ठ से गाया था— "विश्वं दर्पण दृश्यमान-नगरी तुल्यं निजान्तर्गतं"।

अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्व्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम् ॥११॥

अनुवाद—उन देवताओं ने देखा कि–प्रज्वलित पर्वत की भांति तेजो राशि की शिखायें दिगन्तपरिव्याप्त हो रही है।

व्याख्या। व्यष्टिशक्ति समष्टिभावापन्न हुई है, इसी से इतना स्थूल और घन होकर समस्त दिङ्-मण्डल व्याप्त किया है। देवता उसे चाक्षुष प्रत्यक्ष करने लगे। साधना मार्गमें ऐसी प्रत्यक्षता जब तक न आवे, तब तक साधक की गति तीव्रतर नहीं होती। अनुमान के ऊपर साधना कब तक चलें? अत्यन्त धीर और सहनशील व्यक्ति को भी अन्त में अश्रद्धा का भाव आ ही जाता है। योग दर्शन में भी कहा गया है–"अलब्ध भूमिकत्व" साधना का अन्तराय है। अतएव प्रत्यक्षता की अत्यन्त आवश्यकता है। मातृकृपा से चित्त और इन्द्रिय-व्यापार अन्तर्मुखी होकर, कुछ स्थिर होने से ही ऐसा दिगन्त्-व्यापी ज्योति-दर्शन होता है। जगत् के किसी ज्योतिर्मय पदार्थ के साथ उसकी तुलना नहीं है। योगशास्त्र ने जिसको "विशोका' वा "ज्योतिष्मति" वृत्ति नाम से उल्लेख किया है, जिसके उदय से साधक का सब प्रकार का शोक दूर होता है, जिसका प्रकाश होने से जीव तीर की तरह भगवान्

की ओर चलने लगता है. साधक जिसको ईश्वरीय ज्योति वा मा के गात्र की प्रभा कहते हैं; वह दृष्टि आते ही साधक इकटक देखता रह जाता है। इसी से मन्त्र में "ददृशु" पद का प्रयोग हुआ है।

यहाँ कुछ साधना की बात कहते हैं-पूर्व जो चिदाकाश का विषय कहा गया है, उसमें ब्रह्म के चार पाद आरोप करते हैं। दिक्सत्ता, अनन्तसत्ता ज्योतिःसत्ता और मन प्राण-सत्ता, ब्रह्म के ये चार पाद श्रुति में कहे हैं। चिदाकाश में क्रम से दिक् और अनन्तसत्ता का आरोप करके तृतीयपाद ज्योतिःसत्ता आरोप में अभ्यास होने से वह आकाश दिगन्तव्यापी ज्योतिर्ममय होकर प्रकाशित होता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि और बिजली, ये ही ब्रह्म के ज्यतिष्पाद हैं। उनके आरोप से दिगन्तव्यापी अतुलनीय ज्योति प्रकाशित होती है। यह ज्योतिर्मय ब्रह्मदर्शन का एक प्रकार का उपाय हैं। इसके सिवाय प्रत्येक इन्द्रिय की सत्ता में सत्यप्रतिष्ठा करके, प्राण और बुद्धि में पहुंचने पर अर्थात् केवल अस्मिता में उपस्थित होने पर भी एक अखण्ड चिन्मय ज्योति प्रकाशित होने लगती है, यही "अतीव तेजसःकूटम्" है।

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥१२॥

अनुवाद ! समस्त देवताओं के शरीर से उत्पन्न वह अतुलनीय तेज एकस्थ अर्थात् सम्मिलित होने पर वह एक नारीरूप में परिणत हो गया। उसकी कान्ति तीनों लोक में व्याप्त हो गई।

व्याख्या—पूर्व जिस ज्योति की बात कही गई है। वह केवल तेजस्त्व नहीं है अर्थात् तत्त्ववत् कोई ज्योतिर्म्मय सत्तामात्र नहीं है। वह "एक जन" है—उसका व्यक्तित्व है। सब व्यक्ति-धर्म उसमें पूर्ण भाव से प्रकट हैं। दर्शन श्रवण घ्राण गमन ग्रहण निग्रहानुग्रह

शक्ति इत्यादि सब धर्म्म उक्त ज्योति-मण्डल में विराजमान हैं। यह समझाने ही के लिये "एकस्थं तदभून्नारी" केवल यही प्रकाशित किया है कि वह ज्योति नारी वा शक्ति विशेष है। नारी शब्द से केवल एक स्त्री-मूर्ति ही न समझिये। नारी शब्द का अर्थ शक्ति है; वही साधक का इष्टदेव है। यहाँ नारी शब्द से-कृष्ण, काली, शिव आदि कोई भी मूर्ति समझनी होगी। प्रत्येक मूर्ति ही शक्ति विशेष है। शक्ति जब घनीभूत होती है, साधक के करुण-क्रन्दन से उमंगती है, तब ही विशिष्टमूर्ति से प्रगट होती है। यहां नारी शब्द का अर्थ मूर्ति है। मूर्ति शब्द स्त्रीलिङ्ग होने से ही मन्त्र में नारी शब्द का प्रयोग हुआ है। किस प्रकार से विशिष्टमूर्ति का दर्शन होता है। यहां "एकस्थं तदभून्नारी" शब्द से वही वर्णित हुआ है। सब साधकों को ऐसे ही भाव से इष्ट दर्शन होता है। कृष्ण विष्णु शिव आदि मूर्तियों के आविर्भाव का यही रहस्य है। सबसे प्रथम एक घन चिन्मय ज्योति वा प्रकाश सत्ता का अनुभव होता है। फिर वह साधक के भक्ति हिम से घनीभूत होकर संस्कारानुसार मूर्ति में परिणत होता है। इसके सिवाय अनेक स्थानों में मन की कल्पना घनीभूत होकर भी विशिष्ट मूर्ति दर्शन हो सकता है। किन्तु वह मुक्ति प्रदान अथवा साधक का अभीष्ट पूरण नहीं कर सकता।

साधक! क्या तुम अपनी इष्टमूर्ति का इस तरह चाक्षुष प्रत्यक्ष करके धन्य होना चाहते हो? वह कुछ कष्टसाध्य होने पर भी बिलकुल असम्भव वा दुर्लभ नहीं है। तुम कितने ही पञ्चलचित क्यों न हो, कितनी ही विक्षिप्तता तुम में क्यों न रहे तुम यत्नपूर्वक सत्यप्रतिष्ठा के मार्ग पर आगे बढ़ो, जो चिदाकाश प्रकाशित हो उसमें ज्योतिःसत्ता का आरोप करके अभीष्ट मूर्ति-दर्शन के लिये धीरभाव से अपेक्षा करो और देखने के लिये सरल प्राण-शिशु की तरह कातर होकर रोते रहो। फिर देखोगे कि थोड़े ही दिनों में

तुम्हारी आशा पूर्ण करके, स्थुलदेह की नाई देहधारी इष्टदेव आविर्भूत होंगे। यह केवल कहने मात्र ही नहीं है, सचमुच मनुष्य ऐसा देख पाते हैं। किन्तु साधक इससे वह न समझलें कि केवल ऐसी कोई विशिष्ट मूर्ति-दर्शन करने से ही तुम्हारा जीवन धन्य हो जायगा। बल्कि जब तक वह मूर्ति महत्वयुक्त न होगी, जब तक प्राणमय मूर्ति-दर्शन न होगा, तब तक वह तुमको कृतार्थ नहीं कर सकेगी।

जो प्रथम से ही किसी विशेष मूर्ति के द्वारा साधन करने में अभ्यासी हैं, वे उस मूर्ति को केन्द्र करके चारों ओर ब्रह्माण्ड व्यापी महतीशक्ति धारण करने की चेष्टा करें। जैसे सूर्य एक स्थान में रहने पर भी उनके प्रकाश और आकर्षणशक्ति द्वारा समग्र जगत् व्याप्त हो रहा है, ठीक उसी तरह तुम्हारी इष्ट-मूर्ति भी विश्व-व्यापी महती शक्ति युक्त होकर नित्य विराज रही है। ऐसा अनुभव करने की चेष्ट करो। ऐसा महत्त्वयुक्त मूर्तिदर्शन ही यथार्थ दर्शन है। ऐसा दर्शन के बाद, उसमें आत्मभाव से संस्थित होने का अभ्यास करना हैं, अर्थात् जो हमारे अन्तर में आत्मा रूप से विराजता है वही बाहर में महत्वमण्डित इष्ट-मूर्ति से प्रकाशित है, ऐसा समझना हैं। गीता में कहा है :—"तेषामेवानुकम्पार्थमहम-ज्ञानज तमः। नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञान दीपेनभास्वता ॥" १० । ११ ॥ जब तक मूर्ति आत्मभावस्थ न हो अर्थात् जब तक इष्ट देवता स्वय अनुकम्पापूर्वक साधक के आत्म रूप से प्रकाशित न हो, तब तक अज्ञानान्धकार किसी तरह विनष्ट नहीं होता। अतएव केवल इष्ट मर्ति ही क्यों, जगत् की प्रत्येक मूर्ति को आत्मभावस्थ कर दर्शन करना हैं। परन्तु बात यह है कि इष्टमूर्ति में आत्मभावस्थ हो सकने से और जगह वह सहज साध्य होता है; और इस तरह सर्वत्र आत्म-भावस्थ हो सकने से साधक के सब संशय

दूर हो जाते हैं, अज्ञान तिरोहित हो जाता है, तब अमृत का आस्वाद पाकर साधक अमर हो जाता है, अपने को नित्य शुद्ध मुक्त स्वरूप समझ सकता है।

किस उपाय से मूर्ति आत्म-भावस्थ हो? प्रथम इष्टमूर्ति को आत्मीय कर लेना हैं। आत्मीयता ही आत्मा का धर्म्म है। वह हमारा एकान्त आत्मीय है, यह समझना है। जगत् में आत्मीयों से जितना प्यार करते हो अन्ततः उतना प्यार भी उनकी ओर फिराने की चेष्टा करो। यदि कभी तुम्हारा वह अशुद्ध विन्दुमात्र प्रेम उनका चिन्मय अङ्ग स्पर्श करे, तो वही उसको विशुद्ध और हजार गुना बढ़ा देंगे। तब तुम प्रेम में बिभोर हो जाओगे। जिस घड़ी विभोर होगे, उसी क्षण इष्ट मूर्ति तुम्हारे आत्मभावस्थ होगी। याद रखिये विभोर हुए बिना आत्मभाव नहीं खिलता। श्रीमद्-भागवत में कहा है कि व्रजधाम में गोपियों ने श्रीकृष्ण के साथ रासलीला तक की थी, किन्तु श्रीकृष्ण ही 'आत्मा' हैं; यह परा-भक्ति, और वे ही सृष्टि स्थिति प्रलय के एकमात्र अधीश्वर हैं, यह महत्व ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, तब तक उन्होंने श्रीकृष्ण को पाकर भी नहीं पाया। इसी से उन्होंने गोपियों को अपनी-अपनी आत्मा रूप में साधना का उपदेश देकर आप दीर्घ समय के लिये दूर द्वारका चले गये थे। इसी से कहा है कि मूर्तिदर्शन करने ही से भगवान् प्राप्ति नहीं होती बल्कि उसका महत्व अनुभव करना चाहिये। जितना महत्व अनुभव होगा। अर्थात् जितने महत्व से वे प्रकाशित होंगे। सिर्फ एक बार दर्शन से साधक स्वयं उतने महत्व युक्त हों। जीव! तुम मा का जितना अंश देखोगे, मा के उतने ही लक्षण तुम में अवश्य प्रकाशित होंगे। मा के देख लेने पर भी तुम्हारी संसार आशक्ति कम न हुई हो, सुख-दुःख हर्ष विषाद का द्वन्द्व कम न हुआ हो, चित्त में कुछ प्रशान्त भाव न आया हो, मृत्युभय दूर न हुआ हो, ऐसा हो नहीं सकता। मा सर्वतः स्पृहा शून्य, निर्वि-

कार, अमृत स्वरूप है, इतने बड़े ब्रह्माण्ड के सृष्टि स्थिति प्रलय कार्य्य में नित्य लीन रह कर भी धीर स्थिर और निर्विकल्प है। अजी तुम ऐसी मा को एक बार देख कर भी साधारण जीवों की तरह सुख दुःख में चंचल, मृत्यु से भयभीत, संसार में आसक्ति युक्त रहोगे? ऐसा कभी हो नहीं सकता। किन्तु वह दूसरी बात है :—

अस्तु, चक्षु आदि इन्द्रियाधिष्ठित देवताओं का जो प्रकाश भाव है, वही तेज है। वही एकीभूत हुआ है। एक महा प्रकाश ने समस्त विश्व ढक लिया है। हाँ, प्रकाश की ऐसी सामर्थ्य अवश्य है। समग्र विश्व विलुप्त होता है। इसका खुलासा यह है—तुमने 'ऐक्सरे' नामक डाक्टरी यन्त्र का नाम सुना होगा। इस यन्त्र द्वारा डाक्टर लोग शरीर के भीतर स्थित हड्डियों (चोट आदि) की परीक्षा करते हैं। उस यन्त्र की किरण रेखाओं में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि चर्म, मांस, रक्त आदि कोमल वस्तुओं को भेद कर चली जाती हैं, ठीक उसी तरह स्वप्रकाश विज्ञान ज्योति प्रकाशित होने से, जगत के सब पदार्थ भेद कर चली जाती है; अतएव जगत सत्ता विलुप्त हो जाती है। यहां तक कि, देश काल तक प्रतीति नहीं होती। 'ऐक्सरे' यन्त्र की किरणें केवल अस्थि वा वैसी ही कठिन वस्तु से रुक जाती है, किन्तु विज्ञान ज्योति किसी में नहीं रुकती।

यह कैसे हो सकता है, उसे समझ लीजिये। प्रकाश जिस स्थान में रुकता वा बाधा प्राप्त होता है, उसीकी प्रकाशित करता है। सूर्यादि किरणों से जो हम रूपादि प्रत्यक्ष करते हैं, उसका भी यही रहस्य है। सूर्य की किरणें जिस वस्तु से रुकती हैं अर्थात् भेद कर नहीं जा सकतीं, उसी वस्तु को हम देख सकते हैं। आकाश और वायु-मण्डल भेद कर सूर्य की किरणें चली आती हैं, इसी से वे अदृश्य हैं, किन्तु पृथिवी पर आकर रुक जाती है, इसी से पार्थिव

वस्तुएं हम देख पाते हैं। और भी देखिये—तुम ईंट की बनी हुई भीति देखते हो इसका अर्थ यह है कि तुम्हारे नेत्रों से जो प्रकाश शक्ति निकलती है, वह दीवार तक पहुंच कर फिर आगे नहीं जा सकती। वे रुक कर लौट आती है, इसी से तुम दीवार देखते हो। दीवार के पार क्या है, उसे दिखा देने की सामर्थ्य तुम्हारे नेत्रों से निकली हुई प्रकाश शक्ति में नहीं है। इसी तरह हम जो कुछ देखते, सुनते, सूघंते चखते और छूते हैं उनका बहुत कुछ अंश हम नहीं जानते। जानने का अर्थ होता है केवल एक अंश जानना। हमारा ज्ञान इतना संकीर्ण है कि ज्ञेय वस्तु का सम्पूर्ण अंश हमको जना नहीं सकता। इसी से जगत् सम्बन्धी ज्ञान का नाम अज्ञान वा ईषत्ज्ञान है। कुछ धीर भाव से विचार देखिये, जिस समय तुम कहते हो—"हम वृक्ष जानते हैं" उस समय में जिस जानने के बगल में ही एक बड़ा मस्त अज्ञान भी रहता है। "वृक्ष जानता हूं' यह कहने से उसी मुहूर्त में "वृक्ष के सिवाय और कुछ नहीं जानता'' ऐसा कुछ अज्ञान उस ज्ञान के पास ही खड़ा रहता हैं। अतएव जगत का प्रत्येक विषय इस जानने और न जानने के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। अज्ञान है, वह ज्ञान ही जना देता है। वेदान्त दर्शन कहता है— इस ज्ञान का नाम ब्रह्म है और अज्ञान का नाम माया है। अस्तु, प्रकाश कहने से केवल ज्ञान ही समझाया गया है। अन्तर में जो ज्ञान है, बाहिर वही तेज है, अन्तर में जो अज्ञान है बाहिर वही अन्धकार है। ज्ञान होता है चित् अर्थात् चेतन। इस ज्ञान वा चैतन्य का अनुभव कर सकने से ही स्वप्रकाश वस्तु का पता पाया जाता है। वह स्वप्रकाश वस्तु तब दिगन्त तक फैल जाती है ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उस प्रकाश को रोक सके। सर्वतो-भेदी वह प्रकाश सब पदार्थों की सत्ता भेद कर प्रत्येक परमाणु को शतधा सहस्रधा भेद कर महती व्याप्ति प्राप्त करता है। अतएव जगत् सत्ता विलुप्त हो जाती है। कोई भी पदार्थ ज्ञान का स्वप्रकाशत्व रोक नहीं सकता।

इस अवस्था में देश और काल का अस्तित्व भी नहीं रहता, क्योंकि दो पदार्थों की आड़ से हम देश (स्थान) नामक वस्तु अनुभव करते हैं। यदि किसी पदार्थ की प्रतीति न हो तो देश का ज्ञान नहीं रह सकता। देश के बाद होता है काल। काल क्या ? दो क्रियाओं की आड़ से काल नामक वस्तु का कुछ अनुभव होता है। कोई क्रिया के अधिकरण को ही काल कहते हैं। कोई कहते हैं क्रिया ही काल है। वास्तव में इन मतभेदों से वस्तु -सता-को कुछ हानि नहीं। उनके सब ही मत सत्य हैं। अस्तु। किन्तु हम क्रिया के द्वारा ही काल समझते हैं। एक बार सूर्योदय देखने से दूसरे सूर्योदय तक के समय को एक दीन कहते हैं। वस्तुतः काल अखण्ड ही रहता है जाता आता नहीं। हम चञ्चल गतिशील रूप से देखते हैं "कालो गच्छति"। वास्तव में यह बात नहीं है। तेज गाड़ी पर सवार मनुष्य जैसे आस पास की भूमि को चलती हुई देखता है, वैसा ही इसे समझ लिजिये। हम कह रहे थे कि स्वप्रकाश ज्ञान के उदय से काल बोध छिप जाता है। पूर्व कहा था पदार्थ सत्ता बिलुप्त करके वह ज्ञान उदय होता है पदार्थ के अभाव से क्रिया-बोध रह नहीं सकता। क्रिया बोध तिरोहित होने पर काल ज्ञान अपने आप बिलुप्त होता है। यहाँ एक बात कहते हैं इस देश काल के अतीत स्वप्रकाश चैतन्यमय सत्ता में अपनीत होकर ही आचार्य शंकर ने जगत को मिथ्या भ्रान्ति वा अध्यास नाम से घोषित किया है। वास्तवमें वहाँ जगत कहने को कुछ नहीं रहा, न कभी था, न होगा ऐसा भी विचार नहीं होता।

हम अनेक अवान्तर बात्तों की आलोचना कर चुके अब फिर संक्षेप में मन्त्र के अर्थ की आलोचना करलें। देवताओं का जो व्यष्टि-प्रकाश है वह समष्टि-भुत होने पर एक दिगन्त प्रसारी ज्योतिः वा प्रकाश अनुभव होता है। प्रथमतः वह एक आकाशीय-तत्व जैसा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में वह तत्व-मात्र नहीं है। उक्त दिगन्त व्यापी ज्योति-सत्ता का सर्वेद्रिय धर्म्म है। यद्यपि

कोई विशिष्ट इन्द्रिय नहीं है; तथापि सब इन्द्रियों के धर्म्म उसमें पूण भाव से भासित हैं; यानि उसका व्यक्तित्व है। यह व्यक्तित्व समझाने ही के लिये "एकस्थं तदभून्नारी" की बात कही गई है। वह केबल एक ज्योतिः नहीं है वह एक जन है, यही इस मन्त्र का बिशेष तात्पर्य है। इसके सिबाय साधक की इष्टमूर्ति भी ऐसो ही स्वप्रकाश दिगन्त व्यापी ज्योतिः सत्ता में से ही प्रकाशित होती है, यह बात भी प्रथम कही गई है।

यद् भूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम् ।
याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विषुणुतेजसा ॥१३॥

अनुवाद—शम्भु के तेज से उस मूर्ति का मुख मण्डल गठित हुआ था, इसी तरह यम के तेज से केश और विष्णु के तेज से बाहु गठित हुए थे।

व्याख्या—क्रम से पाँच मन्त्रों में उक्त मूर्ति के विभिन्न अवयव चिह्न वर्णित होते हैं। यद्यपि सम्मिलित देवताओं की समष्टि तेजोराशि ही मूर्तिरूप से प्रगटित है। तथापि ऋषियों का सूक्ष्म दृष्टि से समष्टि के भीतर व्यष्टि अंश भी छूटा नहीं। इसी से किस देवता के तेज से मा का कौन सा अबयब गठित हुआ था, वह कहते हैं। शाम्भव तेज, शम्भु, शिव, तत्सबन्धीय तेज अर्थात् ज्ञानमय प्रकाश-शक्ति। उसके द्वारा मा का मुखमण्डल गठित हुआ था। मुख में ही पंच ज्ञानोन्द्रिय के द्वार विद्यमान हैं। यद्यपि स्पर्शेन्द्रिय त्वक सर्व शरीर व्यापी है, तथापि अधर ओष्ठ में ही उसका विशेष अनुभव होता है। ज्ञान का जो पाँच प्रकार का प्रभाव है, वह मुखमण्डल पर ही बिशेष भाव से प्रतिभात हैं, इसी से ज्ञानमय देवता शिव के तेज से मुख है।

याम्य—यम सम्बन्धीय तेज। यम संयमनकर्ता, यह परिच्छिन्न खण्ड खण्ड प्रकाश वा उच्छृङ्खल गति को संयत करके अखण्ड महाकाल सागर में निमज्जित करता है इसी से इसका नाम यम

है। शास्त्र में इसको कृष्णवर्ण कहा गया है। बहुत्व अर्थात सर्व-वर्ण जहाँ बिल्कुल मिलाये जाये, वह जगत् के पक्ष में घोर अन्धकार स्वरूप अवश्य है। असल बात यह है कि जिस स्थान में सब भावों का विलय होता है, वह स्थान जब प्रत्यक्षीभूत हो, तब उसे घोर-कृष्णवर्ण कहे बिना रहा नहीं जाता। इसी से यम के तेज से मा की घन कृष्ण अलकें वा केशराशि है। मा की पीठ की ओर शिर से गुल्फ तक लम्बी कृष्ण केशराशि मानो सन्तान से कहती है कि मेरे पीछे की ओर क्या हैं, वह तुम देख नहीं सकते। महाकाल शक्ति के पर-पार क्या है, वह वाक्य और मन के अगोचर हैं। इसी से मा ने मुक्त केशी होकर महाकाल प्रकाश का पिछला भाग आवृत रक्खा है।

विष्णु के तेज से बाहु। विधारण शक्ति बाहु से ही प्रकट होती है। इसी से मा के बाहु जगद्धारक विष्णु के तेज से उत्पन्न हुए थे। यहाँ एक बात याद रखिये – मन्त्र में "बाहवः" यह बहुवचनान्त बाहु शब्द का प्रयोग है। अतएव यह मूर्ति चतुर्भुजी दशभुजी, अष्टादशभुजी, अथवा सहस्रभुजी भी हो सकती है। वैकृत रहस्य में लिखा है—"अष्टादशभुजा पूज्या, सा सहस्रभुजा सती"। यह महालक्ष्मी मूर्ति अष्टादश-भुजी अथवा सहस्रभुजी दोनों तरह से हो सकती है। जिस साधक के जैसे संस्कार हैं, मूर्ति का आभिर्भाव भी वैसा ही होता है। अतएव इसमें विवाद करना वृथा है। स्थूल बात यह है कि मा का कोई खास रूप नहीं है, तो भी ये सब रूप उसी के हैं। जो साधक जैसे संस्कार लेकर मातृ-मूर्ति गठित करते हैं, मा उसी मूर्ति से आविर्भूत होती है।

असल बात है—"निर्गतं सुमहत्तेजः।" महत्तेज ही मूर्ति रूप से साधक का अभीष्ट पूरा करने के लिये विशेषभाव से प्रकटित होते हैं। जिस वस्तु द्वारा मूर्ति गठित होती हैं, वह वस्तु यदि मिल जाय, तो संकल्प के अनुसार कोई भी मूर्ति चाहे

किसी भी समय देख सकते हैं। जिस कुम्हार के मिट्टी आदि सामग्री हाथ में हैं, वह बारहों माहीने विभिन्न प्रतिमा बना कर धन उपार्ज्जन कर सकता है। उसी तरह जिस साधक के महत्तेज वश में हो गया है अर्थात जो इच्छामात्र से ही महत्तत्त्व तक प्रत्यक्ष कर सकता है, वह जब जो मूर्ति प्रत्यक्ष कर के आत्म तृप्ति करना चाहे तब उसी मूर्ति की पूजा करके विशिष्ट आनन्द प्राप्त कर सकता है। इसी से हिन्दू शास्त्र में प्रायः बारह महीने विभिन्न देव-मूर्ति गठन कर अलग अलग पूजाविधि देखी जाती है। इसी से भारतवर्ष में अनेक प्रकार की देव-देवी की मूर्ति पूजा प्रचलित है। यह अन्य किसी देश में नहीं है। अल्पज्ञ जनों की इसमें भेद दृष्टि उत्पन्न हो सकती है, किन्तु याद रखिये, ऋषियों की चरण-रज से पवित्र किये देश में ऐसा कोई विधान न देख पड़ेगा, जिसके भीतर अति गम्भीर आध्यात्मिकता और पूर्ण विज्ञान प्रकट न होता हो। वर्तमान शिक्षा के दोष से साधना जगत् में भी उच्छृङ्खलता आ गई है। इसी से अनेक देव-मूर्तियों को पूजा-विधि देख कर अल्पज्ञ जन निःसङ्कोच हिन्दुओं को वहु ईश्वर-वादी बतला कर निन्दा करते हैं। खेद है कि ऐसा निन्दा-वाद आजकल किसी किसी भारतवासी के मुख से भी सुना जाता है। धन्य यह काल की अलङ्घनीयशक्ति! जो यथार्थ एकेश्वरवादी हैं, जिनकी वाणी- "एक मैं बहु होऊ" जो उसी "एकेश्वर को" अपने में, विश्व में, प्रतिपरमाणु में; निर्विकार भाव से देखते है, वे जिस देश के लोग है, उस देशवासियों के मुख से ऐसी बात यथार्थ ही मर्मभेदी है, परन्तु वह दूसरी बात है।

हमारे देश में यह देवता-भेद विषयक ज्ञान इतना प्रबल (मज्जागत) हो गया है कि जो धर्म्म-चर्चा करते हैं, जो विधि-पूर्वक साधन भजन करते हैं" उनमें भी अनेक लोग कहते तो है कि कृष्ण, काली, शिव, दुर्गा, राम, विष्णु सब एक हैं, केवल आकार

और नाम ही का भेद है, परन्तु अन्तर में पुर्ण भेदज्ञान पुष्ट करते हैं। जो जिस मूर्ति में विशेष भाव से अनुरक्त है, वह उसके सिवाय अन्य मूर्ति देख कर उसे अपनी 'इष्टमूर्ति' नहीं समझ सकता। ऐसा क्यों होता है? ज्ञान के अभाव से। जिस ज्ञान से भेद बोध दूर हो, भेद के संस्कार न रहें, ऐसे ज्ञान का अनुशीलन करना ही इसका हेतु है। इसी से कहा है कि — जिस वस्तु से मूर्ति बनी है, उसकी ओर लक्ष्य और अनुराग रहे तो फिर अनेक मूर्तियों में भी भेदभाव न रहे।

साधक! अब भी यदि भिन्न भिन्न मूर्तियां देख कर तुम में अनेक ईश्वर-बोध के कलंकित संस्कार बने रहें, तो केवल यह देखते रहो कि कौन वस्तु मूर्ति के आकार से आकारित है। इस अनन्त विचित्रता में जो समरस, आनन्दघन एकत्व अखण्ड भाव से विराजमान है, उसकी ओर लक्ष्य फिराओ तो भेद-ज्ञान दूर हो जायगा। साधना में कहां दोष है, उसे लक्ष्य कर आगे बढ़ो। जहाँ देखो – भेदभाव, बहुवाद परमत का निन्दावाद है समझलो— वह मार्ग ठीक नहीं है। साधना के प्रारम्भ में इस बहुत्व विषयक संस्कार को मुलच्छेद करने होता है। जो ऐसा कर सकते हैं, जो शिस्य के हृदय का बहुत्व-विषयक घोर अन्धकार मिटा सकते हैं, केवल मुख से वा उपदेश से नहीं, बल्कि कार्य्य से, जो ऐसा कर सकते है, वे ही गुरु का यथार्थ कार्य्य कर सकते हैं; यथार्थ हीं वे अहैतुक कृपासिन्धु हैं। जीव! याद रक्खे कि जब तक तुम्हारा भेद ज्ञान दूर न हो तब तक तुम मृत्यु के हाथ से नहीं छुट सकोगे— "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" जो व्यक्ति इस जगत् में नानात्व अर्थात् बहुभाव दर्शन करता है वह मृत्यु से मृत्यु-मुख में पड़ता है। अगणित जन्म मृत्यु का पेषण, सुख-दुःख के प्रबल कोड़ों की मार किसी तरह दूर नहीं होती, हो नहीं सकती—जब तक यह नानात्व दर्शन रहता है।

अस्तु, और एक बात यहां बतलाते हैं कि जो मूर्ति के विरोधी

हैं, नाना रूप कल्पनामात्र कह कर उड़ा देना चाहते हैं, वे याद रक्खे कि वह जो "सुमहत्तेजः" जो नारी रूप से—मुर्ति रूप से—प्रगट हुआ है, जिसके हाथ पांव आदि अवयवों का संस्थान वर्णित हुआ है, वे यथार्थ अवयव नहीं हैं, उन-उन अवयवों के धर्म्ममात्र हैं; जैसे मुख नहीं है तो भी मुख का धर्म्म है, हाथ नहीं है पर हाथ का धर्म है, "सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जित" (गीता ११। १५) अथवा "अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः (श्वेता० ३। १६) यह रहस्य समझाने के लिये ही यह मूर्ति और उसके अवयव-संस्थान उपदिष्ट हुआ है। सुमहत्तेज वा महत्तत्त्व रूप जो प्रकाश है वह सर्वेन्द्रिय-रहित होने पर भी सब इन्द्रिय-धर्मों से युक्त है। यही हाथ, पैर आदि अङ्गो के संस्थान-वर्णन का उद्देश्य है।

आधुनिक वेदान्ती वादीगण जो नेति-नेति मार्ग के साधक हैं वे जब देह, इन्द्रिय, मन तक परित्याग करते हुए विज्ञान पर आरोहण कर सुमहत्तेज प्रत्यक्ष करते है, उसी समय उस विज्ञान को सर्वेन्द्रिय-विवर्जित होने पर भी सर्वेन्द्रिय धर्म्म समन्वित धारण कर सकने पर ही चण्डी का यह उपदेश—इस "एकस्थं तद्भून्नारी" वाक्य की सार्थकता अनुभव कर सकेंगे। यहां आने पर भक्तिभाव अपने आप उपस्थित होता है। यह दो चार बून्द आंसुओं की भक्ति नहीं है, यथार्थ ही भक्ति शब्दवाक्य है। कितना ही नेति-नेति क्यों न कहो, विज्ञानमय कोष की वह विशालता, वह महत्त्व, वह विभुत्व वह व्याप्ति, वह ईश्वरधर्म्म देखने पर उन्हें एकान्त आश्रय कहे बिना रहा नहीं जाता। यह आश्रय आश्रित ज्ञान उदय होने से यथर्थ भक्ति का भाव होता है और इसी आश्रय ज्ञान से विज्ञान का व्यक्तित्व खिल उठता है।

फिर जो सांख्य और योगावलम्बी हैं, वे समाधि-योग में रूप, रसादि तत्त्व साक्षात् कर के जब इस महत्तत्व पर पहुँचते हैं, तब उसे केवल तत्व न समझ कर ईश्वर भाव दर्शन करने पर ही इस

नारी वा मूर्ति का रहस्य अनुभव कर सकेंगे। सांख्य मत में यद्यपि ईश्वर स्वीकार नहीं है, तथापि महत्तत्त्व साक्षात् करने वाले को "जन्य ईश्वर" कहा है। अतएव महत्तत्त्व पर पहुंचने पर उसे ईश्वर कहने में आपत्ति क्या है, यथार्थ ही सब ईश्वर-धर्म्म यहाँ पर प्रगट हैं। और उपासना ईश्वर की ही होती है, परमात्मा वा पुरुष की उपासना नहीं होती। ईश्वरत्व में पहुँचने पर, पुरुष व परमात्मा अर्थात् निर्गुण स्वरूप में अवस्थान अनायास साध्य होता है। वह स्वयमागत एक अवस्था विशेष है। किसी उपाय वा कौशल की सहायता से वह नहीं होती। जब तक तुम किसी उपाय वा कौशल की सहायता से आगे बढ़ते हो तब तक तुम उपासक वा साधक हो। उपासना व साधना इस सुमहत्तेज की ही होती है। जो तेज "एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोक त्रयंत्विषा"।

श्री श्री चण्डी में महामुनि मेधस् ने समाधिसहाय सुरथ को जो उपाख्यान सुनाया था, वह सब दर्शन-शास्त्र-सिद्ध आध्यात्मिक-रहस्य है, यह समझाने ही के लिये इतनी बातें कही गई हैं। याद रखिये कि समाधि सहाय जीवात्मा प्रज्ञानरूपी गुरु के समीप बैठ कर ही चण्डी-तत्व प्रत्यक्ष करते हैं। इसी से प्रथम खण्ड में कहा है—चण्डी विज्ञानमय कोष की साधना है। साधकगण चाहे किसी भी प्रणाली से आगे क्यों न बढ़ें परन्तु सभी सांख्य योग और वेदान्त के भीतर ही चलते हैं। वेदान्त का अद्वैतब्रह्मविचार, सांख्य का तत्वविश्लेषण और योग शास्त्र का अष्टाङ्गयोग ये सब ऋषि प्रदर्शित मार्ग हैं, इन्हें छोड़ कर कोई ऐक पद भी आगे नहीं चल सकता। ज्ञान से वा अज्ञान से उसी मार्ग में ही अग्रसर होते हैं। वही वस्तु पुराणादि शास्त्र में विभिन्नभाव से अनेक प्रकार के उपाख्यानों द्वारा प्रकाशित हुई है।

सौम्येन स्तनयोर्युग्मं मध्यश्चैन्द्रेण चाभवत्।
वारुणेन च जङ्घोरु नितम्बस्तेजसा भुवः ॥१४॥

अनुवाद। चन्द्र के तेज से दोनों स्तन, इन्द्र के तेज से मध्यभाग, वरुण के तेज से जङ्घा और उरु और पृथिवी के तेज से नितम्ब देश गठित हुआ था।

व्याख्या— चन्द्र, मन का अधिपति देवता है। सुधाक्षरण ही चन्द्र का स्वभाव है, इसी से सुधाकर के तेज से मा के पीन-पयोधरयुगल (स्तन) प्रगट हुए। हम जो रूप रसादि विषय, अथवा सुख दुःख, हँसना रोना आदि भाव लेते हैं, वे वास्तव में मन के सिवाय और कुछ नहीं है। साधारण दृष्टि से लक्ष्य होता है— मानो मन ही ने हमको बन्धन में रखा है— शास्त्र भी कहते हैं—"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:" किन्तु – देवी माहात्म्य क्या कहता है, सुनो—"मन ही मा के दो स्तन हैं"। यह बात विचारनीय है, साधारणतः जो अज्ञान, पाप संकीर्णता और परिच्छिन्नता है उसी का नाम मन है। तो भी यह मन मातृस्तन्य कहा है। बात क्या है? कल्पित शिशु चैतन्य को मनोरूप अत्यन्त चंचल होने पर भी सुख रोचक कुछ किसी का आश्रय दिये बिना वह अविच्छिलोक प्राप्त होता है अर्थात् आत्मसत्ता बोध ही नहीं कर सकता। जब तक यह कल्पित शिशु भाव वाला चैतन्य कोई उत्तेजक स्पन्दन न पावे, तब तक वह अपना अस्तित्व समझ नहीं सकता। देखिये। साधारण मनुष्यों का मन कुछ स्थिर होते ही निद्रित हो जाता है। "मैं हूँ" यह बोध भी जाग्रत नहीं रख सकता। मन मानो चैतन्य जीव के आश्रय की लाठी है। जब तक जीव इस कल्पित शिशु भाव को न छोड़े, अर्थात् "मुझको" न पहचाने, तब तक जीव के जो अत्यन्त हितैषी जो जीव को यथार्थ प्यार करते हैं, वह क्या करें वे उसे ऐसे भाव से चलावें कि जिससे जीव अपने "मैं" को न भूल जाय, जिससे दिन-दिन पुष्ट होकर अपना असली स्वरूप पहचान सके। यही तो मित्र का कार्य है।

साधक ! मा ने तुमको पीड़ित करने के लिये, यातना देने के लिये, तुम्हारे भक्ति विश्वास की बल परीक्षा के लिये मन रूप शैतान को नहीं छोड़ दिया है, वल्कि तुमको बचा रखने के लिये ही दिन-दिन तुमको पुष्ट करने के लिये, स्नेहमयी मा मनोरूप स्तन सुधा देती है। कभी तुम इस मन की ओर विचार कर देखो, जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, द्वेष, ईर्षा, असूया, परनिन्दा आदि रहते हैं, वह मन ही मा का स्तन, है। तुम दिन रात उच्छृङ्खलता द्वारा क्या करते हो ? मातृस्तन्य पान करते हो। रूप रसादि—विषयाकार से प्रतिक्षण मन आकारित होता है। हां, यही तो मातृ-स्तन्य है। यह चञ्चलता, यह कामादि वृत्तियों की ताड़ना ही तो तुमको दिन-दिन पुष्ट कर लेती है। कार्य्यतः वही मा का स्नेहसुधा है। तुम मन के भावों को विषय समझ कर भोगते हो, इसी से परिणाम में विशेष ज्वाला सहते हो। मातृ-स्तन्य जान कर भोग करो—परिणाम अमृतमय होगा। यह केवल कवि का कल्पना नहीं है, यथार्थ ही साधना का रहस्य है।

दूसरा विचार इस तरह कीजिये—चन्द्रमा का एक नाम ओषधिपति है। चन्द्र की किरणों से ही धान आदि शष्य के पुष्ट होते हैं, उसी का परिणाम अन्न है। अन्न से ही हमारा स्थुल देह सुरक्षित और पुष्ट होता है। अतएव हम अन्न रूप जिस मातृ-स्तन्य द्वारा पुष्ट होते हैं, वह भी चन्द्र के तेज के सिवाय और कुछ नहीं है। इस तरह क्या अन्नमयकोष, क्या मनोमयकोष, क्या विज्ञानमय कोष, सब ही कोषों में हम मातृ स्तन्य पान करते हैं। साधक। केवल इसी एक बात की धारणा कर सकने से ही जीवन धन्य होता है, साधना की आवश्यकता पूरी हो जाती है। "हमारा जा मन है, वह वास्तविक ही मातृस्नेह है।"

फिर तीसरी तरह विचार कीजिये। मातृ-स्नेह ही घनीभूत होकर दो स्तन रूप से जननी की छाती पर प्रगट होती है। यह धारणा कर सकने से इन्द्रियपरायणता कम होती है। कामिनी

के पीन-स्तनों को भोग के चिन्ह न देखकर घनीभूत स्नेह देखने का अभ्यास करो। नारी-हृदय में सन्तान का स्नेह इतना अधिक है कि वह घनीभूत होकर बाहिर, स्तन के आकार से, प्रकट होता है। पुरुष का स्नेह इतना अधिक न होने ही के कारण पुरुष के स्तन इतने नहीं बढ़ते।

यहाँ पर एक सत्य घटना लिखते हैं। एक छोटे शिशु की मा का वियोग हो गया, और अन्य किसी स्त्री ने उसके पालन करने का भार लिया नहीं, स्वयं पिता ही उसका पालन करता रहा। वह शिशु पूर्व-संस्कार-वश पिता के स्तन से मुख लगा कर स्तन-पान का अभिनय करता रहा। क्रम से उस पर पिता का स्नेह दिन-दिन ऐसा बढ़ा कि वह दिन रात शिशु को लिये ही रहता था। कुछ दिन बाद उसकी छाती के दायें स्तन से सचमुच दूध की धारा निकलने लगी। यह मनुष्य जाति का कायस्थ था उम्र ५० वर्ष के लगभग थी। ग्रन्थकार स्वयं उससे परिचित थे। अस्तु हमें इतना ही याद रखना पर्याप्त होगा कि अन्तरस्थित सन्तान-स्नेह अत्यन्त घन होने से ही वह स्थूल देह में स्तन के आकार से प्रकट होता है। नारी मूर्तिमती सन्तान-स्नेह है, इसी से साधारणतः नारी देह में ही दो स्तनों का प्रकाश है।

यह तो मूर्ति की ओर की बात हुई। आध्यात्मिकतत्व से भी देखिये, पूर्वोक्त तेजोराशि कोई जड़ ज्योति मात्र नहीं है, उसमें जो मातृ-स्नेह पूर्ण मात्रा से विद्यमान है, यह समझाने ही के लिये "सौम्येन स्तनयोर्युग्मम्" कहा गया है। ऐसा ही अन्यान्य अङ्ग प्रत्यंग के सम्बन्ध में भी समझिये।

इन्द्र के तेज से देवी का मध्य भाग गठित हुआ था। ऐश्वर्यार्थक इन्द्र धातु से इन्द्र शब्द बना है। इन्द्र देवाधिपति, सर्वैश्वर्य समन्वित है। देह के मध्य भाग में ही सब ऐश्वर्य का प्रकाश है। भूः आदि पञ्च-लोक स्थूल देह के मध्य देश में ही विराजते हैं। मूलाधारादि विभिन्न केन्द्रों से ही सब ऐश्वर्य

अर्थात् विभूति का विकाश होता है, इसी से इन्द्रतेज ही मा के मध्य देह रूप में कहा गया है। (विभूति का रहस्य आगे प्रगट होगा)

वरुण के तेज से जङ्घा, उरु और पृथिवी के तेज से नितंब देश गठित हुआ था। साधारणतः स्थूल में कण्ठ का ऊपरी भाग ही चैतन्य के विशेष प्रकाश का स्थान हैं। मध्यदेश उसकी अपेक्षा जड़भाव वाला है। तथापि कण्ठ, हृदय, नाभि, लिङ्ग-मूल और मूलाधार आदि स्थानों में, विशिष्ट प्रयत्न करने से, चैतन्य की विशेष अनुभूति अनुभव में आती है। किन्तु देह का जो नीचे का भाग अर्थात् जङ्घों, उरु और नितम्ब देश है वह अत्यन्त जड़भाव वाला है। उन स्थानों में चैतन्य का कुछ विशेष प्रकाश नहीं है। इसी से प्रकृति के सब से अन्तिम परिणाम—अत्यन्त जड़धर्मी जल और क्षिति-तत्व के अधिपति, वरुण और वसुन्धरा के तेज से देवी के जङ्घा, उरु और नितम्बदेश गठित हुये थे। उन अवयवों में विशेष भाव से इन्द्रिय प्रवाह परिचालित नहीं होता है। बल्कि जंघा और उरु देश द्वारा पादेन्द्रिय-प्रवाह परिचालित होता है, इसी से प्रवाह शील जलतत्वाधिपति वरुण के तेज से वे अवयव और अत्यन्त जड़धर्मी क्षितितत्वाधिपति के तेज से नितम्ब प्रदेश गठित हुआ था।

यहाँ एक बात विशेष भाव से याद रखने योग्य है कि इन देव-मूर्तियों में किसी तरह के जड़धर्म का विकास नहीं है, चैतन्य वा प्रकाश-धर्म द्वारा ही यह सब गठित हैं। इस देह के किसी स्थान में जड़त्व नहीं है। इसी से सब अवयव देवता के तेज वा विशिष्ट चैतन्य द्वारा गठित कहे गये हैं। परन्तु कुछ परिच्छिन्नता रहने से ही, प्रथम दृष्टि से वे जड़भाव वाले जान पड़ते हैं। इसी से नितम्ब आदि स्थानों में जड़ धर्म्म का उल्लेख है। वास्तव में वे जड़ नहीं है। जो चैतन्य जड़ाकार से प्रतीत होता है, उसी चैतन्य द्वारा ही देवी का देह गठित हुआ था।

हमारी देह और इस दिव्य-देह में इस जड़ और चैतन्य का ही भेद है। जीव-देह स्थूल जड़ पदार्थों से गठित हुआ है और देव-देह जड़ाधिष्ठित चैतन्य द्वारा गठित है।

यह हुई विशिष्ठ मूर्ति की बात। आध्यात्मिक रहस्य में देखिये—आत्मा का जो महत्तत्व रूप प्रकाश है, साधक उसमें वे सब अवयवधर्म्म अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि सब व्यक्तिधर्म्मों ने वहाँ विकाश पाया है। सूक्ष्म में ऐसे सब अवयव धर्म्म रहने से ही स्थुल में वे प्रगट होते हैं। जो कारण में नहीं वह कार्य्य में रह नहीं सकता। "कारणगुणाः कार्य्यं गुणमारभन्ते"—कारण के गुणों से ही कार्य्य के सब गुण के आरम्भक होते हैं। इसी से परमेश्वर रूप आदि कारण में सृष्टि के—अर्थात् स्थूल के सब धर्म्म और गुण निर्वाध भाव से रहते हैं! योग चक्षुष्मान व्यक्ति ही उन्हें देख सकते है।

कोई अवयव न होने पर भी सब अवयवों के धर्म्म है वह कैसे हो सकते हैं? यह प्रश्न अनेकों के मन में उठ सकता है। यद्यपि भाषा में उसका समझना असम्भव जान पड़ता हैं, तथापि कहते है—मान लो कि तुम ऐसे किसी प्रकाश वा चैतन्यमय सत्ता के समीप उपस्थित हुए हो जहां चक्षुः आदि इन्द्रियां नहीं हैं, परन्तु दर्शनादि कार्य हो रहा है। मानो वह देखता है, सुनता है, बातें करता है-ऐसा बोध होता है। मानो शब्द के प्रयोग से यह बात मन की कल्पना मात्र न समझिये क्योंकि जहां यह धर्म विकाश पाता है वह कल्पना-राज्य से बहुत ऊपर है। वह निश्चयात्मिकावृत्ति अर्थात बुद्धि का स्थान है। मन में जितनी कल्पनायें होती हैं, वे प्रायः कार्य में परिणित नहीं होती, स्थुल में प्रकाशित नहीं होती। परन्तु इस क्षेत्र में "मानो" वे इतनी सत्य, स्थिर और निश्चित है कि इसमें अन्यथा कभी नहीं होता। और एक बात है कि मन की कल्पनायें कुछ दिन बाद भूल जाती हैं; किन्तु यहां जो अनुभव होता है, वह दीर्घकाल तक याद रहता है।

ब्रह्माणस्तेजसा पादौ तदंगुल्योऽर्क तेजसा ।
वसूनाश्च करांगुल्यः कौवेरेण च नासिका ॥१५॥

अनुवाद—ब्रह्मा के तेज से दोनों पैर, सूर्य्य के तेज से पैरों की अङ्गुलियां, वसुओं के तेज से हाथों की अङ्गुलियां और कुबेर के तेज से नासिका हुई।

व्याख्या—रक्तवर्ण ब्रह्मा के तेज से मा के दो रक्त चरण गठित हुए थे। यहां अप्रासंगिक होने पर भी साधक रचित बहुजन विदित एक संगीत लिखने को विवश हुए हैं। यद्यपि उस संगीत के केवल एक अंश के साथ हमारे इस मंत्र के प्रथमपाद की समता है, तथापि संगीत इतना सुन्दर और ऊँचे-भाव-मय है कि सहृदय व्यक्तिमात्र उसमें आकृष्ट होगा। ग्रन्थकार के कर्मजीवन के साथ भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। गान आगमनी है—उमा बहुत दिन बाद अपने पिता के यहां आ गई थीं, जननी मेनका उनका आभरण-हीन देह देखकर दुःखित होने लगीं। तब उमा ने मा को समझाया:—

आमार नाइ आभरण अमन कथा मुखे एनो ना मा आर।
आमिइ केवल ए जगत करते पारि अलङ्कारेर अहङ्कार॥

हे माता, मुझपर अलङ्कार (गहना) नहीं है, ऐसी बात मुख में न लाओ, इस संसार में केवल मैं ही अलङ्कारों का अहंकार कर सकती हूं।

ए जगत बटे आमार अलङ्कारे साजान थाल।
प्रातर्मध्य सायंकाले परिये देन स्वयं काल॥
आबार निशाकाले बदले पराय, ताते आलो आंधार दुई देखाय।
आहा, वल ना भवे कार वा आछे एमन अलंकार॥ १॥

यह संसार निश्चय ही मेरे अलंकारों का सजा हुआ थाल है; जिसको काल (शिवजी) प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल को मुझे पहना देते हैं। फिर (शिवजी) निशाकाल में बदल कर पहनाते हैं। उसमें अन्धेरा उजेला दोनों ही दीखते हैं। आहा!

कहो तो इस संसार में किस के पास ऐसे अलंकार हैं ॥ १ ॥

के वले मा तोमार उमार अलंकारेर अप्रतुल ।
परि आमि स्थिर तड़ितेर सूताय गाँथा तारार फूल ॥
प,रे थाकि बले बलि, इन्द्र धनु एकावली ।
ता बइ जयन्ती कि आर परबे वैजयन्त हार ॥ २ ॥

हे मा ! कौन कहता है कि तेरी उमा को अलङ्कारों की कमी है ? मैं स्थिर तड़ित् (बिजली) के सूत में गुँथे हुए ताराओं के फुल पहिनती हूँ। मैं इन्द्र धनुष की एकलड़ी पहनती हूं। इस जयन्ती के अतिरिक्त वैजयन्तहार और क्या पहना जा सकता है ? ॥२॥

जीवेर जीवन नासार नोलक तात जाने सर्व-जन ।
पद्मपत्र-जलेर मत दोले ये ता सर्वक्षण ।
ज्ञान-समुद्रेर महारतन उपनिषद् आमार कर्णभूषण ।
मुकुट आमार सदानन्द नाशेन भवेर अन्धकार ॥३॥

जीवों का जीवन मेरी नाक का लोलक है, यह सब ही जानते हैं, जो कमल के पत्ते पर जल के समान सर्वदा दोलायमान रहता है। ज्ञान समुद्र का महारत्न जो उपनिषद् है, वही मेरा कर्णभूषण है, सदानन्द मेरा मुकुट है, जो संसार के अन्धकार का नाश करता है ॥३॥

ओ मा वराभय मोर हातेर वलय से तो सवार जाना कथा ।
करुणा कङ्कणे परि मुक्ति फलेर मुक्ता गांथा ।
माया-वस्त्रे काया ढाकि, सतत संगोपने थाकि ।
नितम्बे नियत परि सप्तसिन्धु चन्द्रहार ॥४॥

हे माता, वराभय मेरे हाथों के वलय (कंकण), यह तो सब की जानी हुई बात है, मुक्ति-फल देने वाले मुक्ताजड़ित मेरे करुणा-कंकण है। मैं सर्वदा अपने को माया-वस्त्र से ढक कर गुप्त रहती हूँ और नितम्बों पर सप्तसागर रूपी चन्द्रहार पहनती हूं ॥४॥

ओ मा ! अष्ट सिद्धिर नूपुर परि, तातेई वेशी अनुराग।
पुण्य गन्ध-स्वरूपिणी स्वयं श्री मोर अङ्गराग।
ब्रह्मा आमार अलक्त-जल, केशव आमार चोखेर काजल।
कालान्तक ताम्बूल आमि चर्वन करि बारम्बार ॥५॥

हे मां ! मैं अष्टसिद्धियों के नूपुर पहिनती हूं। मुझे उनसे ही अधिक अनुराग है। पुण्यगन्धस्वरूपनी लक्ष्मी स्वयं मेरा अङ्गराग है। ब्रह्मा मेरे चरणों का अलक्त-जल (महावर) है और विष्णु मेरी आंखों का अन्जन है, बारम्बार कालान्तक (यम) ताम्बूल चबाती हुं ॥ ५ ॥

ए सब "गोविन्द" देखे छे भालो सुधाईले बलवे सेइ,
बाछा बाछा काला मेघेर आमला बाटा केशे देइ।
पोहाइले विभावरी शिशु सूर्य्येर सिन्दुर परि,
चाँद वेटे चन्दनेर फोंटा दिये थाकि अनिवार ॥ ६ ॥

पिसे हुए आमलों की तरह पीस कर कभी कभी चूने हुए काले मेघों की स्याही केशों में देती हुं, रात बीतने पर लाल सूर्य्य का सिन्दुर पहनती हुं, सदा काले मेघों से लपेटे हुए चाँद का टीका देती हुँ ॥ ६ ॥

इस संगीत छल से मा का जो रूप साधकों के समीप प्रकाशित किया गया है, इस रूप में एक बार मा को देखने की चेष्टा करो तो देखोगे। "ब्राह्मणस्तेजसा पादौ" एवं 'ब्रह्मा आमार अलक्तजल' ये दोनों बातें एक हैं। जिन साधकों ने मा को इस मुर्ति से देखा है वे ही चण्डी का रहस्य सहज में समझ सकते हैं।

अस्तु, ब्रह्मा सृष्टि-शक्ति है। सृष्टि-शक्ति ही मा के दोनों चरण, अर्थात चरण-स्थानीय हैं। निश्चला मा सृष्टि रुप से अपना प्रकाश करने के लिये चला अर्थात गतिविशिष्टा हुई है। निरन्जन-सत्ता से भावरञ्जनामय अवस्था में उपनीत होकर, फिर निरंजन-सत्ता पर जाना, यही तो मा का सृष्टि-चक्र वा जगत्—लीला है। इसी से मा के चरण वा गति कहने से सृष्टि तत्त्व वा ब्रह्मा को ही

समझाया है । गम् धातु से जगत् शब्द बना है, पाद शब्द का अर्थ ही गति है । पूर्व से ही कहा है कि मा इन्द्रिय-विहीन होने पर भी इन्द्रिय धर्म विशिष्ट है। इसी से स्थूल दो पद न रहने पर भी गति शक्ति है; मा गति रूपिणी है।

मन्त्र में "पादो" यह द्विवचनान्त पाद शब्द का प्रयोग है। मा की गति दो तरह की है, एक जगत् मुखी दूसरी आत्माभिमुखी। एक विकर्षण दूसरा आकर्षण, यह उभयविध गति का साधारण नाम सृष्टि है दो तरह की गति वाली होकर ही मा यह अपूर्व विश्वलीला सम्पादन करती है। यहां ब्रह्मा शब्द का अर्थ हिरण्यगर्भ है—जहां सृष्टि, स्थिति और प्रलय संघटित होती है।

सूर्य्य के तेज से पैरों की अन्गुलियां । सूर्य्य, तेजस्तत्त्व का सर्वश्रेष्ठ स्थूल विकाश क्षेत्र है। तेजस्तत्व की ज्ञानेन्द्रिय चक्षु अर्थात् दर्शनशक्ति, एवं कर्म्मेन्द्रिय पाद वा गतिशक्ति है। गतिशक्ति पैर की अन्गुलियों में ही चरम परिणति को प्राप्त होती हैं। इस कारण अक तेज से ही मा के पैरों की अन्गगुलियां गठित हुई थी।

"वसूनाञ्च करांगुल्यः' —वसु देवताओं के तेज से हाथों की अंगुलियां। वसु शब्द का अर्थ है, धन। रूप रसादि विषयगत विषयत्व से ईश्वरत्त्व पर्यन्त सब ही धन वा वसु हैं। वह पाणि इन्द्रिय वा ग्रहणशक्ति का विषय है इसको ग्राह्य भी कहा जाता है। ग्राह्य वस्तु को ग्रहण करने के उद्देश्य से ही ग्रहणशक्ति रूप पाणि इन्द्रिय की सृष्टि होती है। इसी तरह सब इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझिये। श्रुति कहती है—"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः" इन्द्रियों से विषय श्रेष्ठ हैं। विषयों ही के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है। पहले रूप, पीछे रूप को ग्रहण करने के लिये चक्षु। पहले शब्द, पीछे कर्ण। पहले धन, पीछे पाणि वा ग्रहणेन्द्रिय। हाथों की अंगुलियां ग्रहण शक्ति का विशेष प्रकाशस्थान अर्थात् पाणि इन्द्रिय की चरम परिणति है। वह सब प्रकार के धन की ग्राहक है। इसी कारण वसु के तेज से मा की हाथों की अंगुलिया हैं।

कुवेर के तेज से नासिका। नाशिका घ्राणेन्द्रिय है । पृथिवी तत्व के सात्विक अंश से उसका विकाश होता हैं । क्षिति वा पृथिवी कुवेर लोकपाल के परिवार में एक हैं। फिर कुवेर—धनाधि-पति हैं। पाँच तरह का विषयत्व ही धन है । क्षिति में पाँचों प्रकार का धन है। कुवेर उसका अधिपति होने से उसके तेज से मा की नासिका गठित हुई। पक्षान्तर में; छान्दोग्यश्रुति के उपदेशा-नुसार देखते हैं कि प्राण ही सर्वधनाधिपति है। यह प्राण ही स्थूल में आकर वायुरुप से —श्वास प्रश्वासरूप से —नासिका द्वारा प्रवा-हित होता है। इस भाव से भी धनाधिपति के तेज से हो नासिका, यह निसङ्कोच कहा जाता है ॥ १५ ॥

तस्यास्तु दन्ताः सम्भूताः प्राजापत्येन तेजसा ।
नयनत्रितयंजज्ञे तथा पावकतेजसा ॥१६॥

अनुवाद। प्रजापति के तेज से उसके दाँत, एवं अग्नि के तेज से तीन नेत्र गठित हुए थे।

व्याख्या—आनन्दमयी मा के आनन्दमय-जगत् रुप हास्य का बिकाश-स्थान दशन-पंक्ति है। विश्व की प्रजा जिस शक्ति से समुद्भूत है, वही प्रजापति हैं। जीव जगत के ये जो जन्मादि षड्भाव विकार हैं, यही मा की हँसी है। इसी से प्राजापत्येज से मा के दाँत उत्पन्न हुए। फिर दाँतों ही से चबाया जाता है। बिश्व संहारिणी मा की बिश्व-संहारण लीला दाँतों से ही प्रगट होती है। इसी से अर्जुन विश्वरुप दर्शन करते करते दंष्ट्रा कराल अति भीषण विश्वग्रासी मुखमण्डल देखकरके भय से व्याकुल हो गये थे। प्रथम खण्ड में कहा है, हम ही मा के अन्न हैं। यह विराट ब्रह्माण्ड मा का भोग मात्र है। वेदान्तसूत्र कहता है—"अत्ताचराचर ग्रहणात्" (१।२।९) इस चराचर का ग्रहण अर्थात संहरण करने के कारण आत्मा मा "अत्ता" भक्षण करने वाली है। चराचर सब वस्तुओं को अदन वा भक्षण करती है, इसी से वह अत्ता है । प्रजापति मा

की इस संहार-लीला के सहायक हैं। देखो साधक, प्रजापति बड़े हर्ष से यह विश्व प्रजारूप खाद्य सामग्री रच कर, जगत्पालक विष्णु के हाथ में दे देते हैं, वे उसे ठीक ठीक पाक करके प्रलय के देवता विज्ञानमय शिव के हाथ में दे देते हैं, और मातृ-चरणों के एक-निष्ठ अधिकारी महेश्वर यह सुपक्व अन्न मा के अत्ता के दंष्ट्रा कराल मुखमण्डल में आहुति देते हैं। एक बार सचमुच ही इस ब्रह्माण्ड यज्ञ की ओर दृष्टि डालो—तुम्हारी संकीर्णता, दुर्बलता दूर हो जायगी। देखो, ये जगत् मा का भोगमात्र है; यह दर्शन करने से जीव के दुर्भोग का अन्त हो जाता है।

त्रिनयन - चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि। यही मा के त्रिकालदर्शी तीन नेत्र हैं। ऋषि ने यहाँ चन्द्र-सूर्यादि का उल्लेख न करके एकदम उसके मूलीभूत तेजस्तत्व की कथा कही है। नेत्र ही प्रकाशसाधन इन्द्रिय है। चक्षु तीन हैं। (१) स्थूल-चक्षु इसके द्वारा सन्निहित भौतिक रूप का अतिसामान्य अंश प्रकाशित होता है (२) मनश्चक्षु—इसके द्वारा असन्निहित स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का कुछ अंश प्रकाशित होता है (३) ज्ञानचक्षु—इसके द्वारा स्थूल सूक्ष्म अतीत अनागत अर्थात् सब ज्ञेय वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है। जिस प्रकाश सत्ता के प्रभाव से सूर्य चन्द्रादि का प्रकाश है, वह मूलीभूत प्रकाश ही मा के नेत्र हैं। एक मात्र ज्ञान ही उसका स्वरुप है। शास्त्र में ज्ञान को ही अग्निरुप से उपदिष्ट हुया है। इसी से मन्त्र में अग्नि के तेज से तीन नेत्र कहे गये हैं। श्रुति भी कहती है-"तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति"।

जीव! देखो मा हमारी चन्द्र, सूर्य, अग्नि रुप तीन नेत्रों से दिन-रात तुम्हारी ओर स्नेह की दृष्टि से देख रही है। अजी सूर्य-सूर्य नहीं है—मातृ-चक्षु है, चन्द्र—चन्द्र नहीं है, मातृ चक्षु है,

अग्नि—अग्नि नहीं है, मातृ-चक्षु है। यह केवल सीख लेने से कुछ भी फल नहीं होगा, यथार्थ ही मा के चक्षु रुप से समझने का चेष्टा करो। मा के चक्षु से चक्षु मिला कर कातर प्राण से मा, मा कह कर पुकारो, जीवन धन्य हो जायगा

भ्रुवौ च सन्ययो स्तेजः श्रवणावनिलस्य च।
अन्येषां चैव देवानां सम्भवस्तेजसां शिवा ॥ १७ ॥

अनुवाद—दोनों सन्ध्याओं के तेज से मा के दो भ्रु, वायु के तेज से दो कान, एव अन्यान्य देवताओं के तेज से अन्यान्य अवयव, इस तरह मङ्गलमयी मा की विशिष्टमूर्ति आविर्भूत हुई थी।

व्याख्या – प्रातःकालीन एवं सायंकालीन सौन्दर्य ही मा के दो भ्रू हैं। मा यो हामारी सुषमामयी विश्व-प्रकृति रुप से सदा सुप्रकाशित है यह दोनों सन्ध्या के समय कुछ प्राणमय दृष्टि से दर्शन करने से सब ही अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि एक छोटे से बालू के कणा में भी उसका महत्त्व, उसका सौन्दर्य्य अखण्ड, भाव से विराजता है, तथापि उसके दर्शन के उपयुक्त चक्षु, अति अल्प लोगों को भाग्य से ही प्राप्त होते हैं। किन्तु दोनों सन्ध्याओं में यह विश्व-प्रकृति जो अनिर्वचनीय शोभाविमण्डित हो कर मातृ-सुषमा का कुछ-कुछ परिचय देती है, इसे प्रायः सब ही अनुभव कर सकते हैं। सौन्दर्य का उल्लेख करने का प्रयोजन यह है कि दो भ्रू ही देह के सौन्दर्य विकाश के स्थान हैं। भ्रू के बाल उतरवा देने अथवा उन पर रंग लगा देने से शरीर का अन्य कुछ परिवर्तन न करने पर भी आकृति बिलकुल, बदली हुई जान पड़ती है; शारिरीक सौन्दर्य के साथ भ्रुद्वयका इतना निकट सम्बन्ध है। इसी से ऋषी कहते हैं कि जो चैतन्य सन्ध्या-कालीन नसौन्दर्यरुप से अपना प्रकाश करता है, उसी सन्ध्याभिमानी देवता के तेज से मा के भ्र दोनों गठित हुए थे।

अब आध्यात्मिक भाव से देखिये की जीव और ईश्वर की मिलन-रेखा एक सन्ध्या है, ईश्वर और परमात्मा की मिलन रेखा दूसरी सन्ध्या है। प्रथम प्रातः सन्ध्या अन्धकारमय जीवभावीय अज्ञानता का नाश और ज्ञानमय शुभ प्रकाश-सत्ता का अविर्भाव है। दूसरी सायं सन्ध्या—सब विशिष्ट-ज्ञान का विलय और निर्विशेष सर्वभाव-रहित निरन्जन-सत्ता में प्रवेश है। मा की सन्तान मा की भ्रु में स्नेह के सिवाय और कुछ देख ही नहीं पाती; इसी से साधकगण इस जीवेश्वर मिलन रुप प्रातः संध्या में और ईश्वर और परमात्मा के मिलन रुप साय संध्या में केवल मातृ स्नेह देख कर मुग्ध होते हैं।

अनिल के तेज से मा के दो कान। यद्‌पि आकाश से ही शब्द की उत्पत्ति है, तथापि वायु ही उसका परिचालक है। वायु के बिना शब्द प्रत्यक्ष नहीं होता अतएव वायु देवता के तेज से ही मा के दोनों कान गठित हुए थे, इसी तरह अन्यान्य देवताओं के तेज से मा के अपरापर अवयव संगठित हुए थे। एवं इसी तरह ही शिवा मङ्गलमयी मा असुर निधन के लिये विशिष्टभाव से आविर्भूत होते हैं।

प्रकाश सत्ता से किस प्रकार विशिष्ट मूर्ति का दर्शन होता है, वह पूर्व कहा गया है। बुद्धिसत्त्व प्रकाश होने से अर्थात् रजो, तमोगुण के निर्जित होने पर विशुद्ध सत्त्वगुण का प्रकाश होने से साधक जब उस प्रकाशमय अवस्था में अवस्थान करने की सामर्थ्य पाते हैं तब अपने संस्कारानुसार विशिष्ट मूर्ति का आविर्भाव होता है, एवं वराभय देकर साधक को उत्साहित और धन्य करती हैं फिर साधक द्रुतगति से मुक्ति मार्ग पर आगे बढ़ता है। पूर्व कहा है कि देव-देवो की मूर्ति दर्शन कर सकने ही से, साधना का शेष अथवा जीवन की सफलता प्राप्त नहीं हो जाती, मूर्ति दर्शन से ही ईश्वर प्राप्ति अथवा मुक्ति नहीं होती। यह तो ईश्वर प्राप्ति वा मुक्ति के मार्ग में विशेष अनुकुल गुरु-कृपा मात्र है। जो वस्तु

मूर्ति रुप से प्रकाश पाती हैं उसको जानना और उसका स्वरुप समझना भी अवश्य उन्हीं की कृपा से होता है—ईश्वर प्राप्त होने से, साधक के हृदय में थोड़े बहुत ईश्वर-धर्म्म अवश्य ही प्रगट होंगे।

जो भी हो साधक की विशिष्ट मूर्ति-दर्शन की प्रबल आकांक्षा जब दूर हो जाती है, तब वह सर्वदेव शरीर से उत्पन्न तेजोराशि वह ही विश्वमय विराट मूर्ति में परिणत होती है, एवं विश्व ही पमेश्वर की स्थुल-मूर्ति है, साधक यह उपलब्धि कर सकता है। भक्त प्रवर अर्जुन भगवान् का यह विश्वरूप देख कर ही संशय रहित होगया था। मायावच्छिन्न चिदाभास कहो, हिरणगर्भ कहो अथवा महदात्मा कहो, उससे कुछ हानि लाभ नहीं, असल बात यह है कि उस सर्वेन्द्रियधर्मसमन्वित स्वरुप का आविर्भाव जब तक न हो, तब तक जड़त्व ज्ञान दूर नहीं होता, हृदय का ग्रन्थि-भेद नहीं होता, संशय न हो जाता है। यह बात अच्छी तरह समझाने के लिये ही चण्डी में इतने स्पष्ट भाव से मा के विभिन्न अवयव का संस्थापन बर्णित हुआ।

श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में जो लकड़ी की जगन्नाथ मूर्ति प्रतिष्ठित है वह भी इस सर्वेन्द्रिव विवर्जित सर्वेन्द्रिय धम्म का स्थूल प्रतिबिम्ब मात्र है। कोई इन्द्रिय नहीं तो भी सब इन्द्रियों के धर्म्म है। ऐसे एक सूक्ष्म भाव को स्थूल में दिखाने के लिये वह हस्त-पदादि रहित जगन्नाथ-मूर्ति के सिवाय अन्य किसी रुप से प्रगट नहीं किया जा सकता, कैसी सुन्दर! सत् चित् आनन्द स्वरुप दारूमय की जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की मूर्ति है! हाथ पांव आँख कान आदि का आभास मात्र है, परन्तु उसका अवयव एक भी नहीं हैं। धन्य वे जो इसके प्रतिष्ठाता है। विशाल माया जलधि के तट पर—"अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्य-चक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः" पुरुषोत्तम विराजमान हैं। वर्ण-[illegible], आश्रम [illegible] विलुप्त है। सब ही समान एक रस हैं।

समत्व के समीप वर्णभेद, जातिभेद तिरोहित है; पूजा नहीं, अर्चना नहीं, केवल दर्शन और भोग! केवल दर्शन और भोग! अतीन्द्रिय वस्तु को इस तरह इन्द्रियभोग्य करने का उपाय इस भारत में जितना अधिक है उतना और कोई देश में नहीं है। इस देश के ऋषि, इस देश के साधकपुरुषगण उस वाक्य मन के अतीत वस्तु से कितना प्रेम करते थे, कितने घनीभूत प्रेम से उस परम पुरुष के साथ बँधे रहते थे, उसका प्रमाण—इस देश के तीर्थ, भिन्न-भिन्न देव-देवियों की मूर्तियाँ, इस देश के गृह देवता हैं। अतीन्द्रिय प्रेम कितना घन होने से आत्मविभोर हुआ जाता है, जब हुआ जाता है, स्थूल में प्रकट होता है, उसकी हम धारणा भी नहीं कर सकते। जब तक स्थूल के अतीत बात पर कितने ही हम आशक्तियुक्त क्यों न हों, स्थूल जो हमारा अत्यन्त प्रिय है वह बोलने नहीं होता। हमारा देह ही इसका प्रकृष्ट प्रमाण है कि हम अति अधिक स्थूलत्व प्रिय है। अतएव हम अपने प्रियतम को ठीक अपनी तरह स्थूल में लाकर आदर करें, सेवा करें, भोग करें, यह कितना स्वभाविक है। कितना सुन्दर है। इस तत्त्व की चिन्ता करने में भी—विस्मय से, आनन्द से अभिभूत होने होता हैं।

जो लोग तीर्थ, देव मूर्ति आदि को अज्ञान से कल्पित और स्वार्थी ब्राह्मणों का अर्थपार्ज्जनका कौशल मात्र बतला कर उड़ा देने की चेष्टा करते हैं, वे एक बार धीर भाव से यह तत्त्व चिन्ता कर देखें। इनमें अज्ञान, भ्रान्ति और ठगई बिलकुल नहीं है यह बात कह नहीं सकते; किन्तु एक महासत्यज्ञान भी और घनीभूत प्रेम जो भारतवासियों का मज्जागत संस्कार है, यह अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं है। तीर्थ एवं देवमूर्तियां इसका समुज्वल प्रमाण हैं। यद्यपि स्थूल देव देवियों की पूजा करके यात्रा थियेटर के कृष्ण, विष्णु, शिव, दुर्गा देख कर एवं कथकर पण्डितों के मुख से पौराणिक कथायें सुनकर अधिकांश नर-नारी ईश्वर तत्व सम्बन्ध में अनेक

भूल धारणायों को लेकर ही उनको यथार्थ ज्ञान मार्ग पर सहज ही लाया जा सकता है। उपयुक्त शिक्षा के अभाव से ही ऐसी भ्रान्ति वा विपरीत फल हो गया है। इसी से कहते हैं कि तोड़ने की चेष्टा न करो। जो है उसी को चैतन्य प्राणमय करो। नया कुछ सीखना नहीं होगा, नया कोई आविष्कार नहीं करना होगा। जो है उसी को समझने की चेष्टा करो, आप समझ कर दूसरों को समझाओ, देश का अज्ञान दूर होगा। प्रातः स्मरणीय ऋषियों ने कुछ कहने वा प्रकाश में नहीं छोड़ा है, जो अपने मस्तिष्क धर्म के द्वारा आविष्कार करके समझना पड़े। केवल उनका आदेश पालन, उनके चलाये हुए विधि निषेध का अनुशीलन करने से ही मनुष्य धन्य हो सकते हैं

ततः समस्त देवानां तेजोराशि मसुद्भवाम्।
तां विलोक्यमुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः ॥१८॥

अनुवाद—अनन्तर समस्त देवताओं के तेजो राशि से उत्पन्न उस देवी मूर्ति को देख कर, महिषासुर के अत्याचार से पीड़िष देवता बड़े प्रसन्न हुए।

व्याख्या—असूर के अत्याचार से देवता अत्यन्त पीड़ित हुए थे - इन्द्रियाधिष्ठित विशिष्टचैतन्य समूह सन्चित कर्म संस्कारों के अत्याचार से विव्रत हो गये थे, इसी से मा का आविर्भाव हुआ है। महिष द्वारा पीड़ित न होने से तेजोराशि समुद्भवा का आविर्भाव नहीं होता है। जीव मात्र को ही वह अर्द्दन व पीड़ा अनुभव करनी होती है "मैं विषयाभिमुखी इन्द्रियों के अत्याचार से जर्जरीभूत हूं। ऐसा बोध जिस समय यथार्थ भाव से प्राण में प्रकट होगा, उसी समय मा चण्डी मूर्ति से आविर्भूत होगी। अजो! सन्तान को पीड़ित हुआ देख कर क्या माता कुपित हुए बिना रह सकती है। फिर यह तो कल्पित मा नहीं है सच्ची मा है! अब देखोगे तुम खूब आर्त

हो कर मा मा कह कर पुकारते हो; परन्तु मा का आविर्भाव समझ नहीं सकते, तब तक समझो कि तुम यथार्थ आर्त हो नहीं सकते हो: केवल आर्त की तरह भान करते हो। यह भी निन्द-नीय नहीं है, इस तरह आर्त होने का भान करते-करते किसी दिन यथार्थ आर्त भाव भी आ ही जायगा।

मा हमको बार बार महिष द्वारा पीड़ित कराती रहती है। जब तक वह उत्पीड़न हमारे बोध में नहीं आता, जब तक इस संसार की हमें सचमुच अनित्य एवं असुखमय बोलकर प्रतीति नहीं होती, तब तक मा क्लेश रूप से ही आती रहती है। इसके बाद जब यह संसार, यह देह धारण, इस देहेन्द्रिय मन बुद्धि में विचरना ये सब भी महा क्लेशस्वरुप बोध होते हैं, तब ही जीव कातर होकर सजल नेत्रों से कहता है—"हम दीन सन्तान अत्यन्त क्लेश पा रहे हैं, एक वार आकर देखो मा, हमारा जीवन कैसा कठोर यन्त्रणामय है अब तो सहा नहीं जाता, इस क्लेश को समझने पर भी इसके हाथ से परित्राण नहीं पा सकते"। ठीक ऐसा भाव जब प्राण के अन्तस्तल में प्रगट होने लगता है, तब ही मा परित्राण परायणमूर्ति से आविर्भूत होती है। साधक! मुख से हजार बार "शरणागत दीनार्त परित्राण परायणा" कहने से कुछ विशेष फल नहीं होता। तुम को शरणागत, दीन और आर्त होना होगा। ये तीन लक्षण तुम में प्रकाश पाने ही से तो मा परित्राण परायण मूर्ति से अपना प्रकाश करेगी। तुम्हारे ही इन्द्रियाधिष्ठित देवताओं की प्रकाशसत्ता से मातृ-मूर्ति प्रकाशित होगी। देवता हर्षित होंगे। तुम भी परमानन्द पाओगे।

शूलं शूलाद्विनिष्कृष्य ददौ तस्यै पिनाकधृक्।
चक्रञ्च दत्तवान कृष्णः समुत्पाद्य स्वचक्रतः ॥१६॥

अनुवाद—त्रिशूलधारी शिव ने अपने शूल से शूल

आकर्षण कर उस देवी मूर्ति को समर्पण किया। इसी तरह कृष्ण ने भी अपने चक्र से चक्र उत्पन्न कर उनको दिया।

व्याख्या—इस मन्त्र से लेकर क्रम से ११ मन्त्रों में देवताओं का अस्त्रादि समर्पण वर्णित हुआ है। प्रत्येक देवता का एक-एक विशेष अस्त्र है। यह अस्त्र ही उन देवताओं की शक्ति है। याद रखिये साधक, विशेष-विशेष भावान्वित चैतन्य ही देवता हैं। यद्यपि यह बात, पूर्व अनेक बार कही गई है, तथापि यह मूल तत्व भूल जाने से असली विषय समझने में कठिनता पड़ेगी; इस कारण बीच बीच में याद लगा देते हैं। अस्तु, चैतन्य जिस तरह किसी विशेष भाव को लेकर प्रकाश पाने से देवता शब्द वाच्य होते हैं, उसी तरह उस भावप्रकाशकी जो शक्ति है अर्थात् जिस विशेषशक्ति के प्रभाव से चैतन्य इस तरह खण्डित होकर प्रकाश पाता है, वह शक्ति ही उस देवता का अस्त्र है। अत व अस्त्र शस्त्रादि समर्पण शब्द से स्व-स्व व्यष्टिशक्ति का समर्पण समझना होगा। पूर्व जो विभिन्न देवताओं का तेज निकलने की बात कही गई है वह देवताओं के विभिन्न प्रकाशभाव से निर्गम, और इस अस्त्र समर्पण शब्द से अपनी अपनी कार्य करी शक्ति का समर्पण है, यह समझ सकने ही से अस्त्र अर्पणका रहस्य अनुभव होगा। क्रम से यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

यह शक्ति समर्पण मामला क्या है? स्व-स्व खण्ड शक्ति को एक अद्वितीय अखण्ड महती शक्ति रूप से समझ ने के नाम ही शक्ति समर्पण है। एकमात्र सर्वशक्ति मयी मातृ शक्ति ही हमारे प्रत्येक के भीतर प्रकाश पाती है, यह अनुभव कर सकने से ही शक्ति समर्पण होता है। शक्ति समुद्र के जिस क्षुद्र अंश को अपनी शक्ति रूप से सीमा मान रक्खा है अर्थात् जिसको हम पुरुषकार यत्न वा अध्यवसाय बोल कर पकड़ रहे हैं वह एकमात्र मातृशक्ति व्यतीत और कुछ नही है। जो एक मात्रपुरुष है उसी को कृति का नाम पुरुषकार हैं, यह अनुभव कर सकना ही शक्ति समर्पण करना है।

केवल मुख से कहने से नहीं होगा-'त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। यह अनुभव करना होगा यथार्थ इन्द्रियाधीश को हृदय में देखना होगा। हृषीकेश दर्शन के पूर्व ऐसा कहना मिथ्या-चार है। यह हृषीकेश दर्शन और शक्ति समर्पण प्रायः एक ही बात है। एक अखण्ड चैतन्य रूपिणी मा हमारी ही इन्द्रिय प्रणाली रूप से प्रकाश पाती है, मन बुद्धिचित्त अहङ्कार रूप से प्राण अपानादि पञ्चवायु रूप से, क्षिति-अप् आदि पंचभूतरुप से प्रकाश पाती है, यह समझ सकने ही से शक्ति समर्पण हो जाता है।

एक दिन में यह नहीं होता। प्रथम वे शक्तियां मानो हमारी ही शक्ति हैं, इस भाव से पकड़ पकड़ कर मातृ-चरणों में अर्पण करते हैं। पत्र पुष्प फलादि के अर्पण वा द्रव्ययज्ञ से उसका आरम्भ होता है; क्रम से व्रत-नियम उपवास आदि तपोयज्ञ, एवं यम नियमादि योगयज्ञ के अन्दर से अन्त में स्वाध्याय में वा ज्ञानयज्ञ में पहुंचने होता हैं। तब साधक स्व का अध्ययन करते हैं, अर्थात् अखण्ड ज्ञान वा परमात्मा का पता पाते हैं। यही चरम समर्पण है, यही समर्पण आत्मसमर्पण है। आत्मलाभ आत्मसमर्पण बिना नहीं होती—हो नहीं सकती। साधक ! जब तक देखोगे कि "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" यह अवस्था प्राप्त नहीं हुई, तब तक समझोगे कि–आत्म समर्पण नहीं हुआ 'मैं' को सम्यक् रुप से मातृ चरणों में अर्पण करने के लिये प्रति कर्म में मातृ कर्तृत्व दर्शन करना होता है। 'निवेदयामिचात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर" कह कर प्रतिदिन आत्म निवेदन किया जाता है, ऐसा करते करते तब आत्म समर्पण की योग्यता प्राप्त होती है। शक्ति समर्पण उसकी मध्य अवस्था है। हम जो देख रहे हैं वह दर्शन शक्ति हमारी नहीं मा की, मा तुम ही हमारे अन्तर्यामि रुप से अवस्थान करके इस दृक् शक्ति रुप से प्रकाशित होती हो जो शब्द सुनते हैं, उसकी श्रवण शक्ति रुप से भी मा तुम हो।

इसी तरह घ्रान शक्ति, स्पर्श शक्ति, आस्वादन शक्ति एवं लेना, चलना वाक्य प्रयोग, प्रजनन विसर्जन रूप कर्मेन्द्रिय की शक्ति रूप से भी मा, तुम ही नित्य विराजती हो, फिर स्मृति कल्पना अभिमान और विवेकरुप अन्तःकरण शक्ति भी मा तुम ही हो। इस तरह सर्वविशेष शक्ति को जब मातृ-शक्ति रुप से समझा जा सकता है, तब ही यथार्थ शक्ति समर्पण करना होता है। इसके बाद होता है आत्मसमर्पण। आत्म समर्पण होने से ही जीवत्व बोध तिरोहित हो जाता है। परमानन्दमय परमात्मबोध प्रकाशित होता है।

मा मा! हम तो कुछ देना जानते नहीं, केवल मुख से ही कहते हैं कि यह हमारा नहीं — तुम्हारा है। परन्तु कार्यतः सब अपना मान कर जोर से पकड़े रहते हैं। अभी अपने इस छोटे मैं को— इस बार बार जन्म मृत्यु से पिसे हुए, इस संसार ताप से जर्जरीभूत मैं को ही संड़ासी से पकड़ रहना चाहते हैं, इसी से तुम को कुछ दे नहीं सकते, देने की इच्छा नहीं और सामर्थ्य भी नहीं। मा! मन बुद्धि इन्द्रियों को आपके चरणों पर रक्खें, अपनी मैं को आपके चरणों में उत्सर्ग करें, ये सब तो बहुत सूक्ष्म और दूर की बातें हैं। जो अति तुच्छ—अति स्थूल है जिसके साथ हमारा वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं, वह अति तुच्छ धन वस्त्र भूषन इत्यादि भी तो निष्कपट प्राण से आपके चरणों पर निवेदन नहीं कर सकते। हम इतने सङ्कीर्ण हैं, इतनी क्षुद्रता की सीमा में हम रहते हैं, हाय। यह विचारने पर भी छाती फटती है। कल्याणमयी। तुम दिन-रात हमारे कल्याण कामना से कहती हो, "मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। किन्तु क्या कहें मा, आपकी वह आशीर्वाद वाणी हम तो सुनने पर भी नहीं सुनते। यदि सुनते तो आप को मन बुद्धि समर्पण रूप योग-यज्ञ का सबसे पहला अनुष्ठान अति स्थूल जो द्रव्ययज्ञ है उसे क्यों न करते? हम समझते हैं कि—आपको कुछ देने से, आपके उद्देश्य से अथवा द्रव्य सम्भार उत्सर्ग करने से

हमारी अपचय होगी। जिस तुम में अपना मैंपन भी अर्पण करना होगा उस 'तुम' को अपना अति दूर के सम्बन्ध वाला द्रव्य संभार अर्पण करने में भी कृपणता करते हैं। मा। हमारी यह सङ्कीर्णता दूर कर, द्रव्ययज्ञ के अधिकारी किजिये, तब ही तो हम दिन-दिन शक्ति समर्पण द्वारा आत्मासमर्पण के अधिकारी होंगे, मा की सन्तान मान कर अपने को धन्य मानेंगे। मा, तुम्हारे उद्देश्य से जो कुछ दिया जाता है, वह हजार गुना होकर फिर हमारे पास ही लौट आता है, सैकड़ों प्रमाण पाने पर भी यह धारणा दृढ़ रूप से हृदय में रख नहीं सकते। तुम तो आत्मा हो, तुम को देने से वह अपने ही को देना हुआ, यह हम कब समझ सकेंगे। यह न समझने ही के कारण तो मा! तुम उत्पीड़न रूप से महिषासुर रूप से आविर्भूत होकर, अनेक उपायों से हमारे मर्मस्थान में अनेक चोटें लगाकर जगाने की चेष्टा करती हो। देवताओं के शुभ दिन आये हैं. इसी से वे अपनी-अपनी शक्ति-रूप अस्त्र-सस्त्र तुम्हारे चरणों में अर्पण कर निश्चिन्त होते हैं।

जब तक व्यष्टि शक्तियों के ऊपर कुछ अभिमान रहता है—अर्थात् 'मेरी शक्ति है' यह प्रतीति होती है, तब तक ही उसका क्षय-उदय रहता है। तब तक ही वह आगमापायिरूप से प्रतीत होती रहती है। किन्तु जिस दिन जीव समझ लेता है कि समस्त शक्ति विन्दु उस महती शक्ति-सिन्धु के ही विन्दुमात्र हैं, उस दिन क्या फिर उसको "अपनी शक्ति" कह कर रख सकता है? तब जिसकी शक्ति है उसको देने के लिये अपने आप ही एक उथल पुथल होने लगती है, अथवा फिर देना वा अर्पण करना कुछ रहता ही नहीं, केवल दर्शन रह जाता है, अजी सब कुछ तुम ही हो, हमारा सर्वस्व तुम, हमारा मैं भी तो तुम ही हो। अब तक यह देखा नहीं—"हमारा ज्ञान, हमारा धन हमारा पुत्र, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा यश" इत्यादि कह कर इन्हीं में मुग्ध थे इसी से बार-बार असुरों के अत्याचारों से

क्षत विक्षत हुए हैं। अब तक आमित्व बोध लेकर जीवत्व के अहंकार से फूल कर असुरों के विरुद्ध अपनी शक्ति का प्रयोग करके, कितने लांछित हुए हैं। अब नहीं सह सकते, मा। अब तुम अपनी शक्ति लेकर असुरों के अत्याचार से हमारी रक्षा करो।

उपनिषद् में इस विषय पर एक सुन्दर आख्यायिका है। एक दिन असुरों को पराजित करके, देवता वृन्द गर्व कर रहे थे। ठीक उसी समय मा ने हैमवती रूप से आविर्भूत हो कर अग्निदेव से पूछा कि तुम्हारा क्या शक्ति है ? अग्नि ने कहा — मैं इस विश्व को भस्मीभूत कर सकता हुँ। मा ने कहा — अच्छा, यह जो सामने तृण पड़ा है इसको तो जलादो। अग्नि अपनी सब शक्ति लगा कर भी न जला सके। इसी तरह पवन, वरुण आदि देवताओं ने उस तृण पर अपनी शक्ति का प्रयोग किया परन्तु कुछ न कर सके और अन्त में सब ने समझा कि हमारी वास्तविक कोई शक्ति नहीं है, हम सब इस हैमवती की शक्ति से शक्तिमान हैं।

श्री श्री चण्डी का यह उपाख्यान अर्थात् असुरों से पीड़ित देवताओं के तेज से देवी का आविर्भाव और उसके उद्देश्य से देवताओं के अस्त्रादि अर्पण आदि भी इश श्रुति के अनुसार हैं वा नहीं, साधकगण यह विवेचना करें। अस्तु, अब हम मन्त्र का अर्थ समझने की चेष्टा करें।

शिव ने अपने शूल से दूसरा एक शूल निकाल कर देवी को अर्पण किया। शिव—विज्ञानमय गुरु केवल ज्ञान-मूर्ति हैं। त्रिशूल उनका अस्त्र है। ज्ञान-शक्ति त्रिपुटी है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इस त्रिपुटी द्वारा ही ज्ञान का विकाश होता है। "मैं वृक्ष देखता हुँ," यहाँ मैं ज्ञाता, वृक्ष ज्ञेय, एवं वृक्ष विषयक जो प्रतीति है, उसका नाम ज्ञान है। साधारणतः ज्ञान इस तीन भाव से प्रकाशित होता है। जहाँ ज्ञान है, वहीं यह त्रिपुटी है। इसी से शिव के हाथ में सदा त्रिशूल रहता है। (त्रिपुटीरहित ज्ञान भी है अवश्य,

परन्तु उसकी बात अलग है)। ज्ञान का यह त्रिपुटी-भाव महती-शक्ति का ही विशेष विकाशमात्र है। यह अनुभव करने का नाम ही त्रिशूल समर्पण है। जिस शक्ति के प्रभाव से एक ही ज्ञान तीन प्रकार से विभक्त हो, वह महामाया की शक्ति है, यह समझ सकने पर भी त्रिपुटी एकदम विलुप्त नहीं होती, इसी कारण शूल में से शूल निकलने की कथा कही गई है। शिव का त्रिशूल शिव का ही रहा, केवल त्रिशूल में जो ममत्वाभिमान था वह दूर होता है। आगे विष्णु के चक्रादि अर्पण के विषय में भी ऐसा ही समझिये।

साधक! तुम भी देखो-तुम्हारा अखण्ड-ज्ञान सदा रूपरसादि विषयाकार से प्रतीत होते समय ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान रूप तीन भागों में विभक्त होता है। जो इस तरह त्रिपुटी लेकर अपना प्रकाश करता है, वह भी मा है। तुम "अपना ज्ञान" समझ कर अभिमान न करना। ज्ञान-रूपिणी मा ही तुम्हारे भीतर से इस रूप में प्रकाशित होती है, यह समझने चेष्टा करो। यही शिव द्वारा त्रिशूल समर्पण का रहस्य है।

विष्णु ने अपने चक्र से चक्र उत्पन्न कर देवी को अर्पण किया। विष्णु प्राणमय विश्वव्यापी पुरुष हैं। चक्र शब्द का अर्थ प्रथम खण्ड में विस्तारपूर्वक कहा गया है। यह संसार ही विष्णु का चक्र है। संसार-स्थिति-रूप सुदर्शन-चक्र में अब-तक "हमारा है" यह अभिमान था, इसी से महिषासुर द्वारा पीड़ित हुए थे। अब वह मा की शक्ति है, यह समझ कर, जिसकी वस्तु थी उसको देकर विष्णु निश्चिन्त हुए। साधक तुम भी देखो,—तुम्हारा यह क्षुद्र संसार, स्त्री, पुत्र, परिजन, जिनके भरण-पोषण करने का तुम अभिमान करते हो, वह अज्ञानमात्र है। उस भरण-पोषणकी शक्ति रूप से मा ही तुम्हारे सदा आत्मप्रकाश करती है। यही मा है उनका आदर करो, उनकी वस्तु उनके अर्पण करो। मा ही तुम्हारे अन्तर में शक्ति रूप से विराज-मान है, यह ठीक-ठीक समझ सकने से ही

अर्पण सिद्ध होता है। एवं इस तरह अर्पण में सिद्ध होने से ही देखोगे कि सांसारिक विविध चिन्ता रुप गुरुभार तुम्हारे शिर से उतर गया है।

शंखञ्च वरुण शक्ति ददौ तस्यै हुताशनः।
मारुतो दत्तवांश्चापं वाणपूर्णे तथेषुध ॥ २० ॥

अनुवाद। उस देवी मुर्ति को वरुण ने शङ्ख, अग्नि ने शक्ति एव वायु ने बाणों से भरे दो तरकनों सहित धनुष दिया।

व्याख्या। देवता-प्रधान शिव और विष्णु जब अपनी शक्ति मातृ-चरणों में समर्पण करके कृतार्थ हुए, तब अन्यान्य देवता भी उनका अनुसरण करने लगे। वरुण जलाधिपति हैं। समष्टि जल जिस बोध पर अवस्थित है, वही जलाधिष्ठित चैतन्य या वरुण देवता हैं उन्होंने शङ्ख अर्पण किया। इस शङ्ख शब्द को लेकर कुछ मतभेद है। कोई-कोई कहते हैं—शङ्ख विष्णु का अस्त्र है। पूर्व मन्त्र में विष्णु के चक्र अर्पण की कथा है, और इस मन्त्र में प्रथम ही शङ्ख शब्द रहने से समझना चाहिये कि वह विष्णु का ही अस्त्र है। इस मत से वरुण और वह्नि दोनों ही ने "शक्ति ददौ" अपनी-अपनी शक्ति अर्पण की ऐसा अर्थ करते हैं। फिर इसके बाद ही कहा जायगा "पाशञ्चाम्बुपतिर्ददौ" अम्बुपति अर्थात् वरुण ने पाश-अस्त्र दिया। वरुण का पास अस्त्र प्रसिद्ध है। (इसका अर्थ उसी मन्त्र में किया जायगा)। फिर कोई कहते हैं कि पूर्व मन्त्र "चक्रञ्च" यह 'चकार' रहने से चक्र और गदा ये दोनों अस्त्र समझे जाते हैं। इनकी ठीक-ठीक मीमांसा करने के लिये कोई-कोई वैकृतिक-रहस्य में कही हुई महालक्ष्मी की मूर्ति की अष्टादश भुजाओं में जोअष्टादश अस्त्र हैं, उनकी गणना करने को वाध्य हैं। वास्तव में उससे भी गोल-योग दूर नहीं होता। अस्तु हम शङ्ख को नादशक्ति का प्रतिभूस्वरूप समझलें, उसके बाद फिर विष्णु समर्पण करें या वरुण समर्पण करें, उसमें कुछ हानि लाभ

नही। परन्तु विष्णु का समर्पण पक्ष ही उत्तम है शङ्ख—अव्यक्त नाद शक्ति जिससे व्यक्त नाद-रुप यह शब्द-मय-विश्व प्रकाशित है, वह शक्तिभी 'मा' है, यह अनुभव करने का नाम ही मातृ-चरणों में शङ्ख—समर्पण-है। नाद रहस्य आगे कहा जायगा।

जल की शक्ति—क्लेदन वा गीला कर देना है, हुताशन की शक्ति—दाह है। ये दोनों शक्तियां मातृ-शक्ति मात्र हैं, यह अनुभव कर सकने से ही अग्नि और वरुण के अस्त्र-समर्पण का रहस्य समझा जाता है। जलाधिष्ठित चैतन्य एवं तेजस्तत्त्वाधिष्ठित चैतन्य, अब तक आर्द्रीकरण और दाहिका-शक्ति के अभिमान में बँधे हुए थे, अब वह दूर हो गया। इसी तरह मारुत अर्थात् वायु देवता ने धनुष और बाणों से भरे हुए दो तरकस दिये थे। धनुष और बाण – प्रवाह शक्ति के परिचायक हैं। तूणीर (तरकस)—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी भेद से प्रवाह-शक्ति के दो तरह के प्रकाश हैं; इसी से, मन्त्र में दो तरकसों का उल्लेख है। जिस वायुमण्डल में वसुन्धरा अवस्थित है, वह वायु जिस चैतन्य सत्ता पर अधिष्ठित है, वही वायु देवता है। प्रवाह उसकी शक्ति है। अब उस शक्ति में 'मेरा' रूपी अभिमान था, आज उसे मातृ-चरणों में अर्पण करके उस यथार्थ-शक्ति का पता पाया।

साधक। तुम भी देखो—तुम्हारे स्थुल शरीर में अप-तेज एवं मरुत्-तत्त्व की जो विभिन्न शक्ति है, वह एका, अद्वितीया महती शक्ति का ही विभिन्न प्रकार विकाश मात्र है। जिसकी शक्ति तुम्हारे भीतर प्रकाशित है, उसको अर्पण करो तो देखोगे कि तुम एक भौतिक देहधारी संसार-क्लिष्ट जीवनमात्र नहीं हो। तुम इससे ऊंचे हो। किस तरह अर्पण करोगे? प्रथम अपतत्व ही लो तुम्हारे शरीर में जो जलीय अंश है उसको बोध करो। (जो सत्यप्रतिष्ठा में अभ्यस्त हैं, उनके लिये यह बोध बहुत ही सुगम है)। मुख से कहो "जल सत्य" और अन्तर में उस

जल-बोध को बनाये रहो। (स्वाधिष्ठान केन्द्र में वरुण बीज अवलम्बन से ऐसी धारणा बहुत सुगम हो जाती हैं)। जब वह जल बोध घनीभूत हो जाय, तब उसको हो मा—आत्मा समझ कर आदर करो। फिर उसी की बाहर भी धारणा करो, अर्थात् ब्रह्म रूप से उपासना करो। देखो—वह जलमय-सत्ता ही पृथिवी के भीतर जलधारा रूप से, और भूमि के ऊपर नद नदी, समुद्र इत्यादि रूप से, वृक्षादि में रस रूप से, पर्वत में झरने रूप से, आकाश में मेघ रूप से अवस्थित है। देखो—तुम्हारी देह से आरम्भ करके समग्र पृथिवी के अन्तर में बाहर में अन्तरिक्ष में—प्रति परमाणु में जलमय सत्ता है। देखो, और कहो—"इदं जलं सर्वेषां भूतानां मधु। अस्य जलस्य सर्वाणिभूतानि मधु।" देखो, तुम्हारे अन्तर बाहिर, ऊपर नीचे, जल के सिवाय और कुछ भी नहीं है, और फिर कहो—"अयमेव सः—योऽयमात्मा, इदं ब्रह्म, इदम् अमृतम्, इदं सर्वम्।"

इसी तरह तेजस्तत्त्व को बोध करो। शरीर में स्थित ताप और जठराग्नि से आरम्भ करो, (मणिपुर केन्द्र में अग्नि बीज के अवलम्बन से यह धारणा सहज की जा सकती है)। मुख से कह-"अग्नि सत्य है" फिर उस अग्नि बोध को बढ़ाओ—धरती के भीतर ताप रूप से, भूपृष्ठ पर सब वस्तुओं में ताप रूप से, जल में बाड़वाग्नि रूप से, अरण्य में दावानल रूप से, सूर्य्य, चन्द्र ज्योतिष्क मण्डल में और बिजली में प्रकाश रूप से, इस तरह सर्वत्र देखो। तुम्हारी देह से आरम्भ करके जहाँ तक तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि पहुंचे वहाँ तक देखो कि अग्नि के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है। विश्व में यह अग्निमय-सत्ता बोध करके देखो भक्ति के साथ कहो, "अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु" देखते-देखते तुम्हारा बोध अग्निमय होने लगेगा। तब कहना-"'अयमेव सः—योऽयमात्मा, इदं ब्रह्म, इदम् अमृतम्, इदं सर्वम्'।

इसी तरह मरुत्-तत्त्व। मुख से कहो—"वायु सत्य", फिर देखो तुम्हारा श्वास प्रश्वास एवं सर्बशरीगत वायु-प्रवाह से आरम्भ करके जल स्थल-अन्तरिक्ष सर्वत्र वायुमय है। (अनाहत केन्द्र में वायुबीज के अवलम्बन से यह धारणा सहज साध्य हो जाती है)। तुम्हारे अन्तर बाहिर वायु के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है; इस तरह बोध करते-करते, पूर्ववत् ऋषि के सुर में सुर मिलाकर उपनिषद् का मन्त्र पढ़ो— "अयंवायुः सर्वेषांभुतानां मधु, अस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु'। और देखो—वह मा, जिसको तुम चाहते हो जिसके अन्वेषण में जन्म जन्मान्तर से भ्रमते हो, वह मा इस रुप से इस विश्वव्यापी वायु रुप से, तुम्हारे सामने विराजती है, उसको आत्मदान करो—आत्मा समझ कर आदर करो। कहो "अयमेव सः—योऽयमात्मा, इदं ब्रह्म, इदम् अमृतम् इदं सर्वम्'।

इस तरह अभ्यास करते करते समझोगे कि शक्ति-समर्पण वा देवताओं के अस्त्र त्याग का रहस्य क्या है। यद्यपि इन साधनों का रहस्य पुस्तक में लिखकर इस भाव से प्रकाश करने पर अनधिकारी के हाथ में पड़ने से गुरु वेदान्त वाक्य का अपमान होने का पूर्ण सन्देह है, तथापि वर्तमान देश, काल, पात्रविवेचना से प्रकाश किये बिना रह नहीं सकते। यदि हजारों पाठकों में से एक भी इस मार्ग पर चले और इन तत्वों को सत्य समझ कर आदर की दृष्टि से देखना आरम्भ करे तो हमें अपने विधि विरुद्ध विचार के प्रकट करने में भी निर्मल आनन्द प्राप्त होगा।

वज्रमिन्द्र समुत्पाद्य कुलिशादमराधिपः।
ददौ तस्यै सहस्राक्षोघण्टामैरावतादगजात् ॥२१॥

अनुवाद। अमराधिप सहस्त्रलोचन इन्द्र ने वज्र से वज्र उत्पादन एवं ऐरावत-हाथी से घण्टा ला कर उस देवी को अर्पण किया।

व्याख्या। इन्द्र—देवाधिपति हैं। वज्र अर्थात् विद्युत इनका अस्त्र वा शक्ति है। हमारी वासभूमि यह वसुन्धरा जो एक तड़ित् यन्त्रमात्र है, यह आधुनिक वैज्ञानिक भी अब स्वीकार करते हैं। यद्यपि उनकी दृष्टि में वह अब भी एक जड़-शक्तिरूप से प्रतीत होती है; तथापि हम उसको जड़ रूप से प्रकाशित चित-शक्ति रूप ही समझें। जो चैतन्यसत्ता स्थुल में तड़ित शक्ति रूप से प्रकाशित होती हैं, अर्थात् तड़ित-शक्ति के अधिष्ठित जो चैतन्य है, वही इन्द्र देवता नाम से प्रसिद्ध है। इस से पूर्व पांचवे मन्त्र की व्याख्या में इन्द्रादिदेव इन्द्रियाधिपति रुप से व्याख्यात हुए हैं, और यहाँ शक्ति की दशा से वर्णित होते हैं। बिचारशील पाठक इसमें कुछ विरोध न देखेंगे। इन्द्रियों की ओर से पाणिइन्द्रिय को एवं शक्ति की ओर से तड़ित् शक्ति को आधार रुप में ग्रहण करके इन्द्रदेवता को समझते हैं। और वास्तव में आदान और तड़ित् शक्ति परष्पर मिले ही रहते है, अस्तु, इन्द्रदेव अब तक विश्वमय तड़ित् शक्ति वा वज्र को अपना समझते थे, इसी से उनको महिषासुर द्वारा स्वर्ग से भागना पड़ा था। आज इन्द्रदेव ने उन चिन्मयी के मातृ-चरणों में भेंट दे कर महिषासुर के मारे जाने का पुर्व आयोजन सम्पन्न कर लिया था। वज्र रुप जिस शक्ति के ऊपर इन्द्रदेव का आधिपत्य है, वह शक्ति उनकी नहीं है, यह ठीक ठीक अनुभव करने का नाम ही वज्र समर्पण है। वज्र इन्द्र का ही रहा, केवल वज्रविषयक ममत्वाभिमान दूर हो गया। इसी से वज्र से वज्र उत्पन कर अर्पण की बात मंत्र में कही गई है। अन्यान्य देवताओं के अस्त्रादि प्रदान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझिये। पूर्व भी एक बार यह बात कही है

साधक! तुम भी देखो—तुम्हारी देह में स्थित तड़ित् शक्ति से आरम्भ करके जल, स्थल और अन्तरिक्ष में विश्वव्यापी जो ताड़िन्मण्डल है, वही चिन्मयी मा है। उसे सरल प्राण से, सत्यज्ञान से

मा कहो । देखो—"इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मधु, अस्याः विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु।" सब भुतों में बिजली पूर्ण भाव से, मधु रूप से, आत्म रूप से, अमृत रूप से रहती है। देखो, केवल मधुमय-जगत्, केवल आत्मदान का विशुद्ध आनन्द। एक दूसरे का प्रियतम—मधु—आत्मा—बड़े प्रेम की वस्तु है। देखो—शक्ति रूपिणी मा हमसे बहुत प्यार करती हैं, फिर हम भी मा को कितना प्यार करते हैं। देखो—मा के हृदय में हम और हमारे हृदय में मा। हम मा के मधु, मा हमारी मधु। ओः क्या साधक। तुम्हारी छाती फटी जाती है? रोना आता है? रोओ, और कहो मा, तुमही हमारे प्राण हो, तुम्ही हमारे प्राण हो। अजी देखो—केवल प्राण का आदान प्रदान। क्या हम तुम्हारे प्राण, तुम हमारे प्राण। क्या यह तत्त्व समझे? अजी इस जड़ बिजली से ही कहो—अयमेव सः-योऽयमात्मा, इदं ब्रह्म, इदम् अमृतम्, इदं सत्यम्। देखोगे महिषासुर-बध कितना सहज है। परन्तु वह दूसरी बात है।

इन्द्रदेव ने ऐरावत से लाकर घण्टा दिया। इर धातु का अर्थ गति वा वेग है। इरावान् शब्द का अर्थ गतिशक्ति वाला। इरावान के अपत्य वा उस सम्बन्धीय वस्तु को ऐरावत कहते हैं। ऐरावत-इन्द्र का बाहन है। इन्द्र का दूसरा नाम है मेघवाहन। मेघ और ऐरावत अभिन्न हैं। परन्तु ऐरावत को हाथी क्यों कहा? पूर्व कहा है—इन्द्र-वज्र का अर्थात् तड़ित-शक्ति का देवता है। ऐरावत उस शक्ति को चलाने वाला है। जिस स्थुल गमनशील पदार्थ को अबलम्बन करके तड़ित-शक्ति चलती है, उसका नाम ऐरावत हाथी है। यद्यपि पृथ्वी के अनेक प्रकार के पदार्थों को अबलम्बन करके ही यह शक्ति चलती है, तथापि विशेषभाव से मेघ ही इसका बाहन वा परिचालक है। मेघ रंग वा गठन में अनेक समय हाथी के सदृश ही होता है। अब भी प्रबल तूफान के समय जो जल के स्तम्भ उठते हैं। लोग उन्हें स्वर्ग से ऐरावत का उतारना कहते हैं। घने काले

बादल की घटा जैसे जल के भार से झुक जाती है, और प्रबल तूफान के प्रभाव से नदी आदि में उछलती हुई स्तम्भाकार जल-राशि सुँड़ के आकार से मानो मेघ को स्पर्श करती हो, दूर से यह दृश्य देखने पर सत्य ही कहा जाता है कि स्वर्ग से ऐरावत उतर कर जल पान करता है। अस्तु, जो वस्तु बिजली को चलाने वाली है, वही शब्दबाहक है, कारण, गति वा कम्पन से ही शब्द प्रकट होता है, इसी से, ऐरावत के कण्ठ में शब्द उत्पन्न करने वाला घण्टा हिलता है। इन्द्रदेव ने वज्र-अर्पण के साथ-ही साथ वज्र के साथ होने वाली ध्वनि भी अर्पण की, अर्थात् वज्र-ध्वनि पर्य्यन्त मातृ-शक्ति मात्र है, यह अनुभव किया। घण्टा समर्पण का यही रहस्य है।

यहाँ फिर हम पाठकों का संशय निवारण के लिये कहते हैं कि इन्द्र ऐरावत आदि की ऐसी व्याख्या देख कर गजारूढ़, वज्रपाणि इन्द्र की मूर्ति के विषय में कोई सन्देह न करें। यद्यपि पूर्वमीमांसा दर्शनशास्त्र के प्रणेता महर्षि जैमिनि ने इन्द्रादि देवताओं की मूर्ति को अस्वीकार कर केवल मन्त्रात्मक देवता स्वीकार किये हैं, तथापि हम मूर्ति-विशेष को अस्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि कोई तो इस परिपुर्ण सर्वशक्तिमयी मा में कुछ अभाव कल्पना करते हैं और दूसरों को उन विशिष्ट मूर्तियों का यथार्थ दर्शन होता है। (किस तरह मूर्ति का आविर्भाव होता है, यह आलोचना कई बार हो चुकी है)। और महर्षि जैमिनि ने जो मन्त्रमय-देवता कहे हैं, वह भी युक्तिविरुद्ध बात नहीं है, कारण कि देवमूर्तियां भावमय हैं। साधक का विशिष्ठ-मूर्ति-विषयक भाव (भाववस्तु चैतन्य छोड़कर और कुछ नहीं है) घनीभूत होकर स्थुल में मूर्ति आकार से प्रकाशित होता है। मन्त्र उस भाव के उद्दीपक हैं। भाव कहने से उस भाव के मूल में कोई शब्द है, यह समझा जाता है। शब्द रहित भाव हो ही नहीं सकता। एकमात्र "भावातीत" स्वरूप को अशब्द

कहा जाता है। शब्द ही मन्त्र है जो शब्द जैसी देवमूर्ति-विषयक भाव को सहज में जाग्रत कर दे वह शब्द ही उस देवता का मन्त्र है। अतएव मन्त्रमय देवता कहने में कुछ दोष नहीं है। फिर यदि कोई कहे कि देवताओं की मूर्ति रहने से दो अनिष्ट होते हैं। प्रथमतः-एक जन-देवता एक ही समय में अनेक स्थानों में पूजा ग्रहण नहीं कर सकता, दूसरे गजारूढ़, वज्रपाणि, इन्द्रदेव यदि पूजा स्थल में आविर्भूत हों तो मिट्टी की मूर्ति अथवा घटादि चूर्ण हो जायेंगे। [ये बालकोचित आपत्तियाँ मीमांसा-दर्शन में ही हैं] उसके उत्तर में कहते हैं—ऐसी आपत्ति तुच्छ हैं, कारण देवता प्रत्येक साधक के अन्तर ही में सूक्ष्म-रूप से अवस्थित हैं। अतएव एक ही समय अनेक स्थानों में पूजा आदि ग्रहण करने में आपत्ति नहीं। फिर देवताओं की मूर्ति हमारी देह की तरह भौतिक नहीं हैं, जो उसके आविर्भाव से घट चूर्ण हो जाय। देव-मूर्तियां चिन्मय अर्थात केवल चैतन्य द्वारा गठित हैं। साधक के भक्ति रूप-हिम से—प्रबल प्रार्थना से, साधक के ही अन्तरस्थित देवताविषयक भाव घनीभूत होकर स्थूलमें प्रकाशित होते हैं। इस सिद्धान्त में कदाचित् कोई-कोई आपत्ति करेंगे—कि देवता यदि सूक्ष्म रूप से प्रति जीव के भीतर ही रहते हैं, तो जीव-भेद से देवता-भेद भी होगा, अर्थात् इन्द्रादि की तरह एक-एक देवता अगणित हो जायंगे। शास्त्र में तो ऐसा उल्लेख नहीं है, यह बात ठीक है, इसका उत्तर यह है कि चैतन्य जिस प्रकार वस्तुतः एक-अभिन्न होने पर भी प्रति जीव में भिन्न-भाव से प्रकाशित होता है, यह भी उसी प्रकार है। पूर्व भी यह देवता-तत्त्व विशेष रूप से व्याख्यात हुआ है।

देवताओं की मूर्ति के सम्बन्ध में इतनी बात कहने की आवश्यकता यह है कि एक दल के लोग सिर्फ आध्यात्मिक तत्त्व स्वीकार करते हैं, और दूसरे दल के लोग—देव-मूर्ति आदि को अज्ञ लोगों के लिये रूपकमात्र कहकर उड़ा देने की चेष्टा करते हैं, और तीसरा

दल पौराणिक-उपाख्यानों का यथार्थ रहस्य समझने की चेष्टा न करके ऐसा मानता है कि देवताओं के भी हमारी तरह घर मकानादि हैं, विवाहादि होते है, उनका देह भी हमारी तरह पञ्चभूतों का बना हुआ है इत्यादि। ये सब ही ज्ञान के एक अंशमात्र हैं। इसी कारण बार-बार इन तत्वों की आलोचना करना आवश्यक है। केवल एक बात याद रखकर शास्त्रीय रहस्य में अवतीर्ण होने से फिर कोई गोलमाल न रहेगा। वह बात यह है कि स्थूल सूक्ष्म और कारण तीनों ही सत्य हैं और इन तीनों का सामञ्जस्य ही यथार्थ सिद्धान्त है। परन्तु इन तीनों में कारण की ओर विशेष लक्ष्य रखना होगा। सूक्ष्म और स्थुल की गति मानो कारण की ओर होती है। कारण की ओर लक्ष्य परित्याग कर केवल स्थूल अथवा केवल सूक्ष्म विषयक कोई सिद्धान्त करने से वह भ्रमपूर्ण होगा। स्थूल जैसे सूक्ष्माभिमुखी रहता है, वैसे ही सूक्ष्म कारणामुखी रहता है। ऐसा समझने से फिर शास्त्रार्थ निर्णय करने में कुछ सन्देह नहीं हो सकता। पाठकों के बोध की सुगमता के लिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण क्या है, वह भी बतलाये देते हैं। कारण—परमात्मा विशुद्ध चैतन्य, सूक्ष्म शक्ति—माया वा प्रकृति और स्थुल—कार्य्य अर्थात् यह जीव जगत् है।

अब हम प्रस्तावित विषय की ओर आते हैं। देव-लोक सूक्ष्म है, इसकी विशिष्ट मूर्ति स्थूल भाव को प्राप्त होने पर भी सूक्ष्म-लोक के ही अन्तर्गत हैं। तड़ित्—स्थूल है। जिस चैतन्य का बाहिरी विकाश तड़ित् हैं, वही इन्द्र की शक्ति है। यदि कोई उस विशिष्ट-चैतन्य में समाहित होकर इन्द्र की मूर्ति के दर्शन करना चाहे, तो वह ध्यान के अनुसार अनायास मूर्ति प्रत्यक्ष कर सकता है। इसमें अन्यथा न कभी हुआ न हो सकता है ॥२१॥

कालदण्डाद्यमो दण्डं पाशाश्चाम्बुपदिर्ददौ।
प्रजापतिश्चाक्षमालां ददौ ब्रह्मा कमण्डलुम् ॥ २२ ॥

अनुवाद ! यम ने अपने काल-दण्ड से दण्ड, इसी तरह वरुण ने पाश, प्रजापति ने अक्षमाला एवं ब्रह्मा ने कमण्डलु दान किया था।

व्याख्या। यम—मृत्युपति है ; जो चैतन्य मृत्यु-रूप से प्रकाशित होता है, उसी का नाम यम है। सब जीवों का संयमनकर्ता यह मृत्युपत्ति है, इसी से इसको यम कहा जाता है। कालदण्ड इसका अस्त्र है। जीव कितनी ही उच्छृङ्खल गति से क्यों न चले, ये काल-रूप दण्ड के प्रभाव से जीव को संयत अवश्य ही करेंगे। इससे काल-दण्ड ही यम का अस्त्र है।

वरुण जलाधीश है। पूर्व इसके शक्ति और शङ्ख अर्पण का विषय कहा गया है। अब इसके प्रधान अस्त्र पाश अर्पण की बात भी कहते हैं। पाश—बन्धन का साधन रस्सी है अनुराग वा आशक्ति ही जीव को बांध रखता है, इससे अनुराग ही पाश हैं। रस तत्त्व से ही अनुराग पैदा होता है सुतरां वरूण का विशेष अस्त्र पाश है। इस पर आपत्ति हो सकती है कि केवल अनुराग हीं से जीव नहीं बँधा है, द्वेष भी तो बन्धन है। ठीक है, परन्तु द्वेष अनुराग का ही रूपान्तर मात्र है। अनुराग जहाँ बाधा प्राप्त होता है, वहीं वह द्वेष का आकार मे प्रकाश पाता है।

प्रजापति—अक्षमाला। पचास मातृका—वर्णमाला ही अक्षमाला है। वर्णमय यह जगत् है। जो मातृका न्यास करते हैं, वे समझ सकते हैं कि जीव का देह वास्तव में अकारादि पचास वर्ण द्वारा ही बना है। पूर्व कहा है कि भाव को घनीभूत अवस्था ही मूर्ति है। भाव शब्दमूलक हैं, और शब्द कुछ वर्णों की समष्टि मात्र है। इस तरह वर्णमाला से ही जीव-जगत् वा प्रजा-समूह की सृष्टि हुई है, इसी से प्रजापति की शक्ति अक्षमाला है।

ब्रह्मा—कमण्डलु। सृष्टि के बीज जिस स्थान में अव्यक्त भाव से रहते हैं, उन अव्यक्त बीजों का आधार ही कमण्डलु है। हम जो बार-बार जन्म-मृत्यु भोगते हैं अथवा जीवनकाल में ही बार-बार

भाव की चञ्चलता अनुभव करते हैं, वह अव्यक्त बीज का व्यक्त भाव मात्र है। यह अव्यक्त-आधार अर्थात् जहाँ सृष्टि के बीजों गुप्त भाव से रक्खे हैं, वही ब्रह्मा का कमण्डलु है।

इसी तरह यम, वरुण, प्रजापति और ब्रह्मा, यथाक्रम से काल-दण्ड, पाश, वर्णमाला और कमण्डलु अर्पण किये। उनकी वे शक्तियां मा की ही शक्ति-मात्र हैं, यह पूर्ण रूप से अनुभव किया। साधक ! तुम भी अपना मृत्युभय, अनुराग, स्थूल और सूक्ष्म देह-गत गठन-शक्ति एवं अव्यक्त-संस्कारों कोमातृ-चरणों में उपहार दे कर, ममत्व, से अभिमान से मुक्त हो मुक्त-मार्ग में आगे बढ़ो। इनका अर्पण किस तरह किया जाता है, इसका आभास पूर्व ही दिया जा चुका है। प्रत्येक को अलग-अलग समझाने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायगा। हमारा धैर्य्य च्युनि असम्भव नहि।

समस्तरोमकूपेषु निजरश्मीन् दिवाकरः।
कालश्चदत्तवान् खड्गं तस्याश्चर्म्म च निर्म्मलम् ॥२३॥

अनुवाद। दिवाकर ने देवी के सब रोम-कूपों में अपनी किरणें प्रदान कीं और काल ने खड्ग और निर्म्मल चर्म्म अर्पण की ॥

व्याख्या। सूर्य्य का प्रकाश-शक्ति मा के समस्त अङ्गमय प्रति रोम कूप में प्रकाशित हुई, अर्थात् सूर्य्य-देव ने समझा कि जिस प्रकाश-शक्ति के प्रभाव से मैं विश्व प्रकासक हूं, वह मातृ-प्रकाश के सिवाय और कुछ नहीं है। हम में अपनी कोई प्रकाश-शक्ति नहीं है। इसी का नाम है मातृ-अङ्ग में सूर्य्य का रश्मिदान। उपनिषद् में भी कहा है—"न तत्र सूर्य्योभाति"। "तमेव भान्तिमनुभाति सर्वम्"।

काल चर्म्म और खड्ग अर्पण किया। काल—कालात्मक चैतन्य है-जिस पर जगत् परिधृत है। "कालो हि जगदाधार कालाधारो न विद्यते।" काल ही जगत का आधार है, काल का आधार कोई

नहीं। पूर्व मृत्युपति ने देवी को काल-दण्ड प्रदान किया है। वह काल-संहरण-शक्ति स्वरूप है। यहां काल शब्द से जगदाधार-स्वरूप महाकाल समझने होगा। काल के सम्बन्ध में यहां और कुछ आलोचना करना अप्रासङ्गिक न होगा। काल हमारे निकट भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीन रूप से प्रकाश पाता है। वस्तुतः काल एक अखण्ड खड़ा हुआ नित्य वर्तमान है। जगत् है," यह काल का द्योतक है, अर्थात् वर्तमान काल-रूप आधार पर जगत् की विद्यमानता समझी जाती है। इसी तरह "जगत् था," "जगत्-रहेगा," इत्यादि स्थुल में भी काल आधार रूप से ही अनुभूत होता है। ऐसा सर्वत्र। यद्यपि हम अनेक समय "काल है" ऐसा वाक्य प्रयोग करते हैं और उसका कुछ अस्पस्ट अर्थ भी समझ लेते हैं' किन्तु वह वस्तुशून्य कुछ विकल्प-ज्ञान मात्र है, कारण, काल है कहने से—काल का अधिकरण समझा जाता है। काल का वस्तुतः अधिकरण कुछ नहीं है। काल ही नित्य आधार है। इस आधार पर अतीत वा भविष्यत् ठहर नहीं सकता। जिसको हम अतीत वा भविष्यत कहते हैं वह भी "है" इस वर्तमान वाचक शब्द द्वारा ही समझा जाता हैं। जिज्ञासा होगी तो हम भूत और भविष्यत इन दो अंशों को क्यों वर्तमान रूप से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते? उसका हेतु हैं स्मृति और आशा। हमारी स्मृति कल्पना और आशा ये तीन ही काल के स्थूल प्रकाश हैं। अपनी स्मृति कल्पना और आशा को यदि हम अन्तर से दूर करे तो फिर काल की कुछ प्रतित ही न रहे। सुषुप्ति अवस्था में ये तीन में से कोई नहीं रहता, इसी से काल-ज्ञान भी नहीं रहता। स्मृति भूतकाल और आशा—भविष्यतकाल रूप एक प्रत्यय उतपन्न कर देता है। जो त्रिकालदर्शी होते हैं, वे चित्त से उन दोनों को बिलकुल विलुप्त कर देते हैं, इसी से उनको अतीतनागत का ज्ञान होता है। हमारी कोई कल्पना विशुद्ध नहीं है, वह अतीत की स्मृति और

भविष्य आशा से मिश्रित कर ज्ञान-शक्ति को संकीर्ण कर देती हैं, इसी से अतीत और भविष्यत् अंश अप्रत्यक्ष रहता।

जो हो जगदाधार काल विच्छेदकारक खड्ग और आच्छादन कारक चर्म्म प्रदान की। काल की प्रधानतः ये दो शक्तियाँ हैं- एक विशुद्ध चैतन्य से विच्छेद, दूसरे उसका अप्रकाश। परमात्मा में सब से पहले दिक् और काल कल्पित होता है। परमात्मा जब कालात्मक होकर आत्म प्रकाश करते हैं, तब ही शुद्ध निरञ्जन-सत्ता से अपने को विभिन्न समझता है, यही खड्ग है। एवं विच्छेद के साथ हीं साथ निरञ्जन सत्ता आवृत होती है, यही चर्म्म है, फिर दूसरी तरफ से देखा जाता है सब को बिच्छिन्न करता है और अपने स्वरूप को अप्रकाशित रखता है। इसको भी खड्ग चर्म्म कहा जाता है। अब तक काल इन दोनो शक्ति में ममत्व वोध से अभिमान था, आज वह मातृ चरणों में उत्सर्ग कर धन्य हुआ।

साधक तुम भी अपने काल-ज्ञान को मातृ चरणों में अर्पण करो। अपनी स्मृति: कल्पना और आशा को 'मा' बोलकर समझने की चेष्टा करो, जब अतीत की स्मृति, किंवा भविष्यत् की मोहनी आशा आकर तुमको व्यथित वा उत्साहित करे, तब रो कर कहो—"मा! तुम नित्य वर्तमानस्वरूप" होकर भी क्यों हमारे हृदय में स्मृति और आशा के आकार में उदय होने लगती हो? हमारी चिर संतप्तवक्ष को क्षत्त विक्षत करती हो! मा! एक बार कालातीतस्वरूप से खड़ी हो, अन्तर से अतीत और भविष्यत् का चित्र सदा को पोंछ डालो, मैं शान्ति प्राप्त कर सकूं।" इस तरह रो सकने से तुम भी कालातीत स्वरूप का पता पा कर शान्ति प्राप्त कर सकोगे।

क्षीरोदश्चामलंहारमजरे च तथाम्बरे।
चूड़ामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटाकानि च ॥२४॥

अर्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान् सर्वबाहुषु ।
नूपुरौ विमलौ तद्वद्ग्रैवेयकमनुत्तमम् ।
अंगुलीयकरत्नानि समस्तास्वअंगुलीषु च ॥२५॥

अनुवाद । क्षीरोद समुद्र ने देवी को मनोरम हार चिर नुतन वस्त्र युगल मस्तकभूषण चूड़ामणि दिव्य दो कुण्डल, कई कङ्कण, अर्द्ध-चन्द्र, वाहुभुषण केयुर पादभूषण विमल दो नूपूर, कण्ठभूषण, अनुपम ग्रैवेयक (हार) एवं अङ्गुलियों में रत्नों की अंगूठियाँ प्रदान की थी ।

व्याख्या । क्षीरोदसमुद्र—शुद्ध सत्त्वगुण अर्थात् जो रजस्तमो गुण द्वारा अनभिभिभूत प्रकाशशील, निर्मल बुद्धि-सत्त्व । कहावत भी है, जीव देह में सात समुद्र विद्यमान हैं । यहां संक्षेप में हम इन जीवदेह स्थित सात समुद्रों का परिचय लेने की चेष्टा करें । (१) विशुद्ध सत्वगुण—क्षीर सागर । (२) ईषत् रजोगुण द्वारा रंगीन सत्व-गुण— घृतसमुद्र । (३) किञ्चित तमोगुण द्वारा रंजीत सत्वगुण—दधिसमुद्र (४) रजोगुण सुरासमुद्र । (५) सत्वगुणोपरक्त रजोगुण—इक्षुसमुद्र । (६) तमोगुण से अभिभूत रजोगुण.. लवणसमुद्र । (७) तमोगुण... जलसमुद्र । तीनों गुण अनादि और असीम हैं, इसी से, समुद्र के साथ इनकी उपमा दी गई है । इसके सिवाय समुद्र शब्द की निरुक्ति से भी इस उपमा की सार्थकता होती है उन्दधातु का क्लेदन अर्थात् आर्द्रीकरण अर्थ में प्रयोग होता है । सम्यक् प्रकार से क्लिन्न करते है बोलकर उसका नाम समुद्र । विशुद्ध चैतन्य को लीलारस से आर्द्रीभूत करते हैं, इसी कारण तीन गुण समुद्र-स्थानीय हैं । परस्पर संयोग के तारतम्य से उनके सात भेद हो जाते हैं । वहीं पुराणादि-शास्त्र वर्णित "लवणेक्षुसुरा सर्पिदधिदुग्ध-जलान्तकाः" नामक सात समुद्र है ।

इस तरह जीव देह में सात समुद्रों के विद्यमानता दर्शित हुई बोलकर विराट ब्रह्माण्ड में सात समुद्रो का अभाव कल्पना निन्द-नीय है। क्योंकि पूर्व ही कहा गया है कि भगवत्-सृष्टि की ऐसी महिमा है कि जो विराट ब्रह्माण्ड में विद्यमान है, वही प्रति जीव देह में भी वर्तमान है। इसी से हमारा हर-एक का देह मानो ऐक एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है। इसको अच्छी तरह विश्लेषण कर देख सकने से ही समग्र ब्रह्माण्ड का रहस्य मालूम हो जाता हैं। श्रुति भी कहती है—"आत्मनो वा अरे विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"।

जो हो, इस सात समुद्रों में क्षीरोदसमुद्र ही यहाँ प्रस्तावित और उल्लेख योग्य है। यह अनन्त रत्नों की खान है। देवता इसको मथन कर अनेक प्रकार के रत्न और अमृत पा कर धन्य हुए थे। फिर इधर देखिये—बुद्दि सत्व निर्मल होने ही से अनेक प्रकार की योग विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। इसके सिवाय विशेष लाभ: अमृत है, जिसे पीकर जीव अमर होता है। एकमात्र परमात्मा ही अमृत है। बुधि निर्मल होने से ही परमात्माविषयक प्रज्ञा प्रकाशित होती है, जन्ममृत्यु-संस्कार दूर होते हैं, जीव अमर होता है। साधारणतः रजोगुण-जनित चंचलता और. तमोगुण जनित आवरण ने बुद्धिसत्व की प्रकाश-शीलता को भी सम्पूर्ण कर रक्खा है, किन्तु तीव्र ईश्वर प्रणिधान से—मातृ-कृपा से जब वह अभिभूत होता रहता है, तब ही अनेक प्रकार का योगैश्वर्य प्राप्त होता है। जो केवल इस धन रत्नादि के लोभ में मुग्ध रहते हैं, उनके लिये कुछ दिन तक अमृत पाने का मार्ग रुका रहता है, वल्कि हलाहल उत्पन्न होता फिर विज्ञानमय महेश्वर—श्री श्री गुरुदेव स्वयं आ कर वह बिषपाण करते हैं और जीव (शिष्य) को अमृत पान कराकर, अमर कर देते हैं। जीव इसी से कहते हैं साधक, योगैश्वर्य पाने की आशा से साधन-समर में अवतीर्ण मत हो, केवल आत्मदान—आत्माहुति ही इस समर की समाप्ति है।

मातृ-चरणों में आत्म-बलि दो, मातृ-लाभ होगा। पथ की धूल—योगैश्वर्य, अपने आप आवेगा। तुम उपेक्षा करके केवल मा-मा कहते हुए बढ़े चलो! अपने को मा की चरणों पर डाल दो। ब्राह्मणत्व प्राप्त होगा—शश्वत् शान्ति के नित्य अधिकारी होगे।

क्षीरोद-समुद् ने देवी को क्या क्या आभरण दिये, आओ अब हम उनकी आलोचना करें। (१) अमलहार, (२) अजर अम्बर दो (३) दिव्य चुड़ामणि (४) दो कुण्डल (५) कटक समूह (६) शुभ्र अर्द्धचन्द्र, (७) केयूर, (८) विमल नूपुर, (९) अनुत्तम ग्रैवेयक, और (१०) अङ्गुलीयक रत्न-समूह। अनन्त रत्नों का आकार क्षीरोदसमुद्र अपनी अनुत्तमरत्नराजि से मा की पूजा कर कृतार्थ हुआ। धन-रत्न तो अनेक लोगों के पास रहते हैं, किन्तु वे यदि मा के अङ्ग की सुन्दरता पूर्ण न करें—मातृ-यज्ञ की आहुति यदि न हों, "हमारा धन है" यह अभिमान रहे तो, उस धन के कमाने, रखने और अनुचित खर्च करने से अनेक प्रकार का सन्ताप भोग करना पड़ता है। असुर लोग छल बल से वह धन हर लेते हैं। और यदि कोई उसे मा का धन समझ कर निष्कपट चित्त से अभिमान की बलि दे सके तो देखेगा कि धन के सदुपयोग के कारण निर्मल शान्ति धन को दिन-दिन अमरत्व की ओर बढ़ाती रहती है। इसी से आज क्षिरोदसमुद्र ने अपने समग्र ऐश्वर्य से मा का वर-वपु (कलेवर) सुसज्जित करने की चेष्टा की।

(१) अमलहार—विशुद्ध प्रकाश-शक्ति। बुद्धिसत्त्व निर्म्मल होने से प्रकाश-शक्ति अखण्ड होती है। विषय सम्बन्धी सब प्रकाश बुद्धि तक पहुंच सकते हैं, बुद्धि से परे विषयों का प्रकाश नहीं हैं। रजोगुण की चंचलता के कारण साधारण जीवों की यह प्रकाश शक्ति अति क्षीण होने से—जिस किसी पदार्थ के सम्मुख उपस्थित होती है, उसके अति सामान्य अंश को प्रकाशित करती है। मान लो कि तुम वृक्ष देखते हो। तुम्हारे बुद्धि-सत्त्व वा प्रकाश-शक्ति ने

कह दिया—' यह वृक्ष है; " किन्तु वृक्ष का सामान्य अंश ही तुम जान सके। उसकी बीती हुई और आगे आने वाली अवस्था, उसके भीतर का रस-प्रवाह इत्यादि, सब ही तुम्हारे अज्ञात रहे। बुद्धि-सत्त्व की मलिनता ही उसका एक मात्र कारण है। किन्तु सत्त्व-गुण विशुद्ध होने पर ऐसा नहीं होता, विषय के सब अंश एक साथ प्रकाशित हो जाते हैं। इस शक्ति का नाम अमलहार है। वह जो एक-मात्र सर्वशक्तिमयी मातृ शक्ति बिना और कुछ नहीं; उसमे मेरा कहने को अभिमान करने का कुछ नहीं है। यह अनुभव कर सकना ही मा को अमलहार पहना देना है। क्षीरोदसमुद्र के अमलहार — अर्पण का यही रहस्य है। अन्यान्य आभरण अर्पण भी ऐसा ही समझना चाहिये। हम बार-बार अर्पण का रहस्य न कह कर, केवल आभरणों का—आध्यात्मिक-तत्त्व का प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

(२) अजर अम्बर युगल—अविनाशी दो वस्त्र। माया और अविद्या, ये हीं मा के हेम वपु के आच्छादान हैं। पूर्व कहा है-मा कहती है, "माया वस्त्रे काया ढाकि सतत संगोपने थाकि।' "मा' जहां ईश्वर बोध में उद्‌बुध्या है, वहीं माया शक्ति का विकाश है, और जहाँ जीव बोध में उद्‌बुध्या है वहां अविद्या शक्ति का विकाश है। ये दोनों ही अनादि हैं, इसी से मन्त्र में "अजर" विशेषण का प्रयोग है। माया और अविद्या-शक्ति का स्वरूप क्या है, वह किस भाव से मातृ अंग को ढकने वाली हैं, वह विशुद्ध सत्व का प्रकाश होने पर ही समझ में आ सकता है।

(३) दिव्य चुड़ामणि—स्वर्गीय शिरोभूषण। यह दिव्यज्ञान शक्ति है, जिस ज्ञान के फल से जगत् के समस्त तत्व असङ्कीर्णभाव से अनुभव किये जाते हैं। साधारणतः हम जिस ज्ञान से विचार करते हैं, वह संकीर्ण अर्थात् मिश्रित ज्ञान है। जब हमें वृक्ष

ज्ञान होता है, तब उसकी काण्ड, शाखा, पत्र, पुष्प, फल, त्वक्, रंग अवकाश प्रभृति कुछ विभिन्न ज्ञान की मिलौनी (साङ्कर्य्य) होती है। वृक्षत्व विशिष्ट एक पुर्ण ज्ञान नहीं होता। इसी तरह किसी एक वस्तु का भी जो यथार्थ स्वरूप हैं, उसे साधारण जीवों का ज्ञान ग्राह्य नहीं होता है। किन्तु दिव्य ज्ञान शक्ति प्राप्त होने से फिर यह संकीर्णता नहीं रहती। तब प्रत्येक पदार्थ के विभिन्न धर्म्म, असंकीर्ण भाव से प्रकाशित हो जाते हैं। बुद्धि सत्व निर्मलता का यही अविसंवादि लक्षण है।

(४) कुण्डलद्वय – कर्ण भूषण। अत्यन्त दूर जो ध्वनि होती है और अन्तर में जो अनाहत शब्द होता है, उस स्पष्ठ रूप से श्रवण करने की सामर्थ्य को दिव्य श्रवण शक्ति कहते हैं, यही यथार्थ कर्णमूषण है।

(५) कटक—हाथ का भूषण, कंकण विशेष। यह दिव्य ग्रहण शक्ति का द्योतक है। एक स्थान में रह कर, बहुत दूर स्थिति अथवा समीप की वस्तु ग्रहण की शक्ति को कटक वा हस्तमूषण कहा है।

(६) शुभ्र अर्द्धचन्द्र—ललाट भूषण, ज्योतिः। आज्ञाचक्र से विशिष्ट विज्ञान ज्योति का प्रकाश होता है। उसके प्रभाव से विप्रकृष्ट व्यवहित और सूक्ष्म वस्तु अनायास दर्शन की जाती हैं। इसको दिव्य दृष्टि वा दूर दर्शन शक्ति कहा जाता है। योग शास्त्र में इसे "प्रवृत्यालोक" नाम से कहा जाता है।

(७) केयूर—बाहु भूषण, विधारण शक्ति। इसी को दिव्य धारण शक्ति भी कहते हैं। जिस शक्ति के प्रभाव से श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धनपर्वत धारण किया था।

(८) नूपुर—पाद भूषण, दिव्य गति शक्ति। इस शक्ति के प्रभाव से दुर्गम स्थान में गमन, मिट्टी वा पत्थर में प्रवेश, बन्द स्थान से अनायास बाहर हो जाना आदि अलौकिक कार्य सिद्ध

होती हैं। किंवदन्ती है कि महात्मा तैलंग स्वामी को कारागार में बन्द कर दिया, पर वे अनायास ही बाहर निकल आये थे। वह दिव्य गति शक्ति का ही फल था।

(९) ग्रैवेयक—ग्रीवा का आभरण, कण्ठ भूषण। यह दिव्य कण्ठ है। जिसका बुद्धि सत्व निर्मल है, उसका कण्ठ स्वर जनप्रिय होता है। उसकी बातें सब को मधुर प्रतीत होती हैं। उसके गाली देने पर भी मनुष्य बुरा नहीं मानते। इसको "स्वर प्रसाद" कहते हैं।

(१०) अङ्गुलीयक रत्न—दिव्य स्पर्श शक्ति। इस शक्ति के प्रभाव से सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु को अनायास स्पर्श करके उसकी कठोरता और कोमलता जानी जा सकती है।

बुद्धि सत्व निर्म्मल होने से ही प्रातिभ ज्ञान होता है। योग सूत्र में कहा है—"प्रातिभात् वा सर्वम्" (३।३३) प्रातिभ नामक ज्ञान होने से सब तरह की योग विभूतियां प्राप्त होती है। पूर्व कहा है कि शुद्ध सत्वगुण ही क्षिरोसमुद्र है। उसमें जो सब रत्न वा अलौकिक शक्तियां हैं, उन्हें मातृ शक्ति अर्थात् मातृ अंग के आभरण जान कर उनको अर्पण करके साधक सब तरह के अभिमान से विमुक्त हो जाते हैं। जो यथार्थ मुमुक्षु साधक हैं, जो यथार्थ मातृ स्नेह में आत्महारा सन्तान है, उन्हें भी प्रारब्ध फल से ये योग विभूतियां प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु कर्तृत्व बोध न रहने से उसके द्वारा किसी अलौकिक कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते। जो शरणागत-भाव के साधक हैं, वे सर्वतोभाव से अपना कर्तृत्व मा के चरणों में अर्पण करके निश्चिन्त रहते हैं यन्त्र से चलने वाली पुतलियों की तरह जगत् के कार्य करते जाते हैं। तथापि किन्तु समय समय पर उनकी अलौकिक शक्तियां प्रकाश हो ही जाती हैं वे अपनी अभिमान कृत नहीं करते, बल्कि—मातृ प्रेरणा ही इन सब शक्तियों के प्रकाश का हेतु है! जो यथार्थ मातृ स्नेह में मुग्ध हैं

उन्हें अलौकिक शक्ति प्रकाश करके जगत में विख्यात होने की इच्छा बिल्कुल नहीं होती, इस जगत् की जय ध्वनि वे नहीं चाहते। महती शक्ति के अंक में अपना कर्तृत्व अर्पण करके, वे जगत की स्तुति निन्दा से बहुत ऊपर चले जाते हैं। परन्तु वह दुसरी बात है।

विश्वकर्म्मा ददौ तस्यै परशुञ्चातिनिर्म्मलम् ।
अस्त्राण्यनेकरूपाणि तथाभेद्यञ्च दंशनम् ॥ २६ ॥

अनुवाद—विश्वकर्म्मा ने उसको अति निर्मल परशु, अनेक प्रकार के अस्त्र और अभेद्यकवच प्रदान किया।

व्याख्या। विश्वकर्म्मा—त्वष्टा। श्रुति मे है-"त्वष्टा रूपाणि पिंशतु"। विश्वकर्मा ही जगत का रूप और नाम प्रकाशित करता है। अव्याकृत मूल-प्रकृति को जो विशिष्ट नाम और रूप में परिणमित करे वही विश्वकर्म्मा है। जैसे कलाकार एक पत्थर के टुकड़े को काट कर अनेक प्रकार की मूर्ति वा द्रव्यादि तैयार करता है, उसी तरह विश्वकर्म्मा भी नाम-रूपरहित अव्यक्त प्रकृति को नाम-रूपादि स्वरुप में प्रकट करता है। यह विश्व-संगठन-शक्ति मा की शक्ति है, यह अनुभव करने का नाम ही विश्वकर्म्मा का परशु और अन्यान्य अस्त्र प्रदान है। अभेद्य कवच प्रदान का भी एक विशेषतात्पर्य है—विश्वकर्म्मा इतना वैचित्रमय, इतना बहुभावमय जगत को प्रकट करके उसमें अनुप्रविष्ट होकर भी स्वयं अविकृत रहते हैं। जिस प्रकार अभेद्य कवच पहन कर योद्धा अगणित शत्रुओं को घायल करके भी स्वयं अक्षत रहता है उसी प्रकार बहुनाम रुप से आकारित होने पर भी विश्वकर्म्मा स्वयं अव्याकृत नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरुप में रहता है। यह जिस शक्ति का प्रभाव है, वही विश्वकर्म्मा का अभेद्य कवच है। वह भी मा की ही शक्ति है, यह अनुभव करने का नाम ही वर्म्म समर्पण करना है।

अम्लानपङ्कजां मालां शिरस्युरसि चापराम् ।
अददज्जलधिस्तस्यै पङ्कजश्चमृतिशोभनम ॥ २७ ॥

अनुवाद । समुद्र ने एक अम्लान कमल की माला मस्तक पर धारण करने के लिये और दूसरी वक्ष पर धारण करने के लिये मा को दी । इसके सिवाय अति सुशोभन और भी एक पङ्कज, हाथ में धारण करने के लिये, दिया ।

व्याख्या । जलधि--जल समुद्र । पूर्व सात समुद्र प्रस्ताव में कहे गये हैं—तमोगुण ही जलसमुद्र है । पङ्कजमाला संस्कार श्रेणी है । पङ्क का अर्थ है कीचड़ और पाप, अतएव पाप से जो उत्पन्न हो वह पङ्कज कहा जाता है । पंक वा पाप क्या है? एकमात्र "अहं" भाव ही पाप है । देहादि में जो अहं-बुद्धि है, वही मूलपाप है । इसी से मन्त्र वर्ण में भी कहा है— "पापोऽहं" । मैं बोध अर्थात् अनात्मवस्तु में जो आत्मबोध है वहीं सब पापों की खानि है । पृथ्वी पर जितनी तरह के पाप हैं, वे इस अहं बोध के ऊपर ही स्थिर है; केवल पाप ही नहीं बल्कि जिनको साधारणतः पुण्य कहते हैं, वह भी इस 'पापोऽहं' की भित्ति पर ही प्रतिष्ठित हैं, अतएव इस दृष्टि से पुण्य भी पाप ही के अन्तर्गत है । जिस तरह परिणामादि दोष के कारण पुण्य वा जागतिक सुख भी विवेकी की दृष्टि में दुख के सिवाय और कुछ नहीं है, उसी तरह आत्मज्ञ पुरुष की दृष्टि में अनात्म बोध मात्र पाप के सिवाय और कुछ नहीं है । दर्शन शास्त्र में इस पाप पुण्य का नाम ही संस्कार है । संस्कार समुह "पापोऽहं" से ही उत्पन्न होते हैं, इसी से इनको पंकज कहा जाता है । संस्कार असंख्य होने से मन्त्र में माला शब्द का प्रयोग हुआ है । ये संस्कार ही वेदान्त की भाषा में माया, सांख्य की भाषा में प्रकृति, मीमांसा की भाषा में अपूर्व, नैयायिक की भाषा में अदृष्ट हैं । संस्कार अनादि हैं, इसी से मन्त्र में "अम्लान" यह सार्थक विशेषण दिया गया है ! मुक्त पुरुष से माया वा प्रकृति

दूर खड़ी रहती है, उसका सर्वथा नाश वा अपचय नहीं होता, वह प्रवाह रूप से नित्य है, इसी से अम्लान है। आचार्य्य शंकर ने भी उपनिषद् भाष्य में कहा है—'अमृतं कर्म्मफलम्" ।

अस्तु यह पंकज माला वा संस्कार श्रेणी तमोगुण ही पर विधृत रहती है। प्रख्या वा प्रकाश सत्वगुण का धर्म है, प्रवृत्ति वा उद्वेलन रजोगुण का धर्म है, एवंस्थिति वा धारण तमोगुण का धर्म है। तमोगुण के अन्तर्निहित अर्थात् बीजभाव को प्राप्त सस्कार रजोगुण द्वारा उमंगते हैं, एवं उसी के फल से आत्मसत्ता प्रकाश रूप सत्वगुण का धर्म जागरित होता है, अतएव तमोगुण वा जलधि ही मा को कभी न मुरझाने वाली पंकजमाला से सुशोभित कर सकता है। साधक याद रक्खें कि यदि सचमुच मातृ चरणों में आत्म समर्पण कर सकें तो जिन संस्कारों की ज्वाला से तुम सदा पीड़ित और बद्ध रूप से प्रतीत होते हो, वही संस्कार श्रेणी ही मातृ अङ्ग के भूषण रूप से शोभा पावेंगी।

इस मन्त्र में और भी रहस्य है कि दो पंकज माला और एक पंकज अर्पण का उल्लेख पाया जाता है। वह संस्कारों की तीन तरह की अवस्थाओं का सूचक है। आगामि सञ्चित और प्रारब्ध ये तीन श्रेणी में संस्काररशि विभक्त हैं। यह कथा पूर्व भी कही गई है। मातृ लाभ अर्थात् आत्म साक्षात्कार होने से उत्तर एवं पूर्ववर्ती संस्कारो का क्रम से वियोग और विनाश हो जाता है, केवल प्रारब्ध शेष रह जाती है। उसका भोग के द्वारा ही विनाश होता है आगामि संस्कार श्रेणी मा के "शिरसि" अर्थात् शिरो भूषण रूप से शोभा पाते हैं, संचित संस्कार श्रेणी मा के "उरसि" अर्थात् वक्ष स्थल पर शोभा पाते हैं और बाकी रही प्रारब्ध। यद्यपि वह कुछ संस्कारों की समष्ठिमात्र है, तथापि एक जन्म में ही उसका क्षय हो जाता है। इसी से प्रारब्ध कर्म्म संस्कारों को पंकज माला न कह कर, केवल पंकज कहा गया है, वह मा के हस्त स्थित लीला कमल रूप से शोभा पाता है। वास्तव में आत्म दर्शी

के जीवन काल का प्रत्येक कार्य ही लीला मात्र है, कारण कि वह साधारण जीव की तरह रागद्वेष के वश हो कर कर्म में प्रवृत्त नहीं होता मातृ-चरणों में कर्त्तव्य अर्पण करके, मातृ हस्तचालित यन्त्र को भांति, जगत् के कार्य करता है, इसी से, यह पंकज मा के हाथ की लीला-कमल रूप कहा गया है। इस विषय में एक आत्म सम्वेदन भी है—"ब्रह्मात्म द्रष्ठर्यवहल्लीलैव" जो आत्म दर्शी है, उनका व्यवहारिक जीवन लीला मात्र है।

हिमवान् वाहनं सिंहं रत्नानि विविधानि च।
ददाव शून्यं सुरया पान पात्रं धनाधिपः॥ २८ ॥

अनुवाद—हिमालय ने देवी का वाहन सिंह और नानाप्रकार के रत्न, एवं धनपति कुवेर ने सर्वदा सुरा से भरा रहे, ऐसा पान पात्र दिया था।

व्याख्या—हिमवान्—घनीभूत देहात्म बोध। हिमालयपर्वत स्थूलत्व अर्थात् जड़त्म बोध का सर्व श्रेष्ठ आदर्श है। मनुष्य देह भी जड़ वा देहात्म बोध का चरम आदर्श है, जीव इस स्थूल देह को "मैं" मान कर ऐसा बँध जाता है कि उसको हिमालयवत् चैतन्य-विमूढ़ कहे बिना रहा नहीं जाता।

सिंह—देवी का वाहन। प्रथम खण्ड में यह विषय विस्तार-पूर्वक लिखा जा चुका है। मनुष्य जब अपने देहात्मबोध की हिंसा करने लगता है तब ही वह सिंह धर्मी कहा जाता है। यह जीव भाव की प्रति हिंसा और ब्रह्मभाव जागरित करने का प्रयास, ये केवल मनुष्य शरीर में ही हो सकते हैं। इसी से मनुष्य जीव श्रेष्ठ हैं, सिंह भी पशु श्रेष्ठ हैं। मनुष्य जब अपने जीव भाव को मा के वाहन रूप से अर्थात् मातृ-शक्ति के परिचालक एक यंत्र रूप से अनुभव कर सकता है तब ही यह सिंह का अर्पण सिद्ध होता है। जब तक अद्वैत तत्त्व का अनुभव न हो अर्थात् हमारा "मैं ही मा" है यह सम्यक रूप से अनुभूत न हो, तब तक जीव-भाव

पर हिंसा वा सिंह भाव रहता है, किन्तु मा को पा लेने के बाद यह हिंसाभाव फिर नहीं रहता, तब से वह मा के वाहन रुप से परिचालित होने लगता है।

नाना प्रकार के रत्नों का अर्थ है अनेक वैचित्र्यपूर्ण कर्मफल। मनुष्यदेह ही यथार्थ कर्म-क्षेत्र वा कुरु क्षेत्र है। इसी देह ही में कर्म होता है, अर्थात् अनुष्ठान किये हुए कर्म्म ; यज्ञ रुप से मातृपूजा सम्पन्न करते हैं। अन्यान्य देह अर्थात् देव अथवा पशुदेह भोग भूमि मात्र हैं। उन देहों मे कर्म नहीं होता। साधक जब "प्रातः प्रभृति सायान्हं सायान्हात् प्रातरन्ततः। यत्करोमि जगन्मातस्त देव तव पूजनम्" मन्त्र में सिद्ध होता है अर्थात् जब साधक का प्रत्येक कार्य एकमात्र मातृपूजा रुप में और प्रति कर्मफल मातृ तृप्ति रुप में परिणित होता है तब ही यह रत्न राजि का अर्पण सिद्ध होता है। गीता में अर्जुन को उपलक्ष्य करके, हम जैसे अशक्त जीवों के लिये स्वयं भगवान् द्वारा कर्मफल त्यागरुप जो अमूल्य उपदेश दिये गये हैं, देवी माहात्म्य का यह हिमवान द्वारा विविध रत्नों का मातृ चरणों में समर्पण ही उसका यथार्थ सफलतामय परिणाम है। इसी लिये पूर्व कहा गया है कि गीता साधना है और चण्डी सिद्धि है। अस्तु, जिस प्रकार रत्नों के लोभ से मनुष्य जीवन को तुच्छ मानकर भी गंभीर समुद्र में डुबकी लगाते हैं। ठीक उसी तरह फल के लोभ से ही जीव दुस्तर कर्म्म समुद्र में अवगाहन करते हैं। इस कारण कर्मफल ही रत्न है। साधक! यह रत्न राजि मातृ चरणों में उपहार देकर कर्म बन्धन के हाथ से मुक्त हों।

यहां और एक विशेष जानने की बात यह है कि सिंह समर्पण हुए बिना रत्न-अर्पण हो ही नहीं सकते। प्रथम जीवभाव को मातृ वाहन रुप से अनुभव करने होता हैं, तब देखा जाता है कि कर्मफल अर्पण अपने आप हो जाता है, इसके लिये पृथक् कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। साधक अपने जीव कतृत्वाभिमान को लेकर मातृ चरणों

पर झुकादो, फिर देखोगे कि फल की ओर ध्यान न रहने पर भी तुम बहुवैचित्र्यमय कर्म करने के यन्त्र स्वरूप हो गये हो।

धनाधिप—जीवनी शक्ति। जीवन ही सर्व्वधनों को अधिपति है। वह सदा विषयानन्द रूप सुरापान में ही मस्त रहता है। अब तक समझ में नहीं आया था कि यह मदिरा कहाँ से आती है। यह जो कामिनी कांचन के भोग से उत्पन्न तृप्ति रूप सुरा है यह क्या है, इसको न जानने ही के कारण तो महिषासुर के अत्याचार से स्वर्ग भ्रष्ट थे। अब तक के इस अत्याचार के फल से ही आज यह समझ में आया है कि यह मदिरा से भरा विषय रूप प्याला भी मा के सिवाय और कुछ नहीं है। बड़े सौभाग्य के उदय से मनुष्य इस प्याले को भी मा रूप समझ सकते हैं। विषयानन्द भी ब्रह्मानन्द के सिवाय और कुछ नहीं है। यह समझ सकने पर ही आज ब्रह्ममयी के ब्रह्मयज्ञ में विषयानन्द पूर्ण पान-पात्र की पूर्णाहुति देकर धनाधिपति धन्य हुए हैं

शेषश्च सर्व नागेशो महामणि विभूषितम्।
नाग हारं ददौ तस्यै धत्ते यः पृथिवीमिमाम् ॥ २६ ॥

अनुवाद। जो इस पृथ्वी की धारणा किये हैं वे ही सर्व्व नागाधिपति शेषनाग (अनन्त) ने देवी के महामणिविभूषित नागहार प्रदान किये थे।

व्याख्या। शेष—अवशेषामृत-संस्कार बीज। योग की भाषा में इनको 'कर्माशय' कहा जाता है; कर्माशय से ही जीव की जाति, आयु और भोग निष्पन्न होते हैं। पार्थिव देह में ही ये हो सकते हैं, क्योंकि कर्म्माशय ही सदा पृथ्वी अर्थात् पार्थिव भावों को धारण कर रक्खा है, इसी से मन्त्र में "धत्ते यः पृथिवीमिमाम्" कहा गया है। हम ज्ञान से वा अज्ञान से जिनकर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे सूक्ष्म बीजाधार रूप कर्माशय से अंकुरित होते हैं। प्रति जीवन में नये नये कर्माशय गठित होते हैं इसी कारण प्रति जीवन में

नये नये कर्म अनुष्ठित होते रहते हैं। कर्म की शेष अवस्था बोलकर इन संस्कार बीजों को "शेष" कहा जाता है।

इन को सर्प और सर्व नागाधिपति क्यों कहते हैं? कर्म्म कहने से ही एक प्रकार शक्ति का स्फुरण समझ लेते। दर्शन श्रव-आदि प्रत्येक कर्म एक-एक प्रकार की शक्ति का स्फुरण मात्र है। ये शक्तियां जब अव्यक्त वा बीज अवस्था में रहती है तब इनका स्वरूप अनुभूत नहीं होता; कार्य रूप में प्रकाश होने से ही शक्ति की सत्ता उपलब्धि होती है। शक्ति जब प्रकाशित होती हैं अर्थात् प्रवाह शीला होकर कार्य्य रूप से आत्मप्रकाश करती है तब उसकी गति सर्पवत् होती है। सृप धातु का अर्थ कुटिल गति है। सर्प शब्द भी कुटिल गति विशिष्ट जीब विशेष ही प्रसिद्ध। शक्ति प्रवाह कभी भी सरल भाव से परिचालित नहीं होता। आधुनिक जड़ विज्ञान में भी यह अच्छी तरह प्रमाणित हुआ है। (परन्तु हमारे निकट शक्ति जड़ नहीं है। शक्ति कहने से हम चित् वा चैतन्य सत्ता ही समझते हैं) अस्तु। हमारी अनेक देव-देवी मूर्तियां हैं जो सर्प भूषण वा सर्प संस्थित हैं।

उनका भी रहस्य यही है, कि जो शक्ति घनीभूत होकर जैसी स्थूल मूर्ति से प्रकाशित होती है, उस शक्ति की प्रवाह-मय अवस्था प्रकट करने ही के लिये इन मूर्तियों का सर्पाभरण दीखता है। एवं इस सत्य के अनुसार ही जीव भाव वाली शक्ति को "कुल कुण्डलिनी" कहा है। वस्तुतः साधक जब विशिष्ट क्रियादि करते हैं, तब वे प्रत्यक्ष अनुभव भी करते हैं कि शक्ति प्रवाह मानो सर्पगति से प्रवाह मय होकर ऊपर की ओर उठता है, अथवा ऊपर से नीचे उतरता है।

अस्तु, कर्म्माशय से ही छोटी बड़ी ही सब शक्तियों का विकाश होता है इसी से 'शेष' को 'सर्वनागेश' कहा जाता है। इन्होंने मा को महामणि विभूशित नागहार दिये थे। मोक्ष फल सुशोभित कुल कुण्डलिनी ही मणि विभूषित नागहार हैं। यद्यपि वास्तविक

बद्ध या मोक्ष बोलकर कुछ भी नहीं है, कारण कि परमात्मा नित्य-मुक्तस्वरूप है, तथापि जीव भाव की अपेक्षा से बद्ध और मोक्ष दोनों ही है, क्योंकि सत्यसङ्कल्प-ब्रह्म में ही जीव भाव परिकल्पित होता है।

साधक! मूलाधार ही कर्म्माशय है, उसी में जीव भाव स्थित है। जीव भाव का नाम ही कुल कुण्डलिनी हैं। एक सर्पकल्पना करके मार्ग मत भूल जाना। जीव की ही मुक्ति होती है, इसी कारण कुण्डलिनी के मस्तक पर मोक्ष रूप महामणि सुशोभित है। सर्पगति से जीव शक्ति ब्रह्माभिमुखी होती है, इसी से उसको सर्प कहा जाता है। यही जीव शक्ति भी मा है, यह अनुभव कर सकने से ही नागहार अर्पण सिद्ध होता है। मूलाधार स्थिता सुषुम्ना भुजङ्गीरूपिणी मा को कहो— मा! 'तुम कब उद्बुद्धा होगी! कब ये जीवत्त्व की बेड़ी गिर जायगी? "मा! जो योगी हैं, जो शमदमादी साधन बल सम्पन्न हैं, वे अनेक उपायों की सहायता से तुम को उद्बुद्धा करने का प्रयास करते हैं। हमारे पास न तो कुछ बल है न साधना ही है मा!" तब क्या मा सदा सोती ही रहोगी? एक बार जागो, एक बार परमेश्वरी मूर्ति से खड़ी होकर अपने इस अधम पुत्र को आदर से गोद में लेलो।' इस भाव से सरल प्राण से प्रार्थना करो! तो देखोगे कि मा, कुल कुण्डिली जाग गई है और तुम्हारा जीवत्व मातृ अङ्ग में मुक्तिरूप-महामणि भूषित हाररूप से शोभायमान है और तुम मा में मिल गये हो।

अन्यैरपि सुरैर्देवी भूषणैरायुधैस्तथा।
सम्मानिता ननादोच्चैः साट्टहासं मुहुर्मुहुः ॥ ३० ॥

अनुवाद। इस तरह अन्यान्य देवताओं द्वारा अनेक प्रकार भूषण और आयुध द्वारा सन्मानित होकर देवी मुहुर्मुहु अट्टहास और उच्चनाद करने लगीं।

व्याख्या। प्रधान देवताओं की शक्ति समर्पण कह कर अन्यान्य देवताओं का भी हथियार भूषण आदि देने का विषय उल्लेख कर के ऋषि ने यह प्रस्ताव समाप्त किया। ठीक ऐसा ही होता है—जीव जब सर्वतो भाव से मातृ-लिप्सु हो जाता है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अङ्ग-प्रत्यङ्ग यहाँ तक कि स्थूल देह का प्रत्येक परमाणु तक मातृ नाम से झङ्कार उठता है। मातृ नाम से—प्रणवादि मन्त्र जाप से ऐसा ही अभ्यास हो जाता है कि बिल्कुल अनमना भाव होने पर भी जप होता रहता है। श्वाश प्रश्वास की भांति विना प्रयत्न से जप सिद्ध होता है। जप कहने से कोई माला वा हाथ का जप न समझे। "तज्जपस्तदर्थभावनम्' मातृ-स्वरुप का वा महत्व का अनुचिन्तन ही यथार्थ जप है। योगयुक्त अवस्था ही जप का विशेष लक्षण है। अस्तु, इस तरह योगयुक्त भाव क्रम से घनीभूत होता है। क्रम से व्यष्टि शक्ति समष्टिभाव को प्राप्त हो कर संस्कारानुसार इष्ट-मूर्तिरुप प्रकाशित होती है अथवा विश्वव्यापी चैतन्यमय सत्ता का उपलब्धि होता रहता है। तब साधक अच्छी तरह समझ सकते हैं—यही एकमात्र कर्त्ता, भोक्ता महेश्वर है। ये एक होकर भी सर्वभाव के अधिष्ठाता और सब भावों में ओतः-प्रोत हैं। अब तक जिनमें हम अभिमान करते थे, अर्थात् हमारी देह, हमारा मन, हमारी बुद्धि इत्यादि रुप इस अभिमान के दृढ़-बन्धन से बधे हुए मूढ़ थे, वह अज्ञता थी। अब मातृ-कृपा से अनुभव कर सकें हैं कि मैं और मेरा कहने वाला मा के सिवाय और कोई नहीं है। सर्वस्वरुपा मा, सर्वेश्वरी मा, एवं शक्तिसमन्विता मा, इन तीन स्वरुपों में मा हमारी जीव, ईश्वर और ब्रह्मभाव से भी नित्य विराजती है।

"मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है" इस महासत्य पर प्रतिष्ठित होना ही अभिमान का बन्धन खुल जाना है। तब साधक जो कुछ पाता है, वस्त्र, भूषण आयुध इत्यादि सब मा के चरणों पर अर्पण करता रहता है। पूर्व जिन वस्तुओं में अभिमान अर्थात् ममत्वबोध

था, वे सब ही निष्कपट भाव से मातृ-पूजा के उपकरण रूप से अर्पण करके मा को सम्मानित करता है। अरे फिर मा के असम्मान बोलकर कुछ है क्या, देवता लोग भूषण अस्त्रादि से माको सम्मानित करेंगे? नहीं जी वैसी बात नहीं, मा तो सम्मान असम्मान दोनों ही से ऊपर है, परन्तु देवता गण इस तरह पूजा करके आप ही पूजित वा सम्मानित हुए थे, यद्यपि मान्‌धातु का अर्थ ही पूजा है और यहाँ सम्मानित शब्द सम्यक प्रकार से पूजित अर्थसे ही व्यवहृत हुआ है, तथापि प्रचलित भाषामें जिसको मानना, अर्थात् मान लेना वा स्वीकार करना कहते हैं हम यहां सम्मानित शब्द का वही अर्थ करेंगे। सम्यक् रूप से मान लेने पर ही मा हमारी सम्मानिता होती है।

ओ मा! केवल तुम्हारा अस्तित्व स्वीकार करने ही से तुमको मानना हो जाता है, तुम सम्मानित होती हो तुम्हारे प्रियतम सन्तानों को यह बात समझा दो। केवल "तुम हो" यह एक बात मन में रखकर जीव यदि जीवनयात्रा निर्वाह के मार्गपर चले तो जीवन इसीसे सार्थक हो जाता! हम मुख से कहते हैं "भगवान् हैं" किन्तु कर्म ठीक उसके विपरीत करते हैं। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त जितने कार्य करते हैं उनमें से कितने कार्य भगवान का अस्तित्व सामने रखकर करते हैं? हिन्दू के घर कुलीन स्त्रियों का स्वामी है या नहीं, यह जिस प्रकार जिज्ञासा करके नहीं जानने होता है, उनकी आकृति प्रकृति ही स्वामी का अस्तित्व प्रकाश कर देती है, ठीक उसी तरह जिस मनुष्य ने जगत् स्वामी का अस्तित्व मान लिया है उसकी आकृति और उसका प्रति कार्य ही भगवान की सत्ता प्रकाश कर देता है। मा! हमने तो तुम्हारी सत्ता ही मानी नहीं, तब फिर कौन मुख से कहें कि 'हमें दर्शन दीजिये! जिसके अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं उसके दर्शन की अभिलाषा कैसे हो सकती है? चाहे "मा, हमें दर्शन दीजिये" यह कहकर कितने ही रोयें, चाहे आँखों से आँसू बहाकर लोगों

की दृष्ठि में भक्त और प्रेमी बनें, चाहे, उच्च कण्ठ से जय ध्वनि करके अपने को ही कृतार्थ मान लें, परन्तु यह बड़ी सत्यवात है वास्तविक तुम्हारी सत्ता नहीं मान पाये। इसी से कहते हैं मा हम तुम्हारा स्वरूप नहीं समझना चाहते, तुम्हारी अचिन्त्य अव्यय मोहन मूर्ति देखकर धन्य नहीं होना चाहते, केवल तुमको मानने दो कि तुम हमारी एकजन, तुम्हारे सम्बन्ध में फिर कुछ ज्ञान रहे वा न रहे, केवल तुम 'हो, इस अस्तित्व में विश्वासवान् करो अपनी सत्ता मानने दो हमारा मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सम स्वर से कहने लगें "मा सत्य है"। स्त्री है, पुत्र है, गृहस्थी है, देह है इनका होना कितने धन भाव से हृदय में फूट उठता है। परन्तु वास्तव में यह हैं को नहीं कहने में भी कुछ हानि नहीं है वह अज्ञान मात्र है। और जो यथार्थ ही है, जीसकी सत्ता इतनी धन है कि उस सत्ता की ओर दृष्टि पड़ने से ही जगत् सत्वा की ये छोटी-छोटी 'है' बिलकुल विलुप्त हो जाती है, उस अस्तित्व पर विश्वासबान् नहीं हो सकते, इससे अधिक दुखः का विषय और क्या हो सकता है ?

वहुदिन बहुजन्म, बहु युगों से यह जीवत्त्व का असह्य पेषण सहते आते हैं, केवल इसी एक के लिये केवल तुम्हें नहीं मान पाया हमारे जन्म, मृत्यु, रोग, शोक, दुःख, कष्ट जितने कुछ हैं। यह जो महिषासुर की उत्पीड़न छोटी-छोटी कामना वासनाओं का अत्याचार है, बहुत दिन हुए, मा इन के द्वारा जर्जरीभूत हो रहा हूँ। मा इनको अब नहीं सह सकते। अभी तुम अपनी सत्ता छिपा रखती हो इसी से तो हम तुम को मान नहीं सकते, और उसी के फल से इस त्रिताप ज्वाला से जले मरते है। किन्तु अब नहीं एक बार प्रकाशित होकर देखो कि तुम्हारी बड़ी साध की सन्तान आज संसार के सन्ताप से कितनी उत्पीड़ित है !

यह देखो साधक ! जिस मुहूर्त्त से तुमने मातृ सत्ता मान ली हैं,

जिस मुहूर्त्त से तुमने ठीक ठीक समझा है कि तुम्हारी दुःखहारिणी मा "एकजन" है, जिस मुहूर्त से तुम अपने को असुर द्वारा उत्पीड़ित समझ कर अक्षेय सत्ता की ओर मोहाच्छन्न दृष्टि स्थापन कर कहते हो 'आओ मा, हम बहुत उत्पीड़ित हैं' ठीक उसी समय मा आविर्भूत हुई है। इसी से मन्त्र में कहा है—"उच्चैर्ननाद" "साट्टहासं मुहुर्मुहुः" मा ने हुङ्कार छोड़ी है, अट्टहास से दिशायें गूँज रही हैं; मा हमारी चण्डी मूर्ति से आविर्भूत हुई है। अरे कौन है! पुत्रों पर अत्याचार! मा भैः मैं तुम्हारी मा हूँ। हम आगई हूँ। अब तुम को उत्पीड़ित नहीं होना होगा! सन्तान! तुम्हारी उत्पीड़न बोध ने मेरा क्रोध का उद्दीपन कर दिया है: मुझे चण्डी बना दिया है। अब कुछ डर नहीं, अब तुमको अनात्म भाव वा जड़त्व द्वारा मथित न होना होगा। मैं सब जड़ भावों —असुरों का विनाश साधन करूंगी। अब वे बच नहीं सकते।

साधक! मा की यह अभय वाणी, यह उच्चनाद, यह अट्टहासि, प्रत्यक्ष करके जन्म जीवन सार्थक करो, इसे भाषा की झंकार वा भाव का उच्छ्वास मात्र न समझो। सत्य ही जिस दिन तुम अपने को असुर के अत्याचार से जर्जरीभूत समझ सकोगे; सत्यही तुम जिस दिन मातृ अस्तित्व में विश्वासी होगे, सत्य ही जिस दिन तुम शरणागत दीनार्त परित्राण परायणा कह कर मातृ आगमन की प्रतीक्षा में बैठे रहोगे, उसी दिन समझ सकोगे कि इस तरह परित्राण परायणा मूर्ति से मा का आविर्भाव कितना सत्य है। परन्तु वह दूसरी बात है।

पुनः पुनः विषयेन्द्रिय संयोग के कारण जो परिच्छिन्न चैतन्य का उपलब्धि होता है, जब वह समष्टि भावापन्न होकर एक अखण्ड चैतन्यरूप से उपलब्धियोग्य होता है, तब साधक देखते हैं कि उस में किसी विशिष्ट धर्म का प्रकाश नहीं है, तो भी सर्व धर्म्मसमन्वित एक अनिर्वचनीय आनन्दमय सत्ता उद्-

भासित है। अब तक अन्धे की तरह विषय रूप लाठी के सहारे से आत्मसत्ता उद्बुद्ध करने होता था किन्तुः—अब उसकी कुछ आवश्यकता नहीं। अधिष्ठान चैतन्य वा चित्समुद्र में अवगाहन करके सब तरह की संकीर्णता परित्याग करके भी साधक पूर्ण घन आत्मसत्ता में उद्बुद्ध रह सकते हैं। देखिये, वह कैसी अपूर्व लोभनीय अवस्था है? यद्यपि ऐसी अवस्था में दीर्घकाल अवस्थान नहीं किया जा सकता तथापि जितना रहा जाय उसकी मधुमयी स्मृति ही साधक को व्युत्थान काल में आनन्दमय कर रखती है। फिर उस अखण्ड सत्ता में से ही अभीष्ट मूर्ति-दर्शन करके साधक कृतकृत्य होते हैं।

अस्तु यहाँ देवताओं के तेज से उत्पन्न जिस विशिष्ट मूर्ति का विषय वैकृतिक रहस्य में कहा है वह महालक्ष्मी मूर्ति है। यह मूर्ति समग्र ऐश्वर्य वीर्यादि समन्वित पूर्ण भोगमयी हैं। इसी से इसका दूसरा नाम भोगमाया है। हम ने प्रथम अध्याय के मधुकैटभ-निधन में तामसी महाकाली मूर्ति का आविर्भाव दिखाया है, वह महाकाली वा योगमाया की मूर्ति है। विष्णु की योग-निद्रा दूर करने के लिये ही उस मूर्ति का आविर्भाव हुआ था। और इस अध्याय में मा की असीम महिमामयी अनन्त भोगमयी मूर्ति का आविर्भाव दिखाया है। समस्त देव-शक्ति सम्मिलित इस महालक्ष्मी मूर्ति से मा आविर्भूत होकर जैसे:—एक तरफ देवकुल का आनन्द बढ़ाती है वैसे ही दूसरी तरफ असुर कुल का निधन कर के जीव का मुक्तिमार्ग निर्विघ्न करती है। क्रम से इसका रहस्य और भी खुलेगा।

तस्यानादेन घोरेण कृत्स्नमापूरितं नभः।
अमायतातिमहता प्रतिशब्दो महानभूत ॥ ३१ ॥
चुक्षुभुः सकलालोकाः समुद्राश्च चकम्पिरे।
चचाल वसुधाचेलुः सकलाश्च महीधरा ॥ ३२ ॥

अनुवाद। उस देवी के घोर निनाद से समग्र नभमण्डल परिपुर्ण हो गया। अपरिमेय अति महान् उस नाद की महान प्रतिध्वनि उठी। इससे सब लोक विक्षुब्ध, समुद्र सब कम्पित वसुन्धरा चालित एवं महिधर गण प्रचलित हो उठे।

व्याख्या। व्यष्टि शक्ति समाष्टिभावापन्न होने से व्यष्टिनाद भी समष्टि भाव को प्राप्त होता है। जिस तरह सृष्टि स्थिति प्रलयात्मिका महाशक्ति प्रति जीव हृदय में अवस्थित रह कर विभिन्न इन्द्रिय और भावाकार से प्रकाशित होने पर ही व्यष्टि भाव वा परिच्छिन्नता को प्राप्त होता है, ठीक उसी तरह एक महान् अव्यक्त नाद भी विशेष विशेष भावों का प्रकाश करने में कण्ठ, तालु, जिह्वा, दन्त ओष्ट आदि यन्त्रोंमे प्रतिहत होकर विभिन्न नाद रुप से प्रकाशित होता है। जिस तरह शक्ति एक अखण्ड है। ऐसा नादभी एक अखण्ड है। जब तक इस अखण्ड शक्ति वा नाद का सन्धान नहीं पाया जाता, तब तक ही यह विभिन्नभाव और विभिन्न शब्द रुप से आत्म प्रकाश करते हैं। शक्ति अनिर्वचनींया उसका प्रथम अभिव्यक्ति—नाद। नाद और शक्ति अविनाभावी है। जहाँ शक्ति है वहीं नाद है। साधकगण मातृ कृपा से महती शक्ति का पता पाते ही इस सुमहान् नाद का भी पता पा लेते हैं। इस जगत में जितने पदार्थ दीख पड़ते हैं अथवा अन्तर में जिन भावों का उदय होता है वे एक एक शब्द मात्र हैं। शब्द नहीं है तो भी पदार्थ वा भाव हैं ऐसा नहीं होता। जीव अब तक एक एक बिशिष्ट शब्द पर आसक्त था। इसी से बहुत्व का बन्धन—महिषासुर का अत्याचार था। परन्तु वह सुकृति के फल से आज अखण्ड नाद का सन्धान पाया हैं। यह मा का ही नाद है। अव्यक्ता मा हमारा नादमयी मूर्ति से प्रकट हुई है। प्रथमतः वह अनाहत नाद रुप से प्रतीत होती है. समस्त व्योम

मण्डल परिपूर्ण करके वह नाद उठता है वाद में शरीर के प्रति परमाणु में वह प्रतिध्वनित होने पर देह नादमय बोलकर बोध होने लगता हैं। इस अवस्था मे समस्त विश्व ऐक अखण्ड नाद के सिवाय और कुछ जान हो नहीं पड़ता। उस अखण्ड नाद में आमित्व को मिलाकर साधक जो अनुपम आनन्द भोग करता हैं वह भाषा में वर्ण न नहीं किया जा सकता। वही मा का घोर नाद हैं, उससे सब लोक विक्षुब्ध, समुद्र कम्पित,* वसुधा चलित और महीधर गण प्रचलित होते हैं।

लोक—दर्शनार्थक लुक धातु से लोक शब्द बना है। लोक्यते इति लोकः।" जो दर्शन किया जाता है, जाना जाता है, वही लोक है। अर्थात् विशिष्ट भाव से नाम और रुप की सहायता से जो प्रकाशित होता है उसे लोक कहते हैं, ग्रहण और ग्राह्य पदार्थो का साधारण नाम लोक है। समुद्र—तीन गुणों के संयोग की विचित्रता के कारण सात भेद हैं, इसकी व्याख्या विशेष भाव से पूर्व ही हो चुकी है। वसुधा—पार्थिव देह। वसु को धारण करे, अर्थात् अनन्त ज्ञान रत्न का आकार होने से इसे बसुधा कहते हैं। महीधर—घनीभूत जड़त्वबोध। मही जड़त्व की चरम परिणति हैं जो बोध उसको धारण करे, अर्थात् जो चैतन्य जड़ाकार से प्रकाश पाते हैं, उन्हें महीधर कहते हैं। ये सब ही क्षुब्ध, प्रकम्पित और प्रचलित होने लगे। यह क्षुद्रता, यह जड़ता, यह माया कल्पित इन्द्रजाल शायद और नही रहेगा ? सच्चिदानन्द-मयी का घोर नाद उठा है उस नाद ने सब भावों—बहुत्व को दलित मथित करके पूर्ण अखण्ड चैतन्य राज्य में मिला देगा शायद जड़त्व का अधिकार विलुप्त हो जायगा इसी से इनमें क्षुब्ध भाव वा कम्पन, जो नाद महाशक्ति रुपिणी मा के कण्ठ से निर्गत होकर सप्त लोक भेद कर उठता हैं उस नाद का कैसा अपूर्व प्रभाव हैं।

साधक। क्या आपने कभी मातृ आह्वान माता का वह घोर आकर्षणमय कण्ठस्वर सुना है? जब तक मातृ-अस्तित्व में पूर्ण विश्वासी न होंगे, जबतक अपना निजत्व को पूर्ण भाव से मातृ चरणों में अर्पण न करोगे तब तक क्या वह आह्वान सुनाई पड़ेगी? सुन पड़ने पर भी क्या उसका महत्व अनुभव कर सकोगे? उस सच्चिदानन्द क्षेत्र का अपूर्व आह्वान अनिवर्चनीय नाद—यद्यपि घोर यद्यपि महान् अमेय हैं, तथापि है बड़ा मधुर! वह ध्वनि प्राण को मत्त कर देती है। चण्डी के चण्डस्वर अभय वाणी यथार्थ ही अतुलनीय। मा! तुम तो दिन रात अश्रान्त अनाहत नाद से हमारे हृदय में से पुकारती रहती हो हम लोग तुम्हारी आह्वान सुनकर भी नहीं सुनते हैं। जगत के कोलाहल इन्द्रियों को विषय की तलाश में दौड़धूप करने की गोल-माल से तुम्हारी वह आवाज हमारे कानों में पहुँचती नहीं? इसीसे तो मा घर के बालक घर में नहीं जाते बाहर में प्रचण्ड धूप में शोक दुःख की प्रचण्ड दावानल से झुलसे जाने पर भी मोह का खिलौना लेकर मत्त हैं। कितनी क्रोध की भान करके रक्त चक्षु से हमको पुकारो परन्तु हमारा यह दुर्निवार मोह किसी से दूर नहीं होता।

मा, हम तुम्हारा पुकारना क्यों नहीं सुनते? ऐसा क्यों नहीं पुकारती जो हम सुन सकें? मा इस तरह पुकारो कि जिससे हमारे बहिरे कान भी सुन सकें? सुना है कि जो तुम्हारी आहवान सुन लेता है वह कुल छोड़कर अकुल में बहने लगता है। मा। हमारे कानोंमें भी एक बार वह शब्द सुनाओ, जिस नाद से वृन्दावन में गोपियां लाज भय छोड़कर दौड़ती थीं, जिस नाद से पशु पक्षी व्याकुल होते थे जिस नाद से यमुना का जल प्रवाह उलटा जाता था, मा, वही नाद, वही नाद वही सात छेद वाला मोहनवंशी का नाद, एक बार सिर्फ एक ही बार हमारे कानों को सुना दो। जिससे हमारी इस बिषय रुप कुल को छोड़कर अकुल में श्यामकलङ्क

सागर पर तैरने लगे। हम भी मातृहारा वत्स की तरह मा-मा कहकर दौड़ने लगें।

मा के उस नाद में और इस नाद में भेद है। वह आकर्षणमय मधुर वंशी नाद है और यह अभिचार सन्तान के असुरभीति निवारक घोर नाद है। नाद एक ही है, किन्तु देश काल और पात्र भेद से विभिन्न भाव में प्रकाशित होता है। जो पुत्र के लिये मोहन आकर्षण मन्त्र है वही पुत्र के वैरी संहार में घोर अभिचार-मन्त्र रूप से अभिव्यक्त है। मा चण्ड मूर्ति से आविर्भूता। असुर कुल का नाश करने के उद्देश्य से विराट ऐश्वर्य सम्भार से समग्र विश्व शक्ति के समवाय से, मातृदेह विभूषित है। यद्यपि पुत्र की दृष्टि में यह मूर्ति अभया—आनन्ददायिनी है, तथापि शत्रु की दृष्टि में वह अत्यन्त भीषण—भितिदायिनी है। इसी से यहाँ मातृ हुन्कार घोर—सुमहान है। क्रम से यह स्पष्ट होगा।

साधक ? तुम भी जब मा बोल कर सिंह नाद करोगे, सत्य मन्त्र से दिक्षित होकर, सत्य भाव से उद्बुद्ध होकर सब तरह की दुर्बलता के हाथ से परित्राण पाने के लिये जब सत्य नाद छोड़ोगे, तब उस नाद से मानो समस्त व्योममण्डल कांप उठा है, तुम्हारी जड़ देह मानो सत्यनाद से सञ्जिवित होने लगी है, प्रत्येक परमाणु मानो सत्य के सम्वेदन से उद्बुद्ध होकर झंकार ने लगा हैं। सत्य केन्द्र पर खड़े हो कर "जय सत्य, जय मा" कह कर ऐसी ही जय ध्वनि करो जिससे समग्र विश्व—स्थावर जङ्गम, तुम्हारे उस नाद से कम्पित होने लगे। जिससे यह जगत् जड़त्व छोड़ कर प्राणमय भाव धारण करे। ऐसे ही भाव से 'मा—मा" कह कर पुकारो। जिससे उस पुकार से इन्द्रिय वृत्तियों के मर्म्म में भीति का सञ्चार हो ! ठीक उसी तरह असुर कुल के प्राण में भीति उत्पादन करके निर्भय निश्चिन्त साहसी पुत्र की तरह, एकबार मा कह कर बुला देखो !

अजी ! एक दिन समग्र विश्व मानव मण्डली समवेत कंठ से मा—मा कह कर पुकारेगी, वह घनीभूत ध्वनि स्वर्ग मर्त्य एकत्र कर देगी! और हम—मैं दूर से खड़े होकर वह दृश्य देख कर आत्महारा हो जाऊँगा। आवेगा वह दिन—आवेगा।

अस्तु, यहां नादतत्त्व के सम्बन्ध में कुछ आलोचना आवश्यक है नाद ही ब्रह्म है। नाद तत्त्व में अवगाहन कर सकने से ही ब्रह्म दर्शन वा मातृ अंक में आरोहण किया जाता है। यह कैसे हो सकता है? प्रथम स्मरण करो—यह जगत् ब्रह्म की कल्पना मात्र है। श्रुति भी कहती है—'यथा पूर्वमकल्पयत्'।' कल्पना मन का धर्म है। "संकल्पः कर्म्म मानसम्"। संकल्प वा कल्पना ही मानस कर्म है। मन में जो कल्पित होता वह कुछ शब्दों की समष्टि मात्र है। शब्द शून्य कल्पना नहीं होती। यदि जगत् में शब्द न रहता तो कल्पना कहने को कुछ नहीं रहता। मन ही मन कुछ शब्दों का अनुचिन्तन करना ही कल्पना है। अतएव ब्रह्म कल्पना किये का मतलब है कुछ शब्द किये। जैसे सूर्य, चन्द्र, वृक्ष, लता, मनुष्य, पशु, जगत्, इत्यादि। इस तरह शब्दमय मानस कल्पना ही यह परिदृश्यमान् जगत् है। अतएव यह जगत् शब्दमय है।

फिर दूसरी तरफ से भी यह समझा जा सकता है कि जगत् की वस्तुओं का साधारण नाम पदार्थ है। व्याकरण शास्त्र में सुबन्त और तिङन्त शब्द को पद कहते हैं। पद का जो अर्थ है वही पदार्थ है। पद कुछ वर्णों की समष्टि है। वह भी शब्द मात्र है। प्रत्येक पद वा शब्द का एक एक अर्थ है। यह अर्थ ऐश्वरिक संकेत-विशेष है-"इस शब्द से इस तरह अर्थ प्रतीत होगा" ऐसा एक अनादि सिद्ध संकेत है। 'वृक्ष" एक शब्द है। वह कई एक वर्णों की समष्टि है। मन में या मुख से वह ध्वनि रूप से प्रकाशित होती है। अतएव व्याकरण के मत से जो शब्द

हैं, वह केवल वर्णों की समष्टि नहीं है ध्वनिस्वरूप है। अस्तु "वृक्ष" यह पद का अर्थवा अनादि सिद्ध एक संकेत है। शाखा पल्लवादि विशिष्ट एक वस्तु ही वह संकेत है। क्योंकि वृक्ष शब्द उच्चारण करते ही ऐसी ही एक वस्तु को प्रतीत करा देता है। ऐसा ही सर्वत्र जिस किसी वस्तु को अवलम्बन करके धीर भाव से उस समय के मानस व्यापार पर लक्ष्य करने से सब ही समझ सकेंगे कि सब पदार्थ एक शब्दमय भाव के सिवाय और कुछ नहीं है। श्रुति भी कहती है "वाचारम्भणं नामधेयं विकारः" पदार्थ रूप जो कुछ प्रतीत होता है वह वाक्य अर्थात् शब्द द्वारा ही गठित है। अतएव यह जगत कुछ शब्दों की समष्टिमात्र है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। वेदान्त मत से जगत् नामरूप मात्र है। नाम—वस्तुतः शब्द वा नाद के सिवाय और कुछ नहीं है।

यह नाद द्विविध है। ध्वन्यात्मक और शब्दात्मक। शङ्ख मृदङ्गादि से जो नाद उठता है वह ध्वन्यात्मक है। उससे भी जीव को हर्ष विषाद क्रोध आदि की उद्दीपना होती है; यह नित्य प्रत्यक्ष है। कुरुक्षेत्र युद्ध में पाण्डव पक्षीय शङ्ख नाद ने धार्त्तराष्ट्रों के हृदय विदीर्ण किये थे। जब जड़ यन्त्रादि से निकले हुए नाद की इतना सामर्थ्य है तब चेतन यन्त्र अर्थात् जीव कण्ठ से निकला हुआ शब्दमय नाद जगत् की सृष्टि स्थिति आदि कार्य करने में समर्थ होंगे, तो इसमें फिर विचित्रता ही क्या ? दुर्योधन ने कहा— "सूच्यग्र भू न देंगे" इस एक ही वाक्य से भारत के सब राजाओं ने स्वेच्छा पूर्वक पतङ्गों की भांति समरानल में आत्माहुति दी थी। ऐसे दृष्टान्त जगत में अनेक हैं। पक्षान्तर में फिर एक ही शब्द केवल, उच्चारण के भेद से अर्थात् कण्ठस्वर के तारतम्य से श्रोता के मन में विभिन्न भाव उत्पन्न करता है। सहधर्मिणी के सहोदर को व्यङ्ग कण्ठ से 'साला' कहने से उसके ओष्ठाधर पर मधुर हँसी प्रकाशित होती है और वही शब्द कर्कश कण्ठ से प्रयोग किया

जाय तो वह भी कठोर शब्द से वही शब्द ब्याज सहित प्रयोग करने वाले का लौटा देता है। यही जगत् का नियम है। केवल कुछ शब्दों द्वारा यह जगत रचा गया है कुछ शब्दों द्वारा परिचालित और कुछ शब्दों द्वारा ही इसका प्रलय होता है। यह जगत् कुछ शब्दों के भिन्न और कुछ नहीं है।

प्रत्येक परमाणु का ही एक स्वाभाविक शब्द है। इस स्वाभाविक शब्द से ही आणविक स्पन्दन निर्वाहित होते हैं। स्पन्दन के संयोग वियोग की विभिन्नता के कारण यह विचित्र जगत् विकाश प्राप्त होता है। वह स्वाभाविक शब्द हमारे अकार अक्षर की भांति है। कुछ 'अकार' एक सुर में, एक तान से दीर्घ प्लुतभाव से उच्चारित होने पर जैसा होता है इस जगत् का मूल वा स्वाभाविक नाद भी वैसा ही है। वही आदिम शब्द है। श्री भगवान ने भी कहा है—"अक्षराणामकारोऽस्मि" अक्षरों में मैं अकार हूं. ब्रह्म में जब जगत् सृष्टि विषयक कल्पना होती है, तब वह 'अकार' विशेष भाव से स्पन्दित वा गति को प्राप्त होता है। तब वह दीर्घप्लुत 'उ' कार की तरह ध्वनित होते रहता है। सृष्टि कल्पना जब परिसमाप्त होती है, तब उससे गति वा स्पन्दन भी स्तब्ध हो जाता है, उस समय वह "म् म् म्" इत्याकार शब्द में बदल जाता है। यही "अउम्" वा "ॐ" सृष्टि का सब से पहला नाद है। साधक गण कर्णवृत्ति रोक कर, अथवा अन्य प्रक्रिया द्वारा यह नाद, अनाहत केन्द्र से सुन सकते हैं जगद् व्यापी वह नाद आकर्षणमय है। उस प्राण को मत्त करने वाले "अउम्" "अउम्" शब्द से ऐसा जान पड़ता है कि—"आओ मा, "आओ मा" कह कर मा मुझे प्रबल स्नेह की ताड़ना से पुकारती है। वह कैसा अपूर्व स्वर है, उसे व्यक्त नहीं किया जाता। बोला याय कान के भीतर से मर्म में प्रवेश कर, मेरे प्राण को आकुल कर दिया। अस्तु, जिस तरह कोई स्वर यन्त्र का मौलिक स्वर

हों, बजाने वाले की अङ्गुली चलाने की विचित्रतावशतः उससे अनेक प्रकार के स्वर निकलते हों? उसी तरह यह मौलिक प्रणवनाद, तीन गुण रूप तीन अङ्गुलियों के संयोग वियोग के तारतम्य वश, यह विभिन्न नादमय विचित्र जगत् प्रकाशित हुआ है।

प्रथम खण्ड में कहा है कि शक्ति का स्पन्दन ही यह जगत् है। अखण्ड ज्ञान वक्ष पर जो महती शक्ति विराजती है, उसी का विभिन्न स्पन्दन—रूप रसादि विषयाकार में प्रतीत होता है। स्पन्दन शब्द मूलक हैं। अर्थात् नाद से ही स्पन्दन प्रकाश पाता हैं। इसको परीक्षा सब कोई कर सकता है। हमारे हाथ पैर आदि अवयवों की मांस पेशियों का जो सङ्कोचप्रसार रूप स्पन्दन है, वह भी कुछ शब्दों के आश्रय से ही निष्पन्न होता है। काम क्रोधादि वृत्तियों के उदय से भिन्न भिन्न अवयवों में स्थित मांस पेशियां किस तरह अस्वाभाविक भाव से स्पन्दित होती हैं! ऐसे स्पन्दन का हेतु—उस तरह की वृत्ति का उत्तेजना मूलक नाद वा शब्द मात्र है। मन से वा मुख से जब काम क्रोधादि विषयक शब्द उच्चारित होते हैं, तब ही भिन्न-भिन्न अवयवों में ऐसा वाह्यिक स्पन्दन प्रकाशित होता है। इसी तरह भगवद्भाव के उद्दीपक शब्द भी अनेक समय साधक के अङ्ग विक्षेप के हेतु होते हैं। इस विषय की विशेष आलोचना आगे की जायगी। अस्तु, हमारी चिन्ता तरंगे वा भाव नादमय हैं, एवं वह नाद ही इस महती शक्ति के विभिन्न स्पन्दन रूप से प्रकाश पाता है, यह अविसम्बादि सिद्धान्त है।

पूर्व काल के त्रिकालज्ञ ऋषि गण इस नाद और स्पन्दन तत्व में इतने पारदर्शी हुए थे कि केवल शब्द की सहायता से विभिन्न शक्तियों का स्फुरण करके अभिष्ट सिद्ध कर सकते थे। वैदिक और उस परवर्ती काल के तान्त्रिक मन्त्रों इस नाद और स्पन्दन तत्व विषयक ज्ञान के अद्भुत आविष्कार हैं। इन मन्त्रों की

सहायता से आज कल इस अविश्वासी सत्यज्ञानहीन युग में भी, अनेक अलौकिक, प्रत्यक्षफल प्राप्त होते हैं। अब भी इस देश के निरक्षर ओझा (विषवैद्य) लोग केवल मन्त्र पढ़कर कठिन रोगों से निरोग कर देते हैं। हाथ चलाना, कटोरी चलाना नल चलाना आदि अनेक प्रकार की अलौकिक घटनाओं द्वारा लोगों को विस्मित कर देते हैं।

थोड़े दिन हुए —हमारे महल्ला में एक पश्चिम देशीय नौकर की सर्पाघात से मृत्यु हुई। डाक्टरों ने उसकी देह परीक्षा करके मृत्यु बोलकर ही स्थिर कर दिया। उसके कुटुम्बी लोग सन्ध्या के समय उसकी लाश जलाने के लिये श्मशान घाट ले जा रहे थे, मार्ग में मृत मनुष्य के परिचित किसी मित्र से भेट हो गइ उस मित्र ने इसकी सर्पाघात से मृत्यु होना सुनकर उसका दाह करने से निषेध किया और स्वयं श्मशान घाट पर जाकर उस मृत पुरुष के पैर की अंगुली में रस्सी बांधकर, कुछ मन्त्र पढ़कर रस्सी खींचने लगा और बीच बीच में सिर पर चपत लगाने लगा। इस तरह तीन घण्टे कठोर यत्न करने के फल से मृत देह में जीवन के लक्षण प्रकाशित हुए। रात भर इसी तरह मन्त्र पढ़कर चेष्टा करने से वह पुनर्जीवन पाकर घर लौट आया। उस नौकर ने यह कहानी स्वयं हमसे कही थी, उस दिन तक उसके पैर का क्षत कुछ कुछ मौजूद था।

ग्रन्थकार ने भी किसी तरह की योग शक्ति प्रयोग न करके केवल मन्त्र शक्ति के प्रभाव से कुत्ते के काटे हुए अनेक रोगी अच्छे किये थे, इसी तरह कामला आदि रोग भी मन्त्र शक्ति के प्रभाव से आरोग्य किये जाते हैं।

अस्तु यह मन्त्र ही नाद है। इस नाद के साथ, रोगादि आरोग्यकारिणी विभिन्न शक्तियों का जो ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है

वह जिन्होंने प्रथम आविष्कार किया था धन्य है उनके ज्ञान विज्ञान के अनुशीलन धन्य उनके दया। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि षट् कर्म्म अभिष्ट मूर्तिदर्शन इत्यादि व्यापार केवल मन्त्रशक्ति के प्रभाव से निष्पन्न हो सकते हैं। नाद की ऐसी ही अद्भुत शक्ति है वह आजकल अनेक जन स्वीकार करते हैं। परन्तु ऐसे लोग दुर्लभ हैं जिन्होंने यथार्थ नादतत्व में प्रवेश कर उसकी शक्ति को वश में किया हो।

अस्तु, अव्यक्त प्रकृति से जिस तरह स्थूल जगत् प्रकाशित होता है, उसी तरह अव्यक्त नाद से ही स्थूल वा व्यक्त नाद प्रकाश पाता है। गुणत्रय की साम्य अवस्था प्रकृति है। उस अवस्था में भी नाद रहता है, नहीं तो तीन गुणों में क्षोभ यानी उथल पुथल हो नहीं सकती, पूर्व कहा है कि जहाँ स्पन्दन वा शक्ति विद्यमान है वहीं नाद का सत्ता है। परन्तु यह नाद अतीन्द्रीय है, इसी से इसे शास्त्रकार गण "परा" कहते हैं। प्रकृति का जिस तरह "परा" नाम है, ब्रह्म को जिस तरह 'पर' कहा जाता है, उसी तरह इस अव्यक्त नाद को भी परावाक कहते हैं। प्रकृति का प्रथम परिणाम वा स्पन्दन महतत्त्व है। ये सब वैषयिक प्रकाश के क्षेत्र हैं, यहाँ जो नाद है उसका नाम पश्यन्ती है। केवल योगी गण अर्थात् जो महतत्त्व में आत्मबोध ले जा सकते हैं वे ही इस नाद की सत्ता प्रत्यक्ष कर सकते हैं, यह श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य न होने से ही इसको पश्यन्ती कहते हैं। इसके बाद मध्यमा, यह मनोमय क्षेत्र में उपलब्धि होता है। थोड़ा स्थिर होकर स्वकीय सङ्कल्प आदि भावों की ओर लक्ष्य करने से मनुष्य मात्र इस नाद को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यह ध्वनि हीन पर भी शब्द है। अनन्तर, भाव कुछ घनीभूत होने से ही, कण्ठ, तालु, ओष्ट आदि स्थानों में एक एक स्पन्दन प्रकाश पाता है। उसीं के फल से व्यक्त वा स्थूलनाद प्रकाशित होता है। शास्त्रकार गण इसे वैखरी कहते हैं। यह सर्व्वप्राणि साधारण और श्रव-

णेन्द्रिय ग्राह्य है। प्राचीन आचार्यों ने "नाद" शब्द का व्यवहार न करके 'वाक्' शब्द का प्रयोग किया है। वाक् और नाद अभिन्न हैं। यहाँ पर वाक शब्द इन्द्रिय अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वाक स्त्रीलिंग शब्द है इसलिये परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार संज्ञा स्त्रीलिंग हुई है। वैखरी वाक् के फिर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नाम तीन प्रकार के भेद हैं। उनकी आलोचना यहाँ आवश्यक नहीं।

आर्यशास्त्र की और एक विशेषता यह है कि वाक वा नाद प्रकाशक वर्णमाला का नाम अक्षर है। गीता में यह कहा है "अक्षरं परमं ब्रह्म।" अक्षर शब्द से परब्रह्म समझा जाता हैं। जो अक्षर शब्द परब्रह्म के वाचक हैं। वे ही इस देश की वर्णमाला के वाचक शब्द हैं। इससे उच्चविज्ञान नाद तत्व के विषय में आज तक पृथिवी के किसी देश में कुछ भी आविष्कृत नहीं हुआ। और भी एक ज्ञातव्य बात यह है कि 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त स्वर व्यजंन मिलित पचास वर्णमाला का नाम "मातृका" है। सृष्टि स्थिति प्रलयङ्करी महाशक्ति रूपिणी महामाया मा हमारी वर्णमयी नादमयी होकर नित्य सुप्रकाशित हो रही है। मातृका के ध्यान में हैं :—

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्त मुखदोः पन्मध्य वक्षःस्थलाम्"

पचास वर्ण द्वारा ही मा के मुख हाथ पैर मध्यदेश वक्षस्थल आदि अवयव गठित हैं। साधक! तुम कहाँ मां को तलाश करने जाते हो? देखो तुम्हारे कण्ठ से निकले हुए प्रत्येक शब्द रूप में ही मा है, इस जगतमय जो नाना प्रकार के शब्द सुनते हो, वे, ही मा हैं। तुम जो इष्ट मन्त्र जपते हो वह इष्ट मन्त्र मा ही तो है। मन ही मन जो अप्रकाशित वाक् उच्चारण करते हो वा चिन्ता करते हो वह मा ही तो है। तुम मा कहकर पुकारो, वह मां शब्द ही मा है। अजी नाम और नामी अभेद

है। तुम मा को देखना नहीं चाहते हो इसीसे ही देख नहीं पाते, मा तो सर्वत्र नाद रूप से सुप्रकाशरूपा है! केवल इच्छा का अभाव होने पर ही मा को नहीं पाते। परन्तु वह दूसरी बात है।

प्रत्येक जीव देह— प्रत्येक पदार्थ ही उस पञ्चाशद् वर्णरूपिणी मातृका द्वारा रचा गया है, तान्त्रिक न्यास भी (मातृका न्यास वर्णन्यास, षोढ़ा न्यास इत्यादि) इस सत्य के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। अनेक लोग "अं नमो ललाटे" "आं नमः शिरसि" इं नमो दक्षिण चक्षुषि ईं नमो वाम चक्षुषि, इत्यादि मन्त्र पढ़कर उन सभी स्थानों पर अङ्गुली स्पर्श कर न्यास समाप्त करते हैं। किन्तु हाय! उससे क्या न्यास का जो यथार्थ फल है, वह प्राप्त होता है? जिस उद्देश्य से ये विधान हैं उसकी ओर लक्ष्य हीनता के कारण ऐसा अनुष्ठान अङ्ग सञ्चालनादिरूप एक कसरत मात्रा से पर्यवसित हो जाती है। यहाँ इसका कुछ आभास दिया जाता है, यदि एक आदमी भी आगे बढ़ेगा तो उद्देश्य सफल हो जायगा। ललाटादि विभिन्न अङ्ग प्रत्यंग में बोध शक्ति अर्थात् अनुभूति ले जाने होता हैं, और जब तक प्रत्यक्ष स्पन्दन अनुभूति न हो तब तक ये अं इत्यादि भिन्न भिन्न मन्त्रा धीरे धीरे (वाक्यन्त्रा जिससे अधिक कम्पायमान न हो) उच्चारण करने होता हैं। मानस उच्चारण ही श्रेष्ठ है। प्रथम अभ्यास करते समय इसमें कुछ असुविधा और कष्ट हो सकता है, कुछ दिन बाद वह कष्ट फिर नहीं रहता, तब इच्छा मात्र से अनुभूति परिचालन करने की सामर्थ्य हो जाती है। साथ ही साथ वे बीज उच्चारण करते रहने से, अनुभूति स्पन्दन और बीज मानो एक हो गये हैं ऐसा जान पड़ता है। इसी तरह मन्त्र, स्पन्दन और अनुभूति तीनों जब एक सुर में बज उठते हैं, अर्थात् ऐक साथ अभिन्न रूप से बोध होते रहते हैं, तब ही समझना कि न्यास सिद्ध हो गया है। इसी तरह चैतन्यमय

न्यास करते समय ही कुछ अभूतपूर्व सुखमय अनुभूति होती है। इसका और भी विशेष फल है कि मैं जो देह विशिष्ट एक जड़ पदार्थ मात्र हूँ, यह बोध तिरोहित हो जाता है। देहात्म बोध बिलकुल शिथिल हो जाता है। शारीरिक व्याधि नाश करने के पक्ष में भी यह अव्यर्थ उपाय है। इसके सिवाय ठीक ठीक न्यास पुटित साधक को अनेक लौकिक शक्तियाँ भी लाभ होती हैं

जयेति देवाश्च मुदा तामूचुः सिंहवाहिनीम्।
तुष्टुवुर्मुनयश्चैनां भक्ति नम्रात्ममूर्तयः ॥३३॥

अनुवाद – देवता वृन्द आनन्द से उस सिंह वाहिनी को लक्ष्य करके जय ध्वनि और मुनि जन भक्ति विनम्र अन्तःकरण से विनत शरीर से स्तुति करने लगे।

व्याख्या – इतने दिनों में देवताओं की आशा पूर्ण होने का उपक्रम हुआ है। इससे पूर्व व्यष्टि शक्तियां अपने को महती शक्ति से विच्छिन्न समझती थी। इसी कारण असुर-अत्याचार के निवारण के लिये बहुत यत्न करके भी विफल मनोरथ हुए थे। किन्तु अब वह भाव दूरी भूत हो गया है। विक्षिप्त शक्तियों ने महती शक्ति में आत्मसमर्पण किया है। इसीसे देवतागण के आनन्द—इसीकारण जय ध्वनि-खुलकर बोलते हैं—कि महत्तत्त्व वा विज्ञानमय कोष, में आत्मबोध उपसंहृत होने पर ही अस्मिता का सन्धान पाया जाता है। इस अवस्था में विभिन्न इन्द्रियों के प्रकाश वा विभिन्न वैषयिक प्रकाश की फिर पृथक् सत्ता नहीं जान पड़ती। सब ही एक मात्र अस्मिता के विशेष विशेष व्यूह रूप से प्रतीत होने लगते हैं। तब देवताओं-इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग का फिर स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं रहता, एक महतीकर्तृत्व में सबका कर्तृत्व पर्यवसित हो जाता है। महती शक्ति रूपिणी मा भी तब सिंहवाहिनी मूर्ति से प्रकटिता होती हैं। जीवत्व हननेच्छु साधक

ही सिंह है। तब साधक यथार्थ हो स्वकीय जीव भाव को हिंसा करना आरम्भ करता है। इसी से साधारण लोग उसे नरश्रेष्ठ रूप से स्वीकार करते हैं। तब उसका देह मातृ शक्ति के परिचालक यन्त्र वा वाहन रूप में परिणत होता है। कैसा अभूतपूर्व संयोग है। इस अवस्था में मा का घोर नाद—अत्युच्च अभयवाणी एक तरफ जैसे असुर कुल को सन्त्रस्त करती है वैसे ही दूसरी तरफ देवताओं के हृदय में अपार आनंद की हिलोर उठा देती है। इसी से मंत्र में कहा है कि देवता गण आनन्द से "जय मा, जय मा" ध्वनि से दिङ्मण्डल मुखरित करने लगे। फिर मुनिगण—जो इतने दिन मौनभावापन्न थे, वे सात्विक प्रकाशसमूह उपयुक्त अवसर पर मौन व्रतभङ्ग करके मा की स्तुति-मङ्गलगान करने लगे। भक्ति पूर्वक स्तोत्रादि पाठ करते-करते उनका देह, मन मातृ चरणों में बिलकुल अवनत हो गया।

साधक! तुम भी जब अन्तर ही अन्तर मातृ-आविर्भाव अनुभव करोगे, तब पूर्ण विश्वास से पूर्ण आनन्द से जय ध्वनि करना। जिस मुहूर्त में देखो कि सत्य का कुछ आभास पाया है, विन्दुमात्र मातृ करुणा का प्रमाण पाते हो उसी मुहूर्त में हृदय के सब प्रकार के अविश्वास, सन्देह, दुर्बलता को दूर करने के लिये आनन्द से जय ध्वनि करने लगोगे और भक्ति विनम्र अन्तःकरण से स्तोत्रपाठ करते रहो। कुछ दिन ऐसा करने पर देखोगे कि दिन-दिन तुम्हारा अन्तः करण निर्मल से निर्मलतर होता जाता है और हृदय मातृ सिंहासन रूप में परिणत हुआ है, चित्त शुद्धि करने के लिये इससे बढ़कर सुगम उपाय, अब तक आविष्कृत नहीं हुआ है, उपनिषद् के युग में ऋषि लोग इसी उपाय से चित्त शुद्धि का उपदेश देते थे।

दृष्ट्वा समस्तं संक्षुब्धं त्रैलोक्यममरारयः।
सन्नद्धाखिलसैन्यास्ते समुत्तस्थुरुदायुधाः ॥३४॥

अनुवाद—समस्त त्रिलोक को संक्षुब्ध देखकर अमरारिगण अगणित सुसज्जित सैन्य के लिए उद्यत अस्त्र से समुत्थित हुआ था

व्याख्या। महर्षि मेधस देवपक्ष का आयोजन वर्णन करके, राजा सुरथ को एकबार असुर कुल की ओर दृष्टिपात करने का संकेत किया देखो साधक। मा का घोर नाद देवताओं के जय नाद और मुनियों के स्तोत्र नाद एकीभूत होकर त्रिलोकों को कम्पित कर डाला है। भूः भुवः स्वः त्रिलोक—मूल धारादि, तीनों चक्रों, में, उस नाद से संक्षुब्ध हो गये। ये तीन केन्द्र ही असुर भावों के विकाशस्थान हैं। अमरारिगण—अमरत्व का विरोधीदल, अर्थात् जो बार बार जन्म मृत्यु का हेतु हैं, वे भी इन उद्यम के प्रतिकूल में सज्जीभूत हो कर स्व स्व अस्त्र सहित युद्ध के लिये प्रस्तुत हुए। असुरों ने इससे पूर्व में बार बार देव शक्ति मथित किया है। इसी से इस बार भी पूर्व संकार वशतः जय लाभ की आशा से ही उनकी यह तैयारी है। किन्तु हाय! असुरकुल यह नहीं जानता कि अब की इस बार देवता नहीं—स्वयं मा हमारी समराङ्गण में अवतीर्ण है।

आः किमेतदिति क्रोधादाभास्य महिशासुर।
अभ्यधावत तं शब्दमशेषैरसुरैर्वृतः ॥३५॥

अनुवाद। आः यह क्या! क्रोध पूर्वक यह बात कह कर महिषासुर अगणित असुर कर्तृक परिवेष्टित होकर उस शब्द लक्ष्य पर अभिधावित हुआ।

व्याख्या—इतने दिनों में संतान की आनन्द ध्वनि से मिश्रित मातृ हुङ्कार ने महिषासुर के प्राण में भीति और उद्वेग पैदा करदी है। आः शब्द, कोप और पीड़ा का भाव समझाने में प्रयुक्त होता है। सञ्चित कर्म्म संस्कारों के मूलीभूत रजोगुण का मर्म्म-

स्थल पीड़ित कर मातृनाद उठा है। पूर्व कहा गया है, कि गुणत्रय परस्पर अभिभाव्य और अभिभावक धर्मविशिष्ट हैं, सत्वगुण प्रगट होने से ही दूसरे गुण का अभिभव होता है फिर दुसरे गुण भी अभिभुत होने का उपक्रम होने से ही संक्षुब्ध हो उठते हैं। यहाँ वही वर्णित हो रहा है। सत्वगुण का प्रकट भाव लक्ष्य करके ही आज रजोगुण भी सत्वप्रकाश के विरुद्ध उत्थित हुआ। अकस्मात् त्रीलोकों की संक्षुब्ध करा जय ध्वनि सुनकर महिषासुर अपने सहकारी के सहित "यह नाद कहाँ से आरही है" उसकी खोज में द्रुतवेग से धावित हुआ। सहकारि-असुरवृन्द के नाम आगे पाये जायेंगे। साधक तुम भी देखो—जब ही तुम मन्त्र जप, स्तोत्र पाठ अथवा-मातृ महत्व-कीर्तन प्रभृति किसी तरह की साधना करते हो, तब ही संचित वैषायिक संस्कारों अलक्षितभाव से तुम्हारी उस साधना के प्रतिकूल में दंडायमान होते हैं।

स ददर्श ततो देवीं व्याप्त लोक त्रयां त्विषा।
पादाक्रान्त्या नतभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम् ॥३६॥
क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्यानिःस्वनेन ताम्।
दिशोभुज सहस्रेण समस्ततात् व्याप्य संस्थिताम् ॥३७॥

अनुवाद। अनन्तर उस (महिषासुर) ने देखा कि एक देवी मूर्ति विराजमान है, उसकी कान्ति में तीनों लोक व्याप्त हो रही है, पदभार से पृथ्वी अवनमित हुआ है, किरीट आकाश को छू रहा है, धनुष की ज्या ध्वनि से समग्र पाताल संक्षुब्ध है। और सहस्रभुजाये दिङ्मण्डल परिव्याप्त हो रहे हैं।

व्याख्या। इससे पूर्व महिषासुर ने जितनी बार देवताओं से युद्ध किया, तब ही यह देखा था कि—एक एक व्यष्टि शक्ति अपने कर्तृत्व से उसके विरुद्ध युद्धके लिये उपस्थित हुई थी। अतएव प्रतिबार ही पराजित हो जाते थे, परन्तु अबकी बार यह क्या देखना है;

देखता है—एक देवीमूर्ति। देवी—द्योतनशीला स्वप्रकाशरूपिणी। महती चित्‌शक्ति है। उस पर दृष्टि पड़ते ही समझ लिया, कि यही जो "व्याप्त लोक-त्रयात्विषा" है। इसी के प्रकाश से त्रिलोक प्रकाशित हो रहे हैं। स्वयं महिषासुर भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। ऐसे ही देवी की कान्ति— ऐसे ही उस प्रकाश शक्ति। "तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं तस्य भासा सर्व्व मिदं विभाति" सर्व्वलोक प्रकाशक कान्ति—ही नहीं है वल्कि इस के चरण स्पर्श से भूतल अवनत हो गया है भूतल से जड़त्व। चिन्मयी के पादाक्रमण गतिशक्ति के प्रभाव से सर्वत्र गामिनी अचिन्तनीया शक्ति के प्रभाव से क्षितितत्व वा जड़त्व अवनत अर्थात् अप्रकाश प्राय हो गया है। चैतन्यमयी मातृ-शक्ति के प्रकाश से जड़ बोलकर और कोई प्रतीति नहीं होती इसीसे मा हमारी "पादाक्रान्ता नत भुवम्"। प्रकाश वस्तु गति-विशिष्ट होने परही गमनार्थक पाद शब्द का प्रयोग है। फिर पाद शब्द का अर्थ किरण भी है। चिन्मयी मा की सर्व्वतोभेदी प्रकाश सत्ता के उदय से भू अर्थात क्षितितत्त्व वा जड़ वस्तुओं की सत्ता विलुप्त प्राय हो जाती है। इस विलुप्त भाव को लक्ष्य करके ही, "नत भुवम्" कहा गया है। उसके बाद किरीट-मस्तक भूषण—विशुद्ध बोध। वह अम्बर स्पर्श किया है। बोध वस्तु आकाशवत् निर्लिप्त और सर्वव्यापी है। आकाश जड़ है परन्तु बोध चैतन्य स्वरूप है। इसी से शास्त्र में कहा है— "ब्रह्म व्योम्नोर्न भेदोऽस्ति चैतन्यं ब्रह्मणोऽधिकम्"।

मा के धनुष की ज्या ध्वनि से सारा पाताल विक्षोभित हो गया। धनुष की ज्याध्वनि—प्रणवध्वनि है। श्रुति कहती है —"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।" प्रणवध्वनि से सप्त अज्ञान भूमिकायें विक्षोभित हुआ है बद्ध बद्धतर, बद्धतम, मूढ़, मूढ़तर, मूढ़तम, और जड़ ये अज्ञान भूमिका ही क्रम से अतल, वितलादि सात पाताल कहे गये हैं। चैतन्मयी मा के आविर्भाव से चैतन्यमय प्रणवादि मन्त्रा की ध्वनि से सब

अज्ञान भूमिकायें, असुरनिवास वा नागलोक प्रकम्पित होने लगा। जिस तरह सप्त अज्ञान भूमिका सप्त पाताल नाम से कही गई हैं उसी तरह सप्त ज्ञान भूमिकायें, सप्त स्वर्ग के नाम से आख्यात हैं। अप्रासाङ्गिक होने पर भी यहां संक्षेप से सप्त स्वर्गों का विवरण कहते हैं—मुमुक्षु मुमुक्षुतर, मुमुक्षुतम, ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् एव ब्रह्मविद्वरिष्ठ ये सप्त ज्ञान भूमिकायें ही सप्त स्वर्ग हैं।

मा की सहस्र (असंख्य भुजाओं से दिङ्मण्डल परिव्याप्त हो गया है। साधारणतः माना जाता है कि दिशायें शून्य वा आकाश मात्र हैं, किन्तु मातृ आविर्भाव से दिक् वा देश की कोई प्रतीति नहीं रहती। सब ही मातृमय हो जाता है। सर्वव्यापी घन चैतन्य सत्ता प्रकाशित होने लगती है। तब फिर शून्य कहने को कुछ नहीं रहता सब ही पूर्ण बोध होता रहता है। अथवा यों कहिये कि मातृ आविर्भाव से जो जो लक्षण प्रकाशित होते हैं वे ही इस मन्त्र में कहे गये हैं। साधक जब मातृ लाभ करता है अर्थात् मा को देखता है, तब उसमें ये लक्षण प्रकाशित होते हैं—उसको चैतन्य वा मैत्र त्रैलोक परिव्याप्त प्रतीत होता है, जड़त्व तिरोहित हो जाता है, आकाश की भांति बोध सर्वत्र फैल जाता है, शब्दहीन प्रणवध्वनि से अज्ञान संशय और जड़ता भाग जाती है एवं एक मात्र चैतन्य सत्ता ही सर्वत्र ओतः प्रोत भाव से अवस्थित है उसका सम्यक् अनुभव कर सकता है।

जब तक इस भाव से मा को न देखा जा सके। तब तक यथार्थ साधना की आरम्भ ही नहीं हुई। यही खड़े होकर साधना अर्थात् ब्रह्म के उद्देश्य से आत्मशर निक्षेप करना होता है जब मा हमारी इस प्रकार आत्म प्रकाश करती है तब ही असुर अत्याचार निवारण का उपाय होता है।

ततः प्रववृते युद्धं तथा देव्या सुरद्विषाम।
शस्त्रास्त्रैर्बहुधा मुक्तैरादीपितदिगन्तरम ॥३८॥

अनुवाद। अनन्तर उस देवी के साथ असुरों का युद्ध आरम्भ हुआ, दोनों तरफ से विमुक्त अस्त्र शस्त्र के तेज से दिशायें दीप्तिमय होने लगीं।

व्याख्या— अब असुरों के साथ मा का युद्ध आरम्भ हुआ। यदि कहो कि मा का युद्ध क्या? उनके तो संकल्प मात्र से ही असुर निहत हो सकते हैं, तब फिर युद्ध का प्रयोजन क्या? इसके उत्तर में कहते हैं— हां युद्ध की आवश्यकता है। माता पुत्र की आनन्द क्रीड़ा ही यह युद्ध है। माता पुत्र का रण अति विस्मय कर बड़ा मनोहर है। पुत्र विषय में लिप्त रहना चाहता है और मा बलपूर्वक विषय छुड़ाकर गोद में उठा लेना चाहती है। उसी समय माता पुत्र का जो लीलाभिनय होता है, वही बाहर युद्धरूप से अभिव्यक्त होता है। साधक पुत्रों को इस बात की उत्तर यह अपेक्षा और कुछ स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं है।

गीता में देखते हैं कि अर्जुन ने भगवान से पूछा—

"तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥'

हम जिससे श्रेयो लाभ कर सकें ऐसी एक बात निश्चित कर कहो। वहां भी जिससे "मैं" श्रेयोलाभकरूं, ऐसा भाव था। इसी से मा ने सारथी रूप से गुरु रूप से अवस्थान करके अर्जुन का कर्तव्य रखते हुए, उसके द्वारा ही भीष्म द्रोणादि का निधन कराया था, किन्तु चण्डी में देखते हैं कि-पुत्र मातृ अंकस्थ नग्नशिशु है अपना कतृत्व बोध सर्वतोभाव से मातृ चरणों में समर्पित है। मैं बोलकर पृथक कोई एकजन नहीं है, और रहने पर भी वह मा का खिलौना मात्र है। यहां सुख दुःख में मा हर्ष विषाद में मा, काम क्रोध में मा, दया क्षमा में मा हिंसा द्वेष में मां है, यहां पुत्र मा के सिवाय और कुछ में रहना ही नहीं चाहता, अतएव अगत्या मा को ही समर क्षेत्र में अवतीर्ण होना पड़ता है। मा स्वयं अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होकर पुत्र कामङ्गल साधन के उद्देश्य से असुरों का अत्याचार

निवारण करने के लिये खड़ी होती है। यद्यपि मा की इच्छा मात्र ही से यह असुर निधन व्यापार सुसम्पन्न हो सकता है। तथापि मा सन्तान को इच्छानुरूप संस्कार के साज से सज कर युद्ध करने को बाध्य होती है।

अरे, असुर कुल भी तो मा की सन्तान है। हमारा जो जीवभाव है वही तो यथार्थ असुर है, हमारे मुख से यथार्थ मातृ आह्वान निर्गत होगा बोलकर ही तो मा ने असुर अत्याचार को प्रश्रय दिया है। हमने मा कहकर पुकारा है शोक दुःख में, उत्पीड़न आनन्द में, चाहे किसी भाव से हो सत्यही एक बार मा कहा है, अब क्या मा स्थिर रह सकती है। हमको गोद में उठा लेगी, हमारी संस्कार श्रेणी वा असुरों को एक एक करके विनाश करेगी, और हम उसे देखकर बड़ी खुशी से "जय मा" ध्वनि से दिक्-मण्डल मुखरित करेंगे। आओ मा की सन्तान, हम कोटि कण्ठ से एक बार सत्य ही मा-मा कहकर पुकारें।

अजी! किस तरह भाषा में समझावें कि मा स्वयं युद्ध करती हैं। सांख्य की भाषा में जो इसको प्रकृति कहते हैं वे विचार देखें कि यह प्रकृति ही जब तक अपवर्ग मुखी न हो, तब तक मुक्ति की आशा नहीं है। प्रकृति जब विशेष भाव से पुरुषाभि-मुखी गति लाभ करती है, तब ही भूत और इन्द्रियां आदि तत्व क्रम से क्षीण से क्षीणतर होकर प्रलयाभिमुखी होते हैं। यही भक्तों की भाषा में माता पुत्र की रण क्रीड़ा है। जो योग की सहायता से वहिर्मुखी चित्त वृत्तियों को निरुद्ध करके समाहित होना चाहते हैं, वे भी देखेंगे कि किस तरह अन्तर्मुखी आकर्षणी महाशक्ति वहिर्मुखी वृत्तियों को क्षीण से क्षीणतर करके प्रलया-भिमुखी करती है। पुत्र की भाषा में यही मा की समर लीला है। फिर जो वेदान्तवादी हैं, वे इस जगत को अज्ञान कल्पित अध्यास-मात्र कहें तो क्षति नहीं है, वह अज्ञान वा माया जब तुम्हारे

समुज्जवल ब्रह्मज्ञान में विलीन होती रहती है, तब आकाशादिभूत वर्ग, चक्षुरादि इन्द्रियाँ, एवं प्राण अपान आदि प्राणवर्ग, ब्राह्मी प्रज्ञा में लीन होते रहते हैं, तब देखोगे कि प्रज्ञा का स्वप्रकाशकत्व, मायाकल्पित वैषयिक प्रकाश को क्रम से क्षीण से क्षीणतर करके प्रलयाभिमुखी कर देता है। यही चण्डी की भाषा में मातृ-समर है। हम अब माया वा प्रकृति को मिथ्या वा जड़ नहीं कहना चाहते, माया ही ब्रह्म है, अथवा ब्रह्म ही माया है। मायाहीन ब्रह्म अथवा प्रकृति सम्बन्धहीन पुरुष, साध्य साधनादि सर्वभाव के अतीत है। जब अग्रा बुद्धि द्वारा अर्थात निर्मल बुद्धि सत्व द्वारा ब्रह्म विषयिणी प्रज्ञा लाभ होता है तब तक भी ब्रह्म मायायुक्त है। इतना होने से ही मनुष्य का जन्म और जीवन सार्थक होता है! और यहाँ तक जा सकने से तत्परवर्ती स्वरूप अर्थात् मायाहीन ब्रह्म वा प्रकृति के सम्पर्कशून्य पुरुष अपने आप अधिगत वा प्रकाशित होता है। ये बातें पूर्व अनेक बार कही गई हैं। अस्तु हम जानते हैं कि मां स्वयं ही युद्ध करती है। साधक तुमने "प्रकृतिस्त्वञ्च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी" इस मन्त्र की व्याख्या पहले खण्ड में पढ़ी है? क्या तुम अपनी प्रकृति को मा कह कर समझ सकते हो? क्या अपनी प्रकृति को आदर करने, भक्ति पुष्पाञ्जलि देने के अभ्यस्त है? क्या मा कहते ही उनकी याद आती है? यदि ऐसा हैं तो समझोगे, प्रत्यक्ष करोगे कि यथार्थ ही मा स्वयं युद्ध करती है। अस्त्र शस्त्र प्रयोग रहस्य आगे व्याख्यात होगा।

महिषासुरसेनानीश्चिक्षुराख्यो महासुरः।
युयुधे चामरश्चान्यैश्चतुरंगबलान्वितः ॥३९॥

अनुवाद। महिषासुर के सेनापति चिक्षुर और चामर अन्यान्य असुरों के साथ चतुरङ्गिनी सेना लेकर युद्ध करने लगे।

व्याख्या। महिषासुर के दो प्रधान सेनापति हैं। चिक्षुर और

चामर! देवी भागवत में इनका रण वर्णन बड़े विस्तारपूर्वक कहा है। चिक्षुर—विक्षेप शक्ति है। विक्षेपार्थक चिक्ष धातु से चिक्षुर शब्द बना है। चामर—आवरण शक्ति। भक्षणार्थक चम् धातु से चामर शब्द निष्पन्न हुआ है। ये विक्षेप और आवरण एक तरफ जैसे ब्रह्ममयी मा से सन्तान को विच्युत कर देते हैं वैसे ही दूसरी तरफ मा को आवृत कर रखते हैं। मा को आत्मा को मुझको क्यों नहीं देखते? दिन रात जाग्रतादि तीन अवस्थाओं में जीव किसको देखता है? आत्मा को, मुझको, मा को। परन्तु देखकर भी क्यों नहीं देखते, समझ कर भी क्यों नहीं समझते? यह चिक्षुर और चामर का अत्याचार है। एक तरफ जैसे चञ्चलता वा विक्षेप शक्ति, मा को क्षणमात्र देखने का सुयोग नहीं देती, वैसे ही दूसरी तरफ आवरणशक्ति ने मा का स्वरूप ढक रक्खा है। यह बात और भी स्पष्ट करते हैं।

तुमने एक वृक्ष देखा। वस्तुतः वह वृक्षाकार से आकारित चित् वा आत्मा है। किन्तु तुम आत्म दर्शन न करके "वृक्ष" यह नाम और उसकी आकृतिमात्र प्रत्यक्ष करते हो। जो तुमको उस यथार्थ आत्म वस्तु से विक्षिप्त करके नाम और रूप में आकृष्ट करता है उसी का नाम चिक्षुर है। फिर उस नाम और रूप वा विषयज्ञान ने यथार्थ चित् वस्तु वा आत्मा को आवृत कर रक्खा है—देखने नहीं देता, उसी का नाम चामर है। अथवा तुम बरफ का टुकड़ा देखते हो। यद्यपि तुम उसको घनीभूत जलरूप जानते हो तथापि तुम्हारे ज्ञान में ऐक सफेद पत्थर के खंड की भांति एक वस्तु मात्र ही प्रकाशित होती है। जल वाले परमाणुओं की ओर दृष्टि निबद्ध करने पर भी तुम्हारी उस दृष्टि को विक्षिप्त करके जो विशिष्ट रूप की ओर ले जाता है उसी का नाम महासुर चिक्षुर है। वही महिषासुर का प्रधान सेनापति है। और साथ में आवरणकर्ता चामर है, जो नाम और रूप के सौन्दर्य पर मुग्ध करके तुमको यथार्थ स्वरूप से वंचित करता है। और भी देखिये चीनी का खिलौना हाथी

घोड़ा, इत्यादि कितना नाम और रूप हैं। वस्तुतः वह चीनी-मात्र है और कुछ नहीं है, यह जानकर भी जानना नहीं चाहते, केवल नाम रूप पर मुग्ध होते हो वस्तु के यथार्थ स्वरूप से वंचित होते हो। यही पूर्वोक्त असुर का अत्याचार है।

अब इस अत्याचार का परिमाण अच्छी तरह समझ लीजिये। तुम सुरथ हो, तुमको गुरु प्राप्त हुआ है। ब्रह्मर्षि मेधस् का वाक्य श्रद्धापूर्वक श्रवण और मनन के फल से अच्छी तरह समझ सके हो—जगत् मा वा आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है, किन्तु हजार बार समझ कर सहस्र उपदेश सुन कर, सहस्र बार मनन और अनुभव करके भी जगत् देखते हीं जो जगत् ज्ञान होता है, यह किसका अत्याचार है? उसी चिक्षुर और चामर का। आवरण और विक्षेप शक्ति चित्त से दूर न होने के कारण इस जगत् को आत्मा मा बोलकर परिग्रह नहीं कर सकते। केवल जिस समय तुम विशेष चेष्टा करके, जोर करके, इसको मा कह कर पकड़ो, केवल तब ही वे अभिभूत रहते हैं, किन्तु क्षणभर में फिर उनका कार्य चलने लगता है। इसी तरह एक दो दिन नहीं, बहुत दिन तक यह असुरका अत्याचार चलता है। इसी से प्रथम कहा गया है कि पूर्ण शतवर्ष व्यापी देवासुर संग्राम हुआ था, तो भी असुरों का बल विध्वस्त नहीं हुआ। किन्तु अब भय नहीं है। अब मा स्वयं समर-क्षेत्र में अवतीर्ण है। जिसने विक्षेप और आवरण रूपिणी होकर अब तक प्रकाश पाया था, वही आज उन्हें विलय करने को उद्यत है। अतएव अब आशंका क्या?

साधक! एक दिन तुमने आनन्द के मोह से यही चाहा था, आँखें बन्द कर, इधर उधर दौड़ धूप किये बिना तुम्हें आनन्द क्रीड़ा का रस भोग नहीं होता, इसी से मा ने स्नेह के पीड़न से बाध्य होकर आवरण शक्ति रूप से तुम्हारी आँखें बांध दी हैं, और विक्षेप शक्ति रूप से बहुत्व की साध मिटा दे रही है। वह जन्म व्यापी

इस बहुत्व का खेल करके, आज फिर शिशु की भांति बोल उठे हो, नहीं मा, अब बहुत्व नहीं चाहिये बहुत्व में आनन्द नहीं है। इसी से मा की कृपा से मधु और कैटभ निहत हुए हैं। किन्तु जो बहुत्व चाहते थे, जिसका अभी भोग नहीं हुआ है उन सन्चित कर्मों की मूलीभूत विक्षेप और आवरण शक्ति को विलय करने के लिये अब मा से प्रार्थना करते हो! जो तुमने आप ही इच्छा करके अब तक मा से चाह लिया था, आज उसी के विलय करने को कहते हो। सो भी क्या कह सकते हो? एक बार कहते हो तो दूसरे ही क्षण-में उसका विलय नहीं चाहते। इसी से तो मा एक बार तुम्हारे मुख की ओर देखती है—क्या तुम सत्यही चाहते हो कि तुम्हारी आवरण और विक्षेप शक्ति सदाके लिये विदूरित हो जाय? आंखें बांधकर इधर उधर को दौड़ धूप सदा के लिये बन्द हो जाय? सत्य ही क्या तुम यह चाहते हो? नहीं, यह झूठ बात है, तुम नहीं चाहते। तुम चाहते हो—मा और जगत् दोनों ही रहे तुम चाहते हो—"मा को लेकर खूब आनन्द से जगत्भोग करें" इसी से तो वह स्वय युद्ध करने को अग्रसर नहीं होतीं! किन्तु जो पुत्र सत्य सत्य ही कहते हैं—"मा अब जगत् नहीं चाहिये, अब नहीं चाहता रूप रसादि विषय, अब नहीं चाहता देहेन्द्रिय मन बुद्धि। अब तो चाहता हुं केवल तुमको। चाहता हूं नित्य स्थिर निर्विकल्पा मा हमारा! केवल तुमको ही चाहता हूं।"

जो पुत्र सरल प्राण से यह कह सकते हैं मात्र उसी के लिए मा स्वयं युद्ध करती हैं। केवल उन्हींके लिये चिक्षुर और चामर को निहत करती हैं। तुम भी कहो साधक! तुम सुरथ हुए हो, समाधि तुम्हारा सङ्गी है ब्रह्मर्षि गुरु तुम्हारे सहाय आश्रय हैं, तुम भी एक बार कहो सत्य ही जगत् नहीं चाहते, तब देखोगे मा तुम्हारे लिये युद्ध कर रही है।

अस्तु इस मन्त्र में चिक्षुर और चामर के चतुरङ्ग बल का उल्लेख है, अब हम उसे समझने की चेष्टा करेंगें। हाथी, घोड़ा, रथ और

पैदल, ये ही सेना के चार अङ्ग हैं। विक्षेप और आवरण शक्ति से ही जीव के क्लेश, कर्म, विपाक और आशय संचित होते हैं। हाथी के स्थान पर क्लेश, घोड़े के स्थान पर कर्म, पैदल के स्थान पर विपाक और रथ के स्थान पर आशय हैं। इस चतुरङ्ग सेना से सज्जित होकर ही, महिषासुर के सेनापतिद्वय समर क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। जीव प्रथम उन दो सेनापतियों, अर्थात आवरण और विक्षेप का पता नहीं पाता है। केवल चतुरङ्ग सेना का अत्याचारमात्र समझ सका है।

प्रथमतः क्लेश—चित्त की वृत्तिमात्र ही क्लिष्ट हैं, जगत् में जो सुख बोलकर ख्यात हैं, विवेकी की दृष्टि से वह भी दुःख वा क्लेश-मात्र ही है, कारण पार्थिव सुख, दुःख का मुकुट पहन कर ही आता है। एक तरफ जैसे वह अति अल्पक्षण स्थायी हैं, दूसरी तरफ वैसे ही भविष्यत् में उसके नाश की आशङ्का रहने से पार्थिव सुख का भोगकाल भी दुःखदायक होता है। द्वितीयतः कर्म। क्लेश का मूल ही कर्म है। कर्म से ही क्लेश उत्पन्न होता है। कर्म के त्रिविध स्वरूप पूर्व विशेष भाव से व्याख्यात हुए हैं। तृतीयतः विपाक। विपाक शब्द का अर्थ है परिणाम, चित्त का वृत्ति प्रवाह रूप कर्म्म सदा ही परिणामशील है। चौथा आशय—इसको कर्माशय कहते हैं, कर्म के सङ्कल्पसमूह सूक्ष्म भाव से इसमें संचित रहते हैं। पूर्वोक्त आवरण और विक्षेप शक्ति द्वारा ही ये परिचालित होते हैं। यही जीव का स्वरूप है। आवरण और विक्षेप शक्ति द्वारा परिचालित क्लेश कर्म्म विपाक और आशय यह ही जीव पदवाच्य हैं।

और भी खुलासा कहते हैं—जीव! देखो तुम कौन हो? सबसे प्रथम तुमने अपनी आंखे आप ही बांधी हैं। मैं कौन हुँ? इसे नहीं जानते, यह एक अज्ञान स्वीकार कर लिया है। यही मूल आवरण है। उस अज्ञान रूप आवरण पर अवस्थान करके प्रतिनियत तुम रूप रसादि विषयों में दौड़ते हो, यही विक्षेप है। इसके फल से

तुम्हें सुख और दुःख नामक जन्म जन्मान्तर व्यापी क्लेश भोग होता है। उस क्लेश से कर्म्म वा पुनः पुनः विषयेन्द्रियों का संयोग साधित हो रहा है। कर्म समूह क्रम से विपाक वा परिणाम को प्राप्त होकर फिर क्लेशके बीज तैयार कर रहा हैं। बीज फिर सूक्ष्म भावसे कर्माशय गठन कर रहा है। धीर चित्तसे विचार देखो—यही तुम्हारा जीवत्व है। एक बार यदि इस चतुरङ्गिनी सेना के हाथ से परित्राण पा सको, अर्थात क्लेश, कर्म, विपाक और आशय द्वारा अपरामृष्ट पुरुष विशेष वा परमेश्वर का साक्षात् लाभ कर सको, तब ही तुम जीवत्व के हाथ से परित्राण पाओगे। परमेश्वरी मा तुमको इस जीवत्व रुप अच्छेद्य बन्धन से चिरमुक्त करेंगी, इसी से ही चतुरङ्ग बल समन्वित चिक्षुर और चामर को निहत करने का उद्योग किया है।

रथानामयुतैः षड्भिरुदग्राख्यो महासुरः।
अयुध्यतायुतानाञ्च सहस्रेण महाहनुः॥ ४०॥

अनुवाद। उदग्र नामक महासुर ने छः अयुत और महाहनु नामक असुर ने सहस्र अयुत रथों को लेकर युद्ध किया था।

व्याख्या। क्रम से असुरों का बल वर्णित होता है। चिक्षुर और चामर को छोड़ कर उदग्र, महाहनु आदि और भी अनेक महासुर युद्ध क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। क्रम से इनके नाम और बल का परिचय मिलेगा। उत्-ऊपर की ओर अग्र अर्थात् मस्तक है जिसका, वही उदग्र है। अहं कर्तृत्व अभिमान ही उदग्र असुर है। वह किसी भी तरह शिर नीचा नहीं करना चाहता। एक मात्र मा के सिवाय और कोई कर्ता नहीं है वा रह नहीं सकता, यह बात लाखो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण द्वारा समझ सकने पर भी "मैं कर्ता हूं" ऐसे अभिमान का उच्च शिर जीव किसी तरह अवनत कर नहीं सकता न करना ही चाहता है। साधक! इस भाव

को ही उदग्र असुर समझ लेना। आशङ्का हो सकती है, पूर्व कहा गया है कि जीव के अपना कर्तृत्व मातृ चरणों में अर्पण करने के बाद, मा स्वयं युद्ध क्षेत्र में अवतीर्ण होती है। तब फिर अहं कर्तृत्वाभिमान रूप उदग्र असुर कहां से आया? इसका उत्तर प्रथम ही दिया जा चुका है कि अनुलोम और विलोम भेद से प्रकृति की गति द्विविध है। अनुलोम गति के कारण जीवभावीय कर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहने पर भी, अन्तर्मुखी आत्मसमर्पण भाव प्रकाश पाता है। परन्तु सर्वतोभाव से आत्मसमर्पण होने से तो मुक्ति हो ही जाती है। फिर युद्ध रहता ही नहीं। जब तक युद्ध चलता रहे, तब तक समझना होगा कि सम्यक् रूप से आत्मसमर्पण वा आत्मज्ञान हुआ नहीं, जीव जब मातृ कर्तृत्व उपलब्धि करके आत्मसमर्पण करने को उद्यत होता है तब भी समर्थ नहीं हो पाता, अनादि कर्तृत्वाभिमान उसको बाधा देता है, तब अगत्या मा के समीप रोकर कहता है—'मा" मैं तो अब आत्मसमर्पण कर नहीं सकता। तुम मुझे आत्म समर्पण के योग्य करलो।" यह भाव जब ठीक ठीक आ जाता है अर्थात् किसी तरह का कपट भाव नहीं रहता, यथार्थ ही सरल प्राण शिशु की भाँति समर्पण की योग्यता लाभ के लिए, मा से प्रार्थना किया करता है तब ही मा इस उदग्र असुर बध की तैयारी करती है।

अस्तु, इस असुर की शक्ति भी कम नहीं है छः अयुत रथ सहित इसकी युद्ध वा प्रतिरोध की क्रिया चलती रहती है। छः अयुत रथ क्या? श्रुति में कहा है कि देह ही रथ है। देह छः हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन छः कोषों द्वारा मानो परमात्मा आच्छादित रहते हैं। यह छः देह ही उदग्र असुर के रथ हैं। वेदान्त के अनेक स्थलों में पन्च कोषों का उल्लेख रहने पर भी ज्ञान और विज्ञान भेद से विज्ञानमय कोष केदो भेद लेकर षट् कौषिक देह का उल्लेख भी शास्त्रसिद्ध है।

ज्ञानमय कोष को बुद्धि और विज्ञानमय कोष को महदात्मा कहा जाता है।

अन्नादि खाद्य द्रव्य के विकार से जो कोष बनता वा परिपुष्ट होता है, उसे अन्नमय कोष वा स्थूल देह कहते हैं। यही उदग्र का प्रथम रथ है। जीव प्रथमतः इस स्थूल देह को ही 'मैं' समझता है। यही जीव कर्तृत्वाभिमानी का प्रथम आश्रय है। जितने दिन देह रहती है उतने दिन समझना होगा कुछ न कुछ अभिमान रहता ही है जिस महूर्तमें देहाभिमान बिलकुलविलयहो जाता है,उसी मूहूर्त देह पात हो जाता है। समाधि के कितने ही उच्चस्तर पर क्यों न जाओ कुछ बीज रह ही जाता है, इसी से फिर देहबोध में लौट आना होता है। परन्तु साधारण जीवके देहाभिमान और आत्मज्ञ पुरुष के देहाभिमान में आकाश पाताल का भेद है, इसमें कहना ही क्या है। आत्मज्ञ पुरुष मृत्यु भय से चिरविमुक्त है, इसी एक लक्षण द्वारा कहा जा सकता है कि उसे देहाभिमान नहीं है। किन्तु साधारण जीव मृत्यु भय से भीत है, अतएव देहाभिमानी है। आत्मज्ञ पुरुष जो कुछ देहाभिमान रखते हैं उसको प्रारब्ध क्षय कहो, चाहें दया परवश होकर जगत् का अन्धकार दूर करने की इच्छा कहो। अथवा कुछ प्रियतम अन्तरंग को बन्धन से विमुक्त की इच्छा कहो, कुछ क्षति नहीं; परन्तु वह दूसरी बात है।

उदग्र का और एक रथ है, प्राणमय कोष। जिसके द्वारा यह स्थूल देह क्रियाशील रहता है। वह जीवनी शक्ति ही प्राणमय कोष है। साधारण भाव से इसको प्राणादि पंचवायु कहा जाता है। वस्तुतः यह स्थूल वायुमात्र नहीं है। जीवनी शक्ति ही यथार्थ प्राणमय कोष हैं। यहां पर भी जीव का अहंबोध बँधा रहता है। तृतीय मनोमय कोष वा इन्द्रिय समन्वित मन है। इस स्थान में भी मैं मनोमय हूं, मैं इन्द्रियमय हुं, ऐसा बोध रहता है। चौथा बुद्धिमय वा ज्ञानमय है। यह कोष सब तरह के स्थूल विषय प्रकाश करने का आश्रय है। मैं ज्ञानमय हूं, स्थूल विषय समुह मैं जानता हुँ, इस काष में ऐसा अभिमान रहता है इसके बाद

विज्ञानमय कोष है। इस स्थान में सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के विषय सम्यक प्रकाशित हो पड़ते हैं। यह अभिमान का पांचवाँ स्थान है। सबसे अन्त में आनन्दमय कोष है। मै आनन्द स्वरूप हूं, यह छठा अभिमान का स्थान है। यह छः विशिष्ट रथ। फिर स्थूल, सूक्ष्म असंख्य नाम रूपादि विषय भेद से, अगणित भेद विशिष्ट होते हैं। इसी से मन्त्र में असंख्य बोधक अयुत शब्द का प्रयोग हुआ है। अथवा अयुत शब्द का अर्थ अमिलित अर्थात् परमात्मा के साथ भेद विशिष्ट। एक मात्र मा ही यथार्थ अहं पद का वाच्य वा लक्ष्य है, यह बात भूल कर जीव अन्नमयादि षटकौषिक देह में अभिमान से बँध जाता है। उदग्र असुर के छः अयुत रथों का यही आध्यात्मिक रहस्य है।

महाहनु—जीव भावीय शारीरिक वा मानसिक बल। साधारणतः पुरुषकार शब्द से जो समझा जाता है उसी को महाहनु कहते हैं। जब तक पुनः पुनः दैव-प्रतिकूलता द्वारा, यह जीव भावीय पुरषकार खण्डित न हो, तब तक यह—अमित बलशाली है। "मैंने परिश्रम करके ज्ञानार्जन किया है, धन उपार्जन किया है, कठोर तपस्या करके ब्रह्मविद्या प्राप्त की है" इत्यादि। ऐसा भाव ही महाहनु है। इसके सहस्र, अयुत रथ हैं। इन स्थानों में सहस्र शब्द असंख्य बोधक है। विषयेन्द्रिय संयोग रूप कर्म्म—संख्यातीत हैं। इस असंख्य अर्थ में ही यहां सहस्र शब्द का प्रयोग हुआ है। अयुत शब्द को अर्थ अमिलित है, यह पूर्व कहा गया है। पुरुषकार का पुरुष ही मा है, यह न समझ कर सब इन्द्रिय व्यापार निष्पन्न करने रूप पुरुषकार प्रयोग ही महाहनु नामक असुर को सहस्र अयुत रथ सहित युद्ध का आध्यात्मिक रहस्य है।

पञ्चाशद्भिश्च नियुतैरसिलोमा महासुरः।
अयुतानां शतैः षड्भिर्वाष्कलो युयुधे रणे ॥४१॥

अनुवाद—महासुर असिलोमा एवं बास्कल रणक्षेत्र में यथाक्रम

से पचास नियुत और छः सौ अर्बुत रथों से परिवृत होकर युद्ध करने लगे।

व्याख्या—असिलोमा—असि की तरह रोम हैं जिसके। जिसके गात्र स्पर्श से अर्थात् संसर्ग में आने से ही क्षत विक्षत होने होता हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से इसको द्वेष कहा जाता है। द्वेष यथार्थ ही असिलोमा है। यह केवल दूसरे को ही क्षत विक्षत नहीं करता वल्कि आश्रयश हुताशन की भांति स्वाश्रय को भी विध्वस्त करता है। ईर्ष्या, असूया आदि इस द्वेष के ही अन्तर्गत हैं। पर-गुणमें असहिष्णुता आदि भाव मनुष्य को अत्यन्त संकीर्ण और सन्तप्त करते हैं। पराये दुःख से दुखी होते हैं—दूसरे के आंखों में आंसु देखकर, आंसू बहाने वाले महानुभव व्यक्ति जगत् में अनेक मिलते हैं, किन्तु पराये सुख से यथार्थ आनन्दित, परायी हँसी में सरल प्राण से अपनी हँसी मिला दें, ऐसे लोग इस जगत् में अति दुर्लभ हैं। क्यों ऐसा होता है? यह असिलोमा असुर का अत्याचार है।

फिर दूसरी तरफ जो इच्छापूर्वक जोर करके विषय विद्वेष का अभ्यास करते हैं, अर्थात् जो भगवत्लाभ के उद्देश्य से– वैराग्य साधन का उपाय स्वरूप विषयों पर विद्वेष भाव पोषण करते हैं, समझना चाहिये कि वे भी इस असिलोमा असुर द्वारा उत्पीड़ित हो रहे हैं, क्योंकि अनुराग और विद्वेष दोनों ही तुल्य शृंखला हैं, विषयों पर अत्यन्त अनुराग जिस तरह भगवत्-प्राप्ति में अन्तराय है, ठीक उसी तरह विषय-विद्वेष प्रबल अन्तराय है। वल्कि अनु-राग की परिसमाप्ति किसी न किसी दिन भगवान् में ही होती है, किन्तु विद्वेष की परिसमाप्ति भगवान् में होना अत्यन्त दुरुह है। हां! विद्वेष किया था कंश, शिशुपाल, दन्तवक्र आदि ने। उनका विद्वेष भगवान् में पर्यवसित होकर महामोक्ष लाया था। किन्तु साधारण मनुष्य के पक्ष में वह बिलकुल असम्भव है, कारण कि-

उनका चित्त अत्यन्त दुर्बल है।

अस्तु, इस असिलोमा असुर की रथसंख्या, पचास नियुत वा पांच सौ लाख है। रूप रसादि पांच विषयों को आश्रय करके विद्वेष भाव प्रकाशित होता है। उनके अवान्तर असंख्य भेदों को लक्ष्य करके ही शतलक्ष आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अथवा नियुत शब्द का अर्थ अमिलित है, आध्यात्मिक भाव से अयुत और नियुत शब्द परमात्मयोग शून्य भाव को ही समझाते हैं। हमारी चक्षुः आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों ऐवं वाक पाणि आदि पन्च कर्म्मेन्द्रियों के साथ, सदा विषयों का यथायोग्य संयोग होता रहता है, उनमें कुछ संयोग हमारे अनुकूल और कुछ प्रतिकूल हैं। प्रतिकूल संयोग से चित्त का जो विकार होता है उसका ही नाम विद्वेष है, वह ज्ञान और कर्म्म दोनों तरह की इन्द्रियों के आश्रय से ही प्रकाश पाता है। अतएव दश इन्द्रियां पांच विषयों के साथ गुणा करके विद्वेष के पचास प्रकार स्थूल भेद होते हैं। इसी से मन्त्र में पचास नियुत शब्द का उल्लेख है। जब तक अनात्म वस्तु का बोध रहता है अर्थात् मा के सिवाय और कुछ है, ऐसा बोध रहता है, तब तक यह विद्वेष भाव दूर होना एकान्त असम्भव हैं।

बास्कल शब्द का अर्थ भोगाभिलाष है। इस असुर का अत्याचार ही हमारे निकट बार-बार जन्म मृत्युरूप से आता है। किस अनादि काल से जगद्भोग में अभ्यस्त हुए हैं, कितने जन्म-जन्मान्तर से एक ही जगत को नाना भाव से भोग करते आते हैं, परन्तु किसी प्रकार से भी अभिलाषा की निवृत्ति नहीं हो रही है यह असुर ऐसा ही दुर्दान्त और दुर्जय है, इसकी रथ संख्या छः सौ अयुत अर्थात् छः सौ नियुत हैं। भोगायतन क्षेत्र देह ही भोगाभिलाष रुपी बास्कल असुर की युद्ध सामग्री वा आश्रय स्थान है। उसमें—"जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति" ये छः विकार संघटित होते हैं। इस षडभाव विकारयुक्त देह को आश्रय करके

भोगाभिलाष की प्रबल प्रेरणा से लाखों योनियों में भ्रमण करना होता है, वह चिन्ता करने से ही स्तब्ध होना पड़ता हैं। नियुत शब्द का अर्थ दस लाख और अयुत शब्द का अर्थ दस हजार है।

गजवाजिसहस्रोघैरनेकैः परिवारितः।

वृतो रथानां कोटया च युद्धे तस्मिन्नयुध्यत ॥४२॥

अनुवाद—परिवारित नामक असुर उस युद्ध स्थल में, हजारों हाथी घोड़े और करोड़ों रथों से परिवेष्टित होकर युद्ध करने लगा।

व्याख्या—परिवारित—परिवार प्रतिपालन विषयक कर्तव्य बुद्धि। यह भी असुर विशेष है। साधारण भाव से यह बात अनेक लोगों को अप्रीतिकर हो सकती है, क्योंकि समाज-नीति और धर्मनीति का अनुशासन मान कर जो चलते हैं उनके लिये पोष्य वर्ग का भरण पोषण करना एकान्त कर्तव्य है। न करने से अधर्म्म होता है, समाज-शृंखला नष्ट होती है, प्रत्यवाय होता है। यह मनुसंहिता आदि वेदानुगामी शास्त्र द्वारा बार बार उपदिष्ट हुआ है, किन्तु जिन्होंने चण्डीतत्त्व में प्रवेश किया है, गीता-रहस्य जिनके हृदय में उद्भासित हुआ है, अर्थात् जो मोक्ष-कामी हैं, अर्थात् धर्म्म अधर्म्म दोनों से अतीत अवस्था में जाने चाहते हैं, उनके पक्ष में फिर कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता। जब तक अहङ्कार वा जीव-भावीय कर्तृत्व-ज्ञान रहता है, विश्वमय एकमात्र महती शक्ति का स्वतःस्फुरण नहीं दीख पड़ता, तब तक ही कर्तव्य-ज्ञान, धर्म अधर्म विचार, ये सब रहते हैं। और जो जीव भावीय मैत्व को मा की मैत्व में मिलाकर निश्चिन्त हो सकते हैं, उनको कर्तृत्व बोलकर कुछ नहीं रहता। उनकी देह मातृ-शक्ति विकाश का केन्द्र स्वरुप होकर, असंख्य कर्म्म सम्पादन करता अवश्य है, किन्तु कर्तव्य-बुद्धि प्रणोदित होकर नहीं। तब वे गीता के सुर में सुर मिला कर कहने लगते हैं—"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥"

जोहो, जब तक जीव की यह अवस्था न आवे, अथच ऐसी अवस्था में उपनीत होने के लिये प्रबल आग्रह जाग्रत होता रहता है, तब तक वह कर्तव्य-ज्ञान ही असुर के अत्याचार रूप से प्रतिभात होने लगता है। साधक के विशिष्ट प्राण चाहते हैं— महाप्राण में मिल जाना किन्तु वह परिवारित नामक असुर कर्तव्य के रूप से खड़ा होकर उस महामिलन में बाधा देता है। प्रथम खण्ड में कहा गया है कि धर्म्म कर्म्म भी बन्धन विशेष हैं। यह परिवार-प्रतिपालन-विषयक-कर्तव्य-ज्ञान भी एक प्रकार बन्धन मात्र है। असी कर्तव्य शब्द के साथ ही कर्तृत्व ज्ञान मौजूद रहता है। एकमात्र मा के सिवाय और कोई भी कर्ता है ही नही और वह रह ही नही सकता है, इस ज्ञान में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित होने के पूर्व तक ही 'कर्तव्य' बोलकर एक बोध रहता है। आशङ्का हो सकती है कि जिन्होंने विश्वमय एकमात्र मातृ कर्तृत्व अनुभव किया है वे क्या कर्तृत्वबोध से कर्म नहीं करते ? इसके उत्तर में सब धर्म्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और महापुरुषगण एक स्वर से कहते हैं कि वे शास्त्र विहित कर्म का ही अनुष्ठान करते हैं, किन्तु कर्तव्य अर्थात् 'कर्तृत्व' बोध नहीं रहता। वे यन्त्र चालित पुतली की भाँति कर्म करते हैं। मातृ लाभ का यही तो फल है। अहङ्कार अर्थात मैं कर्ता हूँ यह अज्ञान विनष्ट होना ही आत्मदर्शन का बाह्य लक्षण है। उसके बाद भी कुछ अभिमान वा अहंबोध रहता है, किन्तु वह विषदन्तहीन सर्प की भाँति बन्धन रूप विष नहीं उगल सकता।

यह बात यहां विशेष ध्यान करने योग्य है कि परिवार प्रति-पालन रूप भारी बोझा वहन और उसके कारण अनेक प्रकार के असुख, अशान्ति से दुर रहने के लोभ से धर्म के नाम से आलस्य में आकर गेरुए वस्त्र धारण कर लेना पाषण्ड का लक्षण है। यदि कोई यथार्थ मुमुक्षु हो, यदि किसी को भी आत्म-प्रेम-प्रवाह कुल-प्लावी हो तो इस परिवारित असुर के अत्याचार से उसे मा ही

बचाती है। सावधान! कोई मा के प्रत्यक्ष संकेत वा सद्गुरु के आदेश बिना संसार परित्याग करके अधर्म्म के कीचड़ में निमग्न न होना। जब तक धर्म्माधर्म्म विचार प्राण में जागता रहे, तब तक संसाराश्रम परित्याग एकान्त निषिद्ध है! संसार में रहते हुए भी सन्यासी हुआ जाता है और यही सहज और स्वाभाविक है। परन्तु जब तुम मातृस्नेह से मुग्ध, मातृ-अस्तित्व में दृढ़ विश्वासवान् मातृ-कर्तृत्व पर पूर्ण निर्भरशील हो, तब भी देखोगे कि यह परिवारित असुर तुम्हें उत्पीड़ित कर रहा है। इस अवस्थामें कातर प्राणसे मा से कहो-मा! अब यह मुझसे नहीं सम्हल सकता। हजार बार समझ लिया कि एक-मात्र तुम ही कर्ता हो, तो भी यह कर्तव्य ज्ञान असुर के रूप में आकर मुझको चन्चल कर डालता है। हमें अपना सुख दुःख कहने को और तो कहीं जगह है नहीं, हमें इस परिवार प्रतिपालन रूप कर्त्तव्यज्ञान के बन्धन से मुक्त करो। मैं केवल उस एकमात्र "कर्त्तव्य" के अनुरोधसे सैकड़ों हजारों बन्धनों से आबद्ध हो रहा हूँ। मा! तुम ही तो हमारी पूर्ण स्वाधीनता का अद्वितीय क्षेत्र हो, तुम ही हमारे उन्मुक्त हृदय की विलास-निकेतन हो, हमारा सर्वस्व तुम ही हो, तुमही हमारे सब तरह के संकोच का अवसान हो, तुमको पाकर—फिर संसार का दासत्व क्यों करें? मा तुम राज राजेश्वरी हो और तुम्हारे पुत्र होकर हम कङ्गाल की तरह विषयों के द्वार पर मुट्ठी-भर भिक्षा मांगने क्यों जावें!

इस तरह सरल प्राण से मा को जताओ तो देखोगे कि मा अचिन्त्य उपाय से तुमको इस परिवारित असुर के हाथ से निष्कृति देगीं। जब तक मा स्वयं इस असुर निधन के लिये तैयार न हो तब तक हठ के वश होकर अपने कर्तृत्व से असुर-बध की चेष्टा न करो। याद रक्खो कि मा के प्रति निर्भरशील सन्तान की कोई आकांक्षा अपूर्ण नहीं रहती। इसी से अनेक बार कहते हैं कि जब जो इच्छा हो मा से माँगने में कभी कुछ दोष नहीं है, परन्तु जैसे पुत्र अपनी मा से मांगता है, उस प्रकार मांग सको, तब। अजी!

तुम भिखारी की तरह माँगते हो, यह भी संशय है कि मा है या नहीं ! इसी से सन्दिग्धचित्त से भिखारी की तरह धाय मा से भिक्षा मागते हो। यह भी आशंका है कि न जाने मा, देगी या नहीं इस कारण फल भी वैसा ही होता है। यदि मांगो तो पुत्र की तरह मांगो, भिखारी की तरह मत मांगो। परन्तु वह दूसरी बात है:—

अस्तु, इस परिवारित असुर के रथ कोटि संख्यक है गजबाजी भी सहस्र सहस्र हैं। गज शब्द का अर्थ है बन्धन, बाजि शब्द का अर्थ है, द्रुतगति। केवल परिवार प्रतिपालनरुप एकमात्र कर्तव्य का आश्रय करने ही से अगणित कर्तव्य सामने आ खड़े होते हैं। और वे ही जीव को बद्ध कर रखते हैं अश्वकी तरह इधर उधर दौड़ा करते हैं। गजबाजि शब्द का अर्थ पूर्व भी विशेष भाव से कहा गया है।

विडालाक्षोऽयुतानाञ्च पञ्चाशद्भिरथायुतैः।
युयुधःसंयुगे तत्र रथानां परिवारितः ॥४३॥

अनुवाद। अनन्तर बिडालाक्ष नामक असुर पचास अयुत रथों से परिवेष्टित होकर उस रण क्षेत्र में युद्ध करने लगा।

व्याख्या। विडालाक्ष—जिसके नेत्र बिल्ली की भांति हैं। आध्यात्मिक भाव से इसको दोष दृष्टि कहते हैं। बिल्ली के नेत्र की विशेषता यह है कि दोनों तारे पीले रंग के और दिन-रात में समान दृष्टि सम्पन्न होते हैं। जैसे कमलवायु रोगी मनुष्य पृथ्वी के सब पदार्थ हल्दी के रंग से रंगे हुए देखता है, उसी तरह जीवगण भी अद्वितीय ब्रह्मवस्तु को बहु भाव से विराजित जगत् रुप से दर्शन करते हैं। हजार बार समझा है, आलोचना की है—"सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म आत्मैवेदं सर्वं, सर्वं विष्णुमयं जगत्, मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना" इत्यादि कितना सुना है, उपदेश पाया है, तथापि इस जगत् को तो ब्रह्म रुप से दर्शन कर नहीं सकते ! किसी तरह जगत् को आत्मा बोलकर—मा बोलकर परिग्रह कर नहीं सकते। यही विडालाक्ष असुर का अत्याचार है। क्या करें मा ! हम केवल

आज ही नहीं बल्कि अनेक जन्म से इसी प्रकार प्रवञ्चित हुए हैं, यह परिदृश्यनाम जगत् तुम्हारे सिवाय और कुछ है ही नही, ऐसा किसी तरह हमेशा भान नहीं रहता ! अनात्म वस्तु के दर्शन रूप पीत नेत्र के अत्याचार से किसी तरह तो परित्राण पाया ही नहीं जाता। दिन में जाग्रत अवस्था में जिस तरह विडाल नेत्र के अत्याचार से अद्वितीय चिन्मात्र वस्तु को जड़ पदार्थ के आकार में परिग्रह करने को बाध्य होते हैं, ठीक उसी तरह रात्रि के समय स्वप्नावस्था में भी अनात्म वस्तु के परिग्रह में मुग्ध रहते हैं। इस तरह दिन-रात हम विडालाक्ष के अत्याचार से उत्पीड़ित हुए हैं।

किन्तु मा ! अब हमारे प्राण में आशा का सञ्चार हुआ है, क्योंकि जगत् दर्शन, असुर का अत्याचार है, यह समझ में आगया है। इसीसे तुम स्वयं ही असुर का निधन करने को अवतीर्ण हुई हो। अब हमें क्या भय है ? मा ! प्रति जीव के हृदय में इसी तरह चण्डीमूर्ति से अविर्भूत हो कर, दोष दृष्टि वा विषय दर्शन रूप विडालाक्ष असुर निधन का उद्योग करो। जगत् में फिर सत्य धर्म्म की प्रतिष्ठा हो।

आधिभौतिक भाव से भी देखा जाता है कि यह विडालाक्ष असुर वा दोष दृष्टि ही मनुष्य को सदा अशान्त रखती है और दुःख के हेतु स्वरूप होती हैं। दूसरों के दोष देखने को हम सहस्त्र लोचन हो जाते हैं। हाय, हम समझ नहीं सकते कि दूसरों के दोष देखते समय वे दोष हमारे ही चित्त को कलुषित करते हैं। दूसरों के दोष देखने के चक्षु बिलकुल मुँदे रहने से मनुष्य कितना सुखी होता है वह सहज में धारणा कर नहीं सकते इसीसे कातर प्राण से प्रार्थना करते हैं—मा ! तुम हमको इस दोष दर्शन रूप विडालाक्ष असुर के अत्याचार से परित्राण करो। जिससे हम भ्रमसे भी पराये दोष दर्शन न करें। मनुष्य मात्र में दोष गुण दोनों ही रहते हैं। मा ! हमारी दृष्टि जिससे सदा केवल गुण अँश के ऊपर ही

पड़ती रहे, हम जिससे किसी के भी दोषों की आलोचना करके अपने चित्त को कलुषित न करें। मा! तुम हमें शक्ति दो। मा मा मा!

अस्तु, इस विडालाक्ष की रथ संख्या पंचास अयुत है। ऐक ही परमात्म वस्तु को हम पांच विषय रूप से दश इन्द्रियों द्वारा परिग्रह करते हैं। इस तरह इसके पचास भेद स्थुल रूप से होते हैं। अयुत शब्द का अर्थ असंख्य वा अमिलित है। यह पूर्व भी अनेक मन्त्रों की व्याख्या में कहा गया है।

अन्ये च तत्रायुतशो रथनागहयैर्वृताः।
युयुधुः संयुगे देव्या सह तत्र महासुराः ॥४४॥

अनुवाद। अन्यान्य महासुरगण अयुत हाथी अश्व और रथों से परिवृत होकर उस रण स्थल में देवी के साथ युद्ध करने लगे।

व्याख्या—पूर्ववर्ती मन्त्रों में प्रधान प्रधान असुरों के नाम और बल का विवरण वर्णन हुआ है। यहां अन्यान्य असुर कुल का विवरण साधारण भाव से उल्लिखित हुआ है। उनमें उद्धत, दुर्धर, दुर्म्मुख, कराल, उग्रास्य और उग्रवीर्य नामक कुछ असुरों का वध विवरण अगले अध्याय में पाया जायगा। ये नाम अन्वर्थ हैं। धीमान् साधक अनायास अपने भीतर इन नामों वाले असुरों को देख पावेंगे। योग शास्त्र में कहा है—"देहस्था देवताः सर्वा देहस्थाश्च महासुराः। देहस्थानि च तीर्थानि पश्यन्ति योग चक्षुषः॥" योग चक्षुस्मान् व्यक्ति अपने में ही देवता, असुर और सब तीर्थों के दर्शन करते हैं। ब्रह्मर्षि मेधस् ने अङ्गुलिनिर्देश पूर्वक राजा सुरथ को यह दिखला दिया कि चिक्षूर, चामर आदि असुर किस तरह शक्ति की सहायता से युद्ध क्षेत्र में अवस्थित हैं। मनुष्य जब अपने भीतर स्थित अतिप्रिय वृत्तियों को इस तरह असुर बोलकर समझने पाता है (केवल मुख से नहीं हृदय से असुर समझना हैं)

तब ही देख पाता है कि ये असुर उसके साथ युद्ध न करके मा के साथ ही युद्ध कर रहा है, इसी से मन्त्र में "देव्या सह युयुधुः" कहा गया है। साधक जब तक देखेंगे, कि तुम स्वयं असुर के प्रतिकूल युद्ध कर रहे हो तब तक समझें कि अभी असुर निधन का यथार्थ उपाय मिला नहीं। तुम मा के पुत्र हो मा की गोद में बैठ कर केवल देखो कि असुर किस तरह अपना प्रकाश करते हैं और मा भी किस प्रकार उन्हें अपने में विलय कर लेती है, परन्तु वह और बात है।

कोटिकोटिसहस्रैस्तुरथानां दन्तिनां तथा।

हयानाञ्च वृतयुद्धे तत्राभून्महिषासुरः ॥४५॥

अनुवाद। इस तरह महिषासुर करोड़ों रथ, हाथी और घोड़ों को साथ लिये युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

व्याख्या। साधक! अब एक बार असुर बल की ओर दृष्टिपात करो—तुम्हारी देह में अन्तरराज्य में असुर कितने बलवान होकर तुम्हारा विनाश करते हैं, किस तरह अपनी शक्ति की सहायता से तुम्हें आत्मराज्य से विच्युत कर रक्खा है, जिन्हें तुम अन्तर के भावमात्र समझते थे, अब देखो, वे भावमात्र नहीं है—असुर हैं। ऐसा ही होता है। साधकमात्र ही राजा सुरथ की तरह पहले आत्मीय स्वजन, कोषागार, भूमि आदि को ही साधना वा मातृ लाभ का बाधक समझते थे, परन्तु कुछ अग्रसर होने से अच्छी तरह समझ सके हैं कि बाहिर जिनको विघ्न स्वरूप समझते थे, वे वास्तविक विघ्न नहीं हैं बल्कि विघ्न हमारे मन के भाव है। इन भावों को निरुद्ध कर सकने से ही मातृलाभ हो सकता है। क्रम से जितना आगे बढ़ते जाते हैं उतना ही यह मर्म्म-मर्म्म से अनुभव होता जाता है कि ये भाव सामान्य नहीं हैं ये महासुर हैं। कोटि-कोटि सैन्य सहायता से स्वयं महिषासुर साधक को सदा के लिए संसार कारागार में आवद्ध रखने के लिये

उद्यम करता है, किन्तु साधक—निर्भय निश्चिन्त है; कारण, वह मातृ चरणों में आत्मसमर्पन कर के असुर कुल के निधन की प्रतीक्षा में उत्सुक नेत्रों से देख रहा है।

जीव! जब तक तुम केवल अपना कर्तृत्व ले कर साधना करोगे—यम नियमादि अनुष्ठान करके असुर कुल को निर्मूल करने का प्रयास पाओगे, तब तक आशंका है कि कदाचित् साधना निष्फल भी हो सकती है कारण कि तुममे कर्तृत्व का ज्ञान है। और जब मा स्वयं ही साधना रूप से आत्मप्रकाश करती है तब फिर निष्फलता की आशङ्का नहीं रहती, इसी से कहते हैं कि चाहे कुछ भी करो, मा के कर्तृत्व पर दृढ़ विश्वास रख कर पूर्ण भाव से निर्भर करने का अभ्यास करो तव देखोगे कि कोई अज्ञात् शक्ति तुम्हारे सब विघ्नबाधाओं को विदुरित कर रही है। मातृ कर्तृत्व में विश्वासवान् साधक का इससे केवल साधन मार्ग ही निर्विघ्न नहीं हो जाता बल्कि व्यवहारिक जीवन यात्रा भी विघ्न शून्य हो जाता है।

तोमरैर्भिन्दिपालैश्च शक्तिभिर्मुसलैस्तथा।
युयुधुः संयुगे देव्या खड्गैः परशुपट्टिशैः ॥४६॥

अनुवाद। तोमर भिन्दिपाल शक्ति, मुशल, खड्ग, परशु और पट्टिस आदि अस्त्रों द्वारा असुर देवी के साथ युद्ध करने लगे।

व्याख्या। असुरों में जिस तरह चिक्षुर, चामर आदि सात प्रधान असुरों के नाम कहे गये हैं उसी तरह तोमर, भिन्दिपाल आदि सात प्रधान अस्त्रों का भी उल्लेख है, जो परिवारित नाम के असुरको अलग स्वीकार नहीं करते, उनके मत से ही असुर-सप्तक होता है, परन्तु हमने उसे स्वीकार किया है, अतएव हमारी गणना में प्रधान असुर आठ हैं। इनकी मीमांसा आगे की जायगी। प्रथम अस्त्रों का आध्यात्मिक रहस्य समझने की चेष्टा करें।

तोमर "स्तोमं :राति इति तोमर" (सकार लोप)। जो स्तोभ अर्थात् पुन्जीभूत वा एकत्रकृत भाव का दान करे, उसे तोमर कहते हैं। एक साथ वहु भावों को राशिकृत करके एक पदार्थ की भाँति प्रतीति योग्य कर देना ही तोमर नामक अस्त्र का कार्य है। यह सर्वप्रधान सेनापति महासुर चिक्षुर का अस्त्र है। विक्षेप शक्ति का स्वभाव ही है, बहुभावों को सङ्कीर्ण रूप से ज्ञान गोचर करा देना। तुम वृक्ष देखते हो, तुमने समझा कि वृक्ष नाम से एक पदार्थ मात्र ज्ञानगोचर हुआ। परन्तु वास्तव में वह एक पदार्थ नहीं है, क्षण परिणामी बहुज्ञान की समष्टिमात्र है। नदी का प्रवाह देखते हो। प्रथम दृष्टि पड़ते ही प्रवाह का जो अंश देखा था, द्वितीय क्षण में वह अंश नहीं - बहुत दूर चला गया, इसी तरह तृतीय, चतुर्थ क्षण में तुम्हारा पूर्व देखा हुआ प्रवाह का अंश नहीं है, प्रत्येक क्षण नये नये अंश आकर तुम्हारे नेत्रगोचर होते हैं किन्तु तुम एक ही जलप्रवाह देख रहे हो। तेजी से घूमता हुआ आतशबाजी का चक्र वा अलात चक्र (लकड़ी को एक सिरा जलाकर घुमाना) के सिरे -पर लगी हुई बिन्दुमात्र अग्नि तुम्हारी दृष्टि में स्थिर रेखा के आकार में प्रतीत होती है। परन्तु वास्तव में वह अग्नि रेखा नहीं है, अतिद्रुत वेग से घूमती हुई अग्नि की चिनगारी ही रेखा के आकार में प्रत्यक्ष होती है। देखो—तुम्हारे अणुपरिमाण मन को विक्षेप शक्तिरूप चिक्षुरासुर तोमरास्त्र के प्रभाव से कितना वैचित्र्यमय जगद्भोग कराता है। किसी भी एकमात्र बोध को क्षण भर धरके नहीं रख सकता क्यों, सब समझ में आ गया? क्षण भर में चित्त क्षेत्र में कितने हजारों वृत्तियां फूटती रहती है, किसी एक को पृथक कर देखने का उपाय नहीं। कितने भिन्न-भिन्न ज्ञान समष्टिभूत होकर एक पदार्थ की भाँति प्रतीतिगोचर होता हैं। यही चिक्षुर द्वारा चलाये हुए तोमरास्त्र का प्रभाव है। कुछ धीर भाव से अन्तरराज्य में प्रवेश करने से ही मनुष्य यह अस्त्राघात लक्ष्य कर सकता है। सूक्ष्म

विक्षेप और भी भयानक है, योग चक्षु भिन्न उनकी उपलब्धि ही नहीं होता। यह तोमरास्त्र बड़ा भयानक है। उसकी चोट किस तरह और कहां होती हैं यह समझने का उपाय नहीं है। तो भी रोम रोम घायल कर रहा है। पुत्र का हास्यमय मुख देखा कितना आनन्द हुआ वह दर्शन कुछ क्षण परिणामी, देश परिणामी परमाणु विषयक दर्शन वा प्रतीति की समष्टिमात्र है. यह समझने नहीं देता। यह मान लेते हैं कि पुत्र मुख रूप में एक वस्तु ही देखी है। इस तरह समाष्टि भाव से सङ्कीर्ण भाव से पदार्थ का उपलब्धि कारक अस्त्र ही तोमर है।

भिन्दिपाल—भेद ज्ञान को पालन वा पोषण करता है बोलकर इसका नाम भिन्दिपाल है। यह महासुर चामर का अस्त्र है। आवरण शक्ति का स्वभाव ही है विषय अर्थात् अनात्म वस्तु को परमात्मा से पृथक् भाव से उपलब्धि कराता है। मान लीजिये कि आपने गुरु और वेदान्त वकाय में विश्वास के कारण सत्य प्रतिष्ठा की सहायता से जगत् को ब्रह्म कहकर समझ लिया, तो भी चामर असुर ने क्षणभर में भिन्दिपाल अस्त्र चला कर जगदाकार से आकारित कर दिया। आप जगत को ब्रह्म से बिलकुल पृथक भाव से उपलब्धि करने लगे, इस अस्त्र का यह मारात्मक प्रभाव है।

शक्ति—यह उदग्र असुर का अस्त्र है। अभिमान अर्थात् जीव भावीय कर्तृत्व ज्ञान सर्वदा सभी कार्यों में अपनी शक्ति का विकास देखता है। यहां तक की संसार क्षेत्र में चलते चलते जीव विपन्न हो जाता है, सब प्रकार का पुरुषार्थ प्रयोग निष्फल होता है, तब एक बार ऊपर की ओर देख कर किसी अज्ञेये शक्ति की सहायता चाहता अवश्य है, किन्तु कार्य्य सिद्धि के बाद ही इसको अपनी शक्ति समझ लेता है। इस अस्त्र का प्रयोग कौशल ऐसा ही है। शक्ति एकमात्र चैतन्य में ही अवस्थित है। इसके सिवाय और कहीं भी शक्ति नही—रह ही नहीं सकती, यह न समझ कर

जड़ पदार्थों में शक्ति दर्शन ही उदग्र असुर के शक्ति प्रयोग का फल है।

मुषल—मुष् धातु स्तेयार्थक। "मुषं लाति इति मुषलः।" स्तेय अर्थात् अपहरण भाव को अर्पण करता है बोलकर इसका नाम मुषल है, यह महाहनु नामक असुर का अस्त्र है। बल वा सामर्थ्य केवल ईश्वर में ही है, पुष्टि एक मात्र महामाया मा है, यह न समझ कर शारीरिक वा मानसिक बल को ही कार्य सिद्धि के उपायस्वरूप मान लेना ही, इस मुषलास्त्र प्रयोग का प्रभाव है। ऐश्वरिक प्रभाव को अपहरण पूर्णक जीव के पुरुषकार भाव का प्रगट कराना ही इसका कार्य है।

खड्ग—द्विधाकारक अस्त्र। यह असिलोमा का अस्त्र हैं असि, असिलोया का अस्त्र होना ही चाहिये। हम तुम वस्तुतः एक अभिन्न होने पर भी जिस बुद्धि के प्रभाव से तुमको परज्ञान कराता है यह उस असिलोमा के खड्गाघात का ही फल है।

परशु—परान् शवति इति परशुः। शु धातुम्वादिगणीय गमनार्थक है।" गमेर्ज्ञानार्थकत्वं" पर वा अन्य को प्रतीति कराने से इसका नाम परशु है। यह वास्कल असुर का अस्त्र है। आत्मा के सिवाय अनात्म नामक वस्तु की प्रतीति द्वारा ही भोगाभिलाष सिद्ध होती है। "यदासर्वमात्मैवाभूत तदा केन कं पश्येत्; कं जिघ्रेत्" जब सब ही आत्ममय हो गया, तब फिर दर्शन श्रवण कुछ भी नहीं रहा, अतएव भोग वा भोग्य नहीं रहता इसी से वास्कल असुर प्रतिक्षण परशु के आघात से पर प्रतीति उत्पन्न कराता रहता है।

पट्टिश—यह बिडालाक्ष का अस्त्र है। पट्टिश एक प्रकार का जृम्भक अस्त्र है इसके प्रयोग से लोक विकृत हो जाते हैं, अन्धकार देखते हैं, दोष दृष्टि से अज्ञान अन्धकार घन होता है। इसके सिवाय परिवारित असुर है, इसके विशेष किसी अस्त्र का नाम

इस मन्त्र में उल्लिखित नहीं हुआ। अगले मन्त्र में पाश चलाने की कथा है। वह पाश ही परिवारित का अस्त्र है। परिवार प्रतिपालन के विषयक कर्तव्य ज्ञान से ही पाश वा बन्धन दृढ़ होता है।

इस मन्त्र में फिर ऋषि कहते हैं "देव्या सह युयुधुः" असुरों ने देवी के साथ युद्ध किया था। हमारे साथ नहीं-मा के साथ। साधक जब सचमुच भगवच्चरण में आत्मसमर्पण करके अपने को मा की गोद में स्थित सन्तान समझ सकते हैं तब देखते हैं कि असुर मा के साथ ही युद्ध करते हैं, मैं तो निमित्त मात्र साक्षी स्वरूप से अवस्थित हुं।

तोमर, भिन्दिपाल आदि स्वनाम प्रसिद्ध अस्त्रों का ऐसा आध्यात्मिक अर्थ देखकर, एक तरफ जैसे उनके सुने हुए अर्थ पर कोई सन्देह न करे, और दूसरी तरफ भी कपोल कल्पित समझ कर उक्तप्रकार अर्थ को आनर्थक्यन मान लें। शास्त्र के वाक्य मात्र का ही आत्माभिमुखी लक्ष्य है, यही सब दर्शन और महा-पुरुषों का सिद्धान्त है। जिस स्थल में सहज ही शास्त्रार्थ आत्म लक्ष्य पर उप स्थित होता है, उस स्थल में जिस तरह कोई संशय वा वितर्क उपस्थित नहीं होता, उसी तरह जिस स्थल में कुछ कष्ट करके आत्माभिमुखी गति के अनुकूल अर्थ किया जाता है, ऐसे अर्थ पर भी संशय वा वितर्क उपस्थित न करके, साधकों को पूर्ण श्रद्धावान् होना ही परम आवश्यक है। सब शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय एक मात्र "मैं" वा मा हैं। "मैं" को पहचानने ही के लिये जगत् है यह बात चित्त में भली-भाँति दृढ़ भाव से अङ्कित रहनी चाहिये।

केचिच्च चिक्षिपुः शक्तीः केचित् पाशांस्तथापरे।
देवी खड्ग प्रहारैस्तु ते तां हन्तु प्रचक्रमुः ॥४७॥

अनुवाद। कुछ असुर शक्ति अस्त्र के प्रयोग से एवं अपर असुर खड्ग प्रहार से देवी की हत्या करने को तैयार हुए।

व्याख्या—बन्धन अर्थ बोधक पश धातु से पाश शब्द बना है, वह रस्सी की भांति बांधने वाला अस्त्र विशेष, परिवारित नामक असुर का आयुध है। जब चारों ओर से कर्तव्य ज्ञान रूप बन्धन आकर जकड़ लेता है, तब साधक देखता है कि अब मातृशक्ति निर्जित हो जायगी। केवल कर्तव्य ज्ञान ही नहीं, अन्यान्य असुरों के चलाये शक्ति खड्ग आदि अस्त्र शायद अबकीं बार मा की हत्या कर डालें?

साधक! यह न समझें कि मातृ-चरण शरण ले लेने मात्र से ही तुम्हारी आसुरी वृत्तियां बिलकुल निर्मल हो जायगी। मा को कितना कष्ट करके इस दुरन्त असुर कुल का निधन साधन करना होता है, इस बात को केवल वही समझ सकते हैं कि जिन्होंने यथार्थ रूप से एक बार भीं मा कहकर पुकारा है।

जीव! यह न समझना कि जो सर्वशक्तिमयी परमेश्वरी है, उसे फिर असुर निधन के लिये कष्ट करने की क्या आवश्यकता है? स्मरण मात्र ही से तो अभीष्ट सिद्ध हो सकता है। अजी उसकी अपनी तो कुछ इच्छा है हीं नहीं, केवल तुम्हारी इच्छा के कारण ही उसको इच्छामयी होना पड़ता है। तुम्हारे संस्कारों से, तुम्हारी इच्छा से अनुप्रेरित होकर ही तो उसको कार्य करना होता है। वह मा है? वह तुम्हारी प्रकृति है, तुम्हारे स्नेह से व्याकुला होकर आत्महारा है, इसी से उसे महतीआत्मप्रकृति के विकास को सुयोग नहीं हो रहा है तुम ही ने उसको जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की भी प्रसूती है उनको छोटा कर रक्खा है, अपनी तरह चिरमलिन सन्तान की शक्तिहीना मा बना रक्खा है, इसीं से असुर समर में मा के असहनीय विडम्बना सहना पड़ता है। यदि सत्यही मा को महता शक्तिमयी समझकर

विश्वास कर सकते, तो एक वार स्मरण मात्र से ही असुर कुल अस्तित्वहीन हो जाता। जब मा की महती शक्ति की ओर देखो, तब ही यदि अपने हृदय में लक्ष्य करो तो देखोगे कि वहां तुम्हारे हृदय में संशय की लहरें उठ रही हैं। "क्या सत्यही मा इस विपत्ति को दूर कर सकती हैं"? ऐसा संशय रहने ही के कारण तुरन्त सफलता नहीं पाते। अरे! हम राजराजेश्वरी के पुत्र की तरह जोर से मा को मा कह कर नहीं पुकार सकते। क्यों नहीं पुकार सकते? पुकारने की इच्छा नहीं। लाखों वार कहते हैं कि पुकारने की इच्छा नहीं है, इसी से नहीं पुकार सकते। इच्छा न होने ही के कारण संशय है, विश्वास नहीं है। हम जैसा कुछ कुछ करके मा कहते हैं, मा भी वैसे ही थोड़ा थोड़ा करके अपना प्रकाश करती है, हमारे संशय के कारण ही तो मा पूर्ण रूप से आत्म प्रकाश नहीं कर सकती, और आत्म प्रकाश न करने ही के कारण उसे असुर युद्ध में घोर कठोर क्लेश सहना होता है। इसी से असुर हमारी मा के अङ्ग पर अस्त्र प्रहार कर रहे हैं, मा के अङ्ग से रुधिर स्रोत प्रवाहित कर रहे हैं, हमारी मा का कमनीय चिन्मयवपु मलिन कर रहे हैं। ओः हम कैसे अकृतज्ञ अधम सन्तान हैं। मा, मा, मा! हमतो तुमसे क्षमा मांगने योग्य भी नहीं हैं।

सापि देवी ततस्तानि शास्त्राण्यस्त्राणि चण्डिका।
लीलयैव प्रचिच्छेद निजशस्त्रास्त्र वर्षिणी ॥ ४८ ॥

अनुवाद। चण्डिका देवी भी तब अपने अस्त्र-शस्त्र वर्षा कर असुरों के चलाये हुए अस्त्रों को अनायास छिन्न-भिन्न करने लगीं।

व्याख्या। तोमर, भिन्दिपाल आदि जो असुरों के अस्त्र है, वे ही अस्त्र मा के भी हैं। इससे पहले ही देवताओं ने अपने अपने अस्त्रादि द्वारा देवी की पूजा की थीं। मा का अपना

कहने को कुछ नहीं है, सब ही सन्तानों को दे डाला है, अपनापन, तक दे चुकी हैं। हमारी मा ऐसी पुत्र स्नेह विमूढ़ा है! अजी? उसने अपना कहने को कुछ रक्खा ही नहीं, सर्वस्व अर्पण करके नग्ना हो गई है। शून्य ही जिनका रूप, पूर्णता ही जिनका धर्म्म, प्रकाश ही जिनकी ज्योति है। वही हमारी मा—तुम्हारे ही लिये और किसी के लिये नहीं, केवल तुम्हारे ही लिये तुम्हारी प्रकृति रूप से अवस्थान करके तुम्हें जगत् भोग कराती है। फिर दैवी प्रकृति रूप से असुरों के साथ युद्ध कर रही है। एकवार देखने में हानि क्या?

पूर्व कहा है प्रकृति का दो प्रकार का परिणाम होता है एक बहिर्मुख वा अनुलोम, दूसरा आत्माभिमुख वा विलोम। एक तरफ जैसे असुर-शक्ति है, दूसरी तरफ वैसे ही देव-शक्ति है, अतएव दोनों पक्ष में अस्त्रादि तुल्य हैं। जब तक उस शक्ति अंश मे अर्थात अस्त्र सस्त्र पर ये "हमारे हैं" यह अभिमान था, तब तक देवता युद्ध में पराजित हुए थे। किन्तु अब उन्होंने समस्त शक्ति मातृ चरणों में अर्पण की है, अतएव मा के पास अपना कुछ न रहने पर भी अब उसने सर्व्वायुधविमण्डिता रण-रङ्गिनी-मूर्ति से आत्म प्रकाश किया है।

इसी तरह साधक के संस्कार के अनुसार मातृ-मूर्ति गठित होती है। मा की अपनी कोई विशिष्ट मूर्ति नहीं है। सन्तान उनको जिस मूर्ति से सजावे, जिस मूर्ति से दर्शन करने की इच्छा करे, स्नेह विह्वला मा उसी मूर्ति से प्रकटित होती है। इसी को कहते हैं—"साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पना" याद रखिये—यह कल्पना साधक की नहीं है ब्रह्म की है। 'ब्रह्मणः" इस पद में कर्त्तरिषष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। देखो सन्तान! देखो पुत्र देखो—तुम्हारे ही लिये मा आज निजशस्त्रास्त्रवर्षिणी, सर्वायुधमण्डिता महिष-मर्द्दिनी मूर्ति से प्रकट हुई है। यदि पुत्र हो,

यदि यथार्थ ही मा बोलकर समझते हो, तो तुम्हारा हृदय काँप उठेगा आँखों से आंसू बहने लगेंगे, अपनी अकृतज्ञता से धरती में मिल जाने की इच्छा होगी। फिर कहोगे मा! मा! हम चाहे चिरदिन असुरों से इस प्रकार विमथित होयें, अन्त काल नरक में पड़े—वह भी अच्छा, परन्तु तुम अरूपा, अमेया, नित्य-शान्तिमयी मा होकर हमारे लिये इस अशान्त असुर समर में अवतीर्ण मत हो। हमारे ही कारण तुमको इस क्षुद्रता परिच्छिन्नता का साज लेना होता है। अजी! तुम में तो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, रूप-विशिष्टता नहीं है। तुम शुद्ध, निर्लेप, निष्कल हो, तथापि तुम केवल हमारेही लिये भावमयी मूर्ति से प्रकटित होने को बाध्य हुई हो। मा! तुम्हारे हृदय में इतना स्नेह। ओ, मा!

अनायस्तानना देवी स्तूयमाना सुरर्षिभिः।
मुमोचासुर देहेषु शस्त्राण्यस्त्राणिचेश्वरी ॥ ४६ ॥

अनुवाद। अक्लिष्टमुखी, देवी, देवता और ऋषियों द्वारा स्तूयमाना होकर ईश्वरी अर्थात महती ऐश्वर्यशालिनी मूर्ति से, प्रकट होकर असुर देह में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र निक्षेप करने लगी।

व्याख्या मा हमारी अविक्लष्ट मुखी है। सदा असुरों के तीक्ष्ण बाणों से घायल होकर घोर संग्राम में असह्य क्लेश स्वीकार करके भी मा हमारा अनायस्तानना अक्लिष्ट मुखी है, मुख पर किसी तरह क्लेशका चिन्ह नहीं है—सुप्रशन्ना। होठोंकी लालमामें सदा मुसकान है। साधक। जिस दिन तुमने अपनी प्रकृति को मा? कह कर पुकारा है, समझा है, उसी दिन से मा महादेवी मूर्ति से प्रकाशित होकर, महा असुर मूर्ति के विरुद्ध समर का उद्यम करती है (यहां एक वार प्रथम खण्ड की महादेवी, महासुरी इत्यादि श्लोक की व्याख्या याद कीजिये)। इतने दिन में आपने मा को

पहचाना है, इसी से देखाते हो मा सदा प्रसन्न मुखा है, कारण कि "स्तूयमाना सुरर्षिभिः।" देवता और ऋषि मा की स्तुति मंगलगान करते हैं—मातृ महत्त्व सूचक गाथा का पाठ करते हैं, इसीलिये हमारा मा समर क्लेश में भी प्रसन्न वदन है। क्या देख नहीं पाते ? देखो, जब तुम्हारे अन्तर, बाहिर दुर्दमनीय आसुरिक वृत्तियों का अत्याचार प्रारम्भ होता है, तब ही तुम्हारी दैवी प्रकृति को क्षत विक्षत होना पड़ता है। फिर उसी समय तुम्हारे ही अन्तरस्थित देवभाव समूह तुम्हारे वागादि इन्द्रियों में विराजमान देवता वृन्द उच्च स्वर से मा ?मा ? कह कर पुकारने लगते हैं, स्तुति पाठ मातृ-महत्त्व-कीर्तन करते हैं, इस तरह महादेवी मूर्तिके अनुस्मरण से महासुरो द्वारा पीड़ित मातृ-मुर्ति में प्रफुल्लता प्रकट होने लगती है। तब हताशा और अवसन्नता दूर होकर, आशा और उत्साह से हृदय भर आता है। आसुरी प्रकृति का अत्याचार शान्त हो जाता है। ऐसी घटनायें प्रायः प्रतिदिन ही साधकों के हृदय में होती रहती हैं।

ऊँचे स्वर से पाठ करने का विषय पूर्व भी कहा गया है। पुनरुक्ति होने पर भी फिर कुछ कहे बिना रहा नहीं जाता, वेद, उपनिषद्, तन्त्र-पुराण आदि सब धर्मशास्त्रों में देखोगे कि स्तव-स्तुति ही प्रधान उपासना रूप से वर्णित हुए हैं। शास्त्र के जिन स्थानों में पूजा, होम, श्राद्ध, तर्पणादि का उल्लेख है, वह भी स्तव-स्तुतिका ही प्रकार भेद है—स्तव-स्तुति पूर्वक द्रव्यादि अर्पण मात्र है यह स्तुति वस्तु क्या है ? "देवानां स्वरूप कीर्तनं स्तुतिः। देवता का स्वरूप कीर्तन करने का नाम ही स्तुति है। यह स्वरूप कीर्तन कितनी शीघ्र फलदायक उपासना है, जिसको वाणी से कह कर पार नहीं पा सकते। एकसाथ ज्ञान-भक्ति और कर्म का तीव्र अनुशीलन केवल स्तुति पाठ से ही होता है। अन्य प्रकार की साधना का फल समय पर होता है, किन्तु इस वहिरङ्ग साधन

(स्तुति) का फल पाठ के समय ही प्राप्त होजाता है। गौराङ्ग देव ने यह स्तुति वस्तु मृदङ्ग करतालादि बाजों की सहायता से, सुर, तान योग से और भी मधुर और प्रसारित कर के, अनपढ़े स्थुलबुद्धि मनुष्यों को भी भगवन्मूखो गति का मार्ग सुलभ कर दिया। वस्तुतः उपनिषदादि उच्चतम शास्त्रों में भी स्तुति को ही साधना का सर्वप्रधान आधार रुप माना है। आर्य युग में ऋक मन्त्र से, सामगान से, यजुर्मन्त्र से परमेश्वर की उपासना होती थी। भगवद्गीता में अर्जुन ने विश्वरुप दर्शन से स्तुति की थीं। रावण, कुम्भकर्ण, कंस आदि द्वारा सताये हुए देवताओं ने क्षीरसागर तट पर विष्णु की स्तुति की थीं। चण्डी में भी असुरों से पीड़ित देवताओं के किये मातृस्तोत्र से दिक मण्डलमुखरित हो गया था। श्रीमद्भागवत में ऐसे अध्याय बहुत कम हैं कि जिनमें दो एक स्तोत्र का उल्लेख न हो। इस तरह ऋषि-युग से लेकर वर्तमान काल तक की साधना पर लक्ष्य करने से भलीभांति प्रतीति होती है कि देश काल, और पात्र के साथ ही साथ साधना की प्रणाली बहुधा बदल जाने पर भी स्तुति वस्तु प्रायः अपरिवर्तनीय है।

स्तुति दो प्रकार की होती है। एक आर्त की स्तुति और दूसरी कृतज्ञता की स्तुति। एक विपद में पड़ने पर और दूसरी अभीष्ट सिद्धि के बाद। इस दो प्रकार की स्तुति द्वारा प्रायः सब धर्मशास्त्रों का ही आधा भाग भरा हुआ है। स्तुति की अपुर्व शक्ति को मन्त्र चैतन्य कर लेने वाले साधक एक बार परीक्षा करने से समझ सकेंगे। (मन्त्र चैतन्य की व्याख्या प्रथम खण्ड में हो चुकी है) जबतक मन्त्र चैतन्ययुक्त न हो रस और भाव समन्वित न हो, तब तक स्तोत्रादि पाठ का फल अति सामान्य होता है। तब तक उसका प्रत्यक्ष फल अनुभव में नहीं आता। विक्षिप्त चित्त साधकों के पक्ष में अनर्थक ध्यान के स्वांग की अपेक्षा स्तोत्र पाठ बहुत

उत्तम साधना है, क्योंकि ध्यान किया नहीं आता, वह अपने आप आतो है, अप्रत्यक्ष पदार्थ का ध्यान होता ही नहीं। जब मा आती है जब वह प्रत्यक्षयोग्य होती है तब ही साधक तन्मय होकर मुग्धनेत्र से परम प्रेम में विह्वल हो जाते हैं, इसी का नाम ध्यान है। अनेक लोग स्तोत्रपाठ को बहिरङ्ग साधना समझकर त्याज्य समझते हैं। केवल जिनकी सदा ध्यानावस्था रहती है जिनका चित्त एकाग्र और निरोध भूमिका हो गया है, केवल वे ही यह बात कह सकते हैं। वर्तमान युग के महापुरुष आचार्यशङ्कर और महाप्रभु गौराङ्गदेव ने भी चाहे इच्छापूर्वक हो, चाहें लोक-हित के लिये हो, विक्षिप्त चित्त का ही आदर्श लिया था, नहीं तो अनेक शास्त्र ग्रन्थों को रचना, दिग्विजय, धर्म्मप्रचार, मठ-प्रतिष्ठा आदि कार्य न होते। ध्यान का स्वांग करने की अपेक्षा स्तोत्रपाठ शीघ्र फलदायक है। यह अनेक स्थानों पर परीक्षा करके भी देखा है। स्तोत्र पाठ जितना शीघ्र ध्यानावस्था में लाता है, ध्यान का स्वांग इतना शीघ्र नहीं लाता। वेदान्त शास्त्र में जिसको मनन कहते हैं, योग शास्त्र में जिसको धारणा कहते हैं, स्तोत्रपाठ उन्हीं के अन्तर्गत है। ध्यान का विषय विशेषरूपसे आगे कहने की इच्छा है।

स्तोत्र पाठ की दो प्रणाली हैं—(१) अकेले बैठकर (२) समभाव वाले मिलकर एक साथ। गौराङ्गदेव ने यह दूसरे प्रकार का अनुशीलन अधिक किय था। अकेले निर्जन स्थान में बैठकर चित्तवृत्ति को अधिक देर तक भगन्मुखी कर रख सकते हों- ऐसे साधक दुर्लभ हैं (जो यह समझते हैं कि निर्जन में जाने से ही साधना बहुत अच्छी होती है, वे यदि अपनी आप परीक्षा कर देखें तो देख सकेंगे कि निर्जन स्थान में अकेले बैठकर चित्तवृत्ति को भगवन्मुखी करने पर अन्तर्राज्य में बहुत कोलाहल उपस्थित होता है। घर के किवाड़ बन्द कर देने से ही दिल के कपाट बन्द

नहीं होते। वहां लगातार अनेक प्रकार की विषय चिन्तायें आकर भगवत् चिन्तन में व्याघात पैदा करती हैं। थोड़ा लक्ष्य करने पर देखोगे कि बाहर की निर्जनता हमें निर्जन वा अकेला नही कर सकती, बल्कि उसकी अपेक्षा समभाव वाले कुछ लोग सङ्घबद्ध होकर मन्त्र चैतन्य पूर्वक स्तोत्रादि पाठ करें तो चित्त क्षेत्र में निर्जनता का अनुभव पाया जाता है, और अन्ततः कुछ देर के लिये बाहर की चिन्ताओं से भी मुक्त हुआ जाता है। विरुद्ध भाव वाले लोगों के साथ उपासना करने से अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, इस कारण ऐसे लोगों के साथ से तो निर्जन स्थान में रहना ही श्रेयः है इसमें संशय नहीं, किन्तु प्रथमतः बिलकुल एकाकी न होकर समभाव वाले कुछ साधक एकत्र होकर उपासना करें तो यथार्थ निर्जनता का उपकार समझा जाता है। सङ्घबद्ध उपासना में जो सारे दोष और विघ्न हैं उनसे जिसको मन्त्र चैतन्य हो गया है उसे कुछ भी हानि नहीं पहुँच सकती। ऐसी सङ्घबद्ध उपासना के फल से, गुरु कृपा से थोड़े ही समय में बुद्धिसत्व थोड़ा बहुत निर्मल हो जाता है और साथ ही साथ प्रत्येक क्षेत्र में चैतन्य का सन्धान पाया जाता है। तब साधक साधना का लक्ष्य वा केन्द्र पाकर अकेला उपासना कर सकता है, अथवा तब साधना इतनी सहज और स्वाभाविक हो जाती है कि उसके व्यवहारिक दैनिक नित्यकर्म्म भी साधनामय होते हैं। अतएव उस अवस्था में अकेले और सङ्घबद्ध दोनों ही प्रायः तुल्य हो जाते हैं।

अस्तु सृष्टि के प्रारम्भ से देवता, ऋषि, महापुरुष एवं आचार्यगण निर्विचार जो करते आये हैं, उसमें किसी प्रकार तर्क वा संशय उठना ही अन्याय है और और यद्यपि बाहर से देखा जाय तो भगवान् की स्तुति पाठ किया जाता है, तथापि चक्षुष्मान व्यक्ति देख सकते हैं कि अन्तर्राज्य में साधक ही भगवत्मय हो जाता है।

मान लो कि तुम कहते हो-हे दयामय? हे शान्तिमय? हे मङ्गलमय? यदि ये शब्द यथार्थ भाव सहित अर्थबोध कर के, सत्य ज्ञान से कह सको तो तत्काल तुम स्वयं ही दया, शान्ति और मङ्गल प्राप्त करोगे और तुम्हारे चित्त में वे देवभाव तुरन्त ही प्रगट होने लगेंगे।

एक आदमी गंगाजल को देख कर कहता है "छिः? यह कितना गंदला जल है, क्या इसी में स्नान उचित है?" किन्तु दूसरा कहता है 'पतित-पावनि, पाप-हारिणि, सुखदायिनि गंगे मा हमारी?" यह कह कर आनन्दपूर्वक अवगाहन स्नान करने लगता है। अब विचार कर देखिये कि उस समय इन दोनों में किसको लाभ हुआ? एक कहता है कि अमुकजन बड़ा अहङ्कारी है, धरा को सकोरा जानता है"। दूसरा कहता है कि जोहो, बड़ा परोपकारी है, क्योंकि दूसरे को दुःखी देखकर सरल प्राण से उपकार करता है।" अब विचार कर देखिये कि इन दोनों में किसको अधिक लाभ हुआ? पूर्व कहा है कि तुम्हारा मन ही जगत् आकार से आकारित है। तुम जैसी भावना करोगे, वैसा ही फल पाओगे "यादृषीभावना यस्य सिद्धार्भवति तादृशी।" बड़ा सुन्दर और सत्य प्रवचन है। तुम परमेश्वर का महत्व कीर्तन करने से वस्तुतः तुम ही महत्वमय हो पड़ोगे। इससे अधिक श्रेष्ठ लाभ मनुष्य को क्या हो सकता है?

और एक दल है, वह कहता है कि भगवान् मन वाणी के अगोचर है तब उसकी स्तुति क्या करें! 'स्तुत्यानिर्वनीयताखिल गुरोर्दूरी कृतं यन्मया' प्रमाण में व्यासजी का यह बचन. कहते हैं कि अनिर्वचनीय वस्तु की स्तुति क्या! बात तो ठीक है, परन्तु बाबा! क्या तुमने वह अनिर्वचनीय वस्तु उपलब्ध की है! यदि की है, तब तो यह बात कह नहीं सकते, क्योंकि अनिर्वचनीय स्वरूप से व्युत्थित होकर, तुमभी उसे वचनीय करलो। और यदि उपलब्धि

नहीं किया है, तब तो तुम्हे इस वचनीय स्वरूप के सहारे से ही अनिर्वचनीय स्वरूप में जाना होगा, अतएव, दोनों पक्ष में ही तुम स्तोत्र पाठ स्वीकार करते हो। भगवान् ने स्वयं कहा है "कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।" भगवत्‌कथा की परस्पर आलोचना करके साधक तुष्टि और प्रीति पाते हैं। पहिले ऐसा ही होने दो। पहले वाक्य और मन से उसे पाओ, फिर पीछे वाक्य और मन के अतीत रुप से पाओगे। पहले नाम में रुचि होकर पीछे स्वरूप में प्रीति होगी। नहीं, नहीं, यह कभी होता है क्या? जब तक स्वरूप में रूचि न हो तब तक नाम में रूचि नहीं होती! हो ही नहीं सकती, इसी से सुना जाता है कि महाप्रभू ने रूप गोष्वामी को सिद्धि प्राप्ति की चरम अवस्था में "नाम में रुचि" होने का आशीर्वाद दिया था। दिन रात नाम जप, नाम कीर्तन आदि नाम में रुचि का यथार्थ लक्षण नहीं है। वह तो कुछ अभ्यास का फल मात्र है। रुचि जब नाम में होगी तब विषय में अरुचि प्रकट होने लगेगी। मुख से नाम जप करते करते यदि कभीं ऐसा दिन आवे कि विषय से अरुचि, मुख से कहने को नहीं—बल्कि दिल से हो जाय, तब समझो कि नाम में रुचि आई है। परमहंस देव कहते थे कि "ईश्वरीय ज्योतिदर्शन होने के बाद भगवत्कथा में रुचि होती है और काम काञ्चन से अरुचि होती है"। परन्तु वह दूसरी बात है:—

अस्तु, मा जो हमारी "अनायस्तानना" अक्लिष्टमुखी, सदा उत्फुल्ल, सदाहास्यमयी है, यह बात स्तव-स्तुति द्वारा ही विशेष भाव से अनुभव की जाती है, इसी कारण मन्त्र में कहा गया है "स्तूयमाना सुरर्षिभिः।" इस प्रकार मा हमारी प्रसन्न वदन से असुर देह पर अस्त्र शस्त्र निक्षेप करने लगी। "मुमोचासुरदेहेषु शस्त्राण्यस्त्राणिचेश्वरी"। मा हमारी ईश्वरी मूर्ति से प्रकटित होकर असुर शक्ति संहरण करने को उद्यत हुई। स्तूयमाना होने से

हो मा की ईश्वरी मूर्ति - सर्वभावाधिष्ठात्री मूर्ति प्रकाशित होती है। खुलासा कहते हैं—साधक ? अपनी ही आत्माप्रकृति को, अन्तरस्थित मातृ-मूर्ति को स्तव-स्तुति द्वारा, निरन्तर ईश्वरत्व की महिमा द्वारा मण्डित किये रक्खो, कभी दीन मलिन अवसन्न करके मत रखना "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्" भगवद्गीता के इस महावाक्य की कार्यकरी अवस्था की यदि उपलब्धि करना चाहो तो सदा मा को ईश्वरीमूर्ति से देखो। यह एक दिन में नहीं होता, बार बार ईश्वर की महिमा युक्त वाक्यों के उच्चारण, अर्थात् स्तव-स्तुति द्वारा ही सहजसाध्य होता है। मा की जितना ईश्वरी कहकर विश्वास कर सकोगे, उतना ही सहज में असुर शक्ति विलय होती जायेगी, और साथ ही साथ तुम्हारी इच्छाओं के अभिघातरूप से अनैश्वर्य वा जीवत्व दूर होता जायेगा।

ईश्वरत्व क्या है। किसी इच्छा का अभिघात न होना अर्थात पूरा होना ही ऐश्वर्य वा ईश्वरत्व है, और इच्छा की अपुर्णता ही अनैश्वर्य वा जीवत्व है। ईश्वरी मूर्ति के दर्शन बिना जीवत्व के हाथ से परित्राण नहीं पाया जाता। इस कारण प्रत्येक जीव को ही सदा अपनी प्रकृति का ईश्वरी मूर्ति से अनुभव करने की चेष्टा करना उचित है! स्तव-स्तुति ही उसका सहज और निश्चिय उपाय है। और "मैं अच्छा होऊं, सुख से रहूं, असत् प्रवृत्तियां दूर करूँ, संसार में आसक्त न होऊं, भगवान् में विश्वास करूं, भक्ति करूं" इत्यादि इछायें हमारे मन में अनेक बार जागती हैं, परन्तु वे पूर्ण क्यों नहीं होती ? इच्छाओं का अभिघात क्यों होता है। इसका कारण यह है कि हम मा को ईश्वरी रूप से नहीं पुकारते, पुकारने पर भी विश्वास नहीं करते कि मा ईश्वरी है। उसमें किसी इच्छा का अभिघात नहीं है। हमारे प्राण इस बात को नहीं मानना चाहते। इसी से अनैश्वर्य दूर नहीं होता।

सोऽपिक्रुद्धो धूतशटो देव्या वाहन केशरी।
चचाराऽसुरसैन्येषु बनेष्विव हुताशनः ॥ ५० ॥

अनुवाज। देवी का वाहन वह केशरी भी क्रुद्ध होकर केशर कम्पित करके अरण्यमध्ये हुताशन की भाँति, असुर सेना में विचरने लगा।

व्याख्या। मा इश्वरी मूर्ति से समरोद्योता है, अतएव उसका वाहन असुर भाव को हनन करना चाहता है। पूर्व कहा गया है कि जीव जब सिंह भावापन्न होता है, अर्थात् अपने जींव भाव के ऊपर हिंसा भाव पोषण करता है, तब ही मा असुर-मर्दिनी मुर्ति से उस पर सवार होती है। अथवा मा जब असुर संहारिणी मुर्ति से आत्मप्रकाश करती है तब जीव फिर सिंह धर्मी हुए बिना रह नहीं सकता। आज मा स्वयं समरोद्योता इसी से सन्तान भी सिंह धर्म्मी – असुरों का दलन करने को बिलकुल तैयार है।

साधक। जब देखों कि कोइ बलपूर्वक जगत् के सब कार्यों से खींच कर कभी कभी तुम्हें साधना में लगाती है,मानो किसी अज्ञात शक्ति द्वारा परिचालित होकर, हटात् साधनोपयोगि दो चार कर्म्म कर डालते हो, तब ही समझलो कि मा का आकर्षण आया है, मा रण क्षेत्र में अवतीर्ण हुई है। उस समय तुम भी मा की इच्छा के अनुकूल मे यथाशक्ति पुरुषार्थ का प्रयोग करो, अपने जीव भाव को समूल उच्छेद करने की दृढ़ इच्छा करोगे, तब ही तुम में सिंह-धर्म्म आविर्भूत होगा। मा तुम्हारे अङ्ग पर श्री चरण स्थापन कर तुमको धन्य कर देगी।

जो यह कहते हैं कि "मा जिस दिन आवेगी, उसी दिन हम सिंह-धर्मी होंगे, मा जिस दिन साधना करावेगी, उसी दिन हम साधना करेंगे" समझलो कि अभी तक उनने दुर्बलता के हातसे परित्राण नही पाया। ऐसा भाव बिलकुल निन्दित है। जगत् के सब कार्य करते समय तो "मैं कर्ता हूँ" "मेरा अध्यवसाय है" ऐसा भाव रहता है, और केवल मा का स्मरण करते समय ही मा पर निर्भरता। यह आत्मवञ्चना है। अत्यन्त दुर्बल चित्त मनुष्य हा

ऐसे सान्त्वना वाक्यों से मन को परिचालित करते, रहते हैं। याद रखिये कि दुर्बल को आत्म-प्राप्ति बिलकुल असम्भव है। "नायमात्मा बलहीनेनलभ्यः" जगत् के सब कार्यों के प्रारम्भ में ही ईश्वर कर्तृत्व दर्शन करने होता हैं, परन्तु साधना रूप कार्य्य के अन्त में, ईश्वर कर्तृत्वदर्शन करने होता हैं। जगत् के सब कार्यों में कुछ न कुछ निष्फलता है, परन्तु साधन कार्य्य की एक गम्भीर निःश्वास भी पूर्ण सफलतामय है। "मैं साधन करूँगा, एसा उत्तम सङ्कल्प भी निष्फल नहीं होता। इसी से कहते हैं जीव। तुम सिंह-धर्मी बनो, मा तुम पर अवश्य ही अधिष्ठित होंगी। तुम "वनेषु हुताशन इव" असुर सेना में विचरते रहो।

इस मन्त्रस्य दृष्टान्त बड़ा सुन्दर है। बन के सूखे काष्ठ परस्पर रगड़नेसे अग्नि उत्पन्न होती है और क्रम से सारे बन को भस्म कर देती है। बन ही बन को भस्म करता है। तुम भी आपही अपने प्रति हिंसा करते रहो तुम्हारा यह जीव भाव यह असुर भाव यह देहात्म-बुद्धिरूप अहङ्कार, इनको प्रति हिंसा परायण आप ही हो यही तुम्हारा कार्य है। यहीं तुम्हारा स्वधर्म्म है। गीतामें जिसको स्वधर्म्म कहा गया है, देवी महात्म्य में उसीको देवी के वाहन सिंह रूप कहा गया है। यह तत्त्व साधकों को अत्यन्त उपादेय है।

निःश्वासान् मुमुचे यांश्च युध्यमाना रणेऽम्बिका।
त एव सद्यः सम्भूता गणाः शतसहस्रशः ॥ ५१ ॥

अनुवाद ! अम्बिका ने युद्ध करते करते जो सब निःश्वास परित्याग की थी वे निःश्वास ही तुरन्त सत शहस्र गण (असुरों के नाश करने वाले गण नामक सैन्य दल) रूप से उत्पन्न हुए थे।

व्याख्या। मा स्वयं रणक्षेत्र में अवतीर्ण है। यह आत्मसमर्पण करने वाले साधक को ही उपलब्धि योग्य है। पूर्व भी अनेक वार यह बात कह चुके हैं। मातृ-निःश्वास उस आत्म समर्पण का

चरम लक्षण है। साधक जब प्रत्येक कर्म्म में मातृप्रेरणा मात्र देखने लगते हैं तब धीरे धीरे यह अम्बिका की निःश्वास रहस्य भेद कर सकते हैं। निःश्वास पर्य्यन्त हमारे नहीं हैं, मा के हैं। मा हमारे हृदय में प्राणमयी मूर्ति से विराजता है, उसी का बाहरी लक्षण श्वास प्रश्वास रूप प्राणन क्रिया है। निश्वास समझ कर सामान्य वायु प्रवाह समझ कर हम जिसकी उपेक्षा करते हैं, ये वही मातृ-निःश्वास है ? अजी मा को अन्वेषण करने के लिये कहां भागते फिरते हो ? विचार देखो, तुम्हारी नाक से जो प्राणन क्रिया हो रही है, वह मा की सत्ता हीं तो है, वह मा है, उसे पकड़ो तो सही। उसकी गति पर लक्ष्य कर मा। मा। कह कर पुकारो, मा का सन्धान पाओगे मा पकड़ाई देगी। बिना रोकेवायु कुम्भकमें स्थिर हो जायगा, चित्त की चञ्चलता दूर हो जायगी, सच्चो स्थिरता और आनन्द का आस्वाद पाकर जीवन धन्य हो जायगा। परन्तु यह दूसरीबात है।

साधारणतः निःश्वास हीं चित्तविक्षेप का बाहिरी लक्षण है, चित्तविक्षिप्त है, सो श्वासकी गति लक्ष करने ही से समझ मे आजाता है इसी से बहुत से योगी वहिः प्राणायाम की सहायता से विक्षेप दूर करने की चेष्टा करते हैं। पूरक, रेचक और कुम्भक का अभ्यास करके स्वास को गति संयत करते हैं। चित्त को स्थिर करने के ये सब अति स्थूल उपाय है। इनके द्वारा चित स्थिर हो सकता है किन्तु आत्मलाभ नहीं होता। कारण कि बहुत दिन तक ऐसे अभ्यास के फल से चित्त का प्रशान्त भाव केवल योगियों को ही लक्ष्य होता है। यद्यपि प्रशान्त चित्तता आत्मलाभ का बाहिरी लक्षण है—तथापि याद रखिये प्रशान्त चित होने से ही आत्मलाभ नहीं होता। जो आत्मा को वरण करना चाहते हैं। केवल वे हीं उसे पाते हैं। इसी से श्रुति में कहा है – "यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः।" जो जिसे चाहता है सो उसे हीं पाता है। "येयया

मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।,, तुम चित्त स्थैर्य्य चाहते हो— वही पाओगे। मा कल्पतरु है, मा को पा लेने से, चित्त अपने आप शान्त हो जाता है, यह न समझ कर, कौशल की सहायता से, श्वास रोकने से न कभी अज्ञान दूर होता है और न अमृत का पता मिलता है, बल्कि जो बाल्यकाल से ब्रह्मचर्य से अभ्यस्थ नहीं है, ऐसे गृहस्थों लोगोंके पक्ष में' उक्तरूप हठ प्राणायाम करनेसे प्रायः यक्ष्मा आदि दुरारोग्य रोग होने का भय रहता है, किसी किसी को ऐसा देखा भी गया है

अस्तु। निःश्वासों को अम्बिका के मा के निःश्वास रुप समझ सकने पर ही वे गणसैन्य रुप में असुर निधन के उद्देश्य से मा की सहायता करने को खड़े होते हैं। निःश्वास मा के हैं, यह समझने का उपाय क्या है! जो निःश्वास मा के होंगे उनमें कुछ न कुछ मातृ-चिन्ह अवश्य ही रहेंगे। वह चिन्ह-मातृ नाम, प्रणवादि मन्त्र। श्वास प्रश्वास में जप जिसको अभ्यस्थ हो गया है, उनका वह जप ही आसुरीक वृत्तियों के दमन के लिये विशेष सहायक है। जब देख सकोगे कि तुम्हारे निःश्वास मात्र, नाम सहित आते हैं, तब ही समझ में आवेगा कि अम्बिका के निःश्वास किस तरह गणसैन्य होकर असुरों को निधन करते हैं! अगले मंत्र में यह और भी स्पष्ट किया जायगा।

और एक बात है— निःश्वास को मातृ निःश्वास रूपसे उपलब्धि करना ही यथार्थ आत्म सर्म्पण है। हमारा कहने को अब कुछ नहीं है, श्वास भी तो मा तुम्हारे ही हैं, अजी हमारा 'मैं' भी तो तुम ही हो, इसमें मैं रूप से तुम ही तो नित्य विराजमान हो, मैं-रुपी तुम्हारे ही निःश्वास नासिका द्वारा प्रवाहित होते हैं। हे हमारे मै। हे हमारी मैं। ओः क्या आनन्द है। कैसा सत्य है। कैसा अमृत हैं। अजी अमृत के पुत्रो। एक बार यह सत्य उपलब्धि करो। अपने पैर के नख से केशाग्र तक कैसे सुखमय; अमृतमय,

मधुमय स्पर्श से सञ्जीवित पुलकित हो उठेगा। उस आनन्द रखने को स्थान नहीं है। इतना महान इतना घन इतना निविड़। एकबार अनुभव कर देखो तो—तुम्हारा मैं ही मा है, तुम्हारे निःश्वास अपने नहीं हैं, तुम्हारे ही अन्तरस्थ उनके हैं, देखोगे मैत्य न जाने कहां भाग गई। जिस मैत्य को लय करने के लिये, कितने जन्मों से प्राणों की बाजी लगा कर कठोर तपस्या करते हैं उस मैत्य का कितना सहज में लय हो गया। जो गूढ़ रहस्य मा ने आज अकपट चक्षु के आंसुओं के साथ बड़े आदर की सन्तानों के सामने रक्खा है—वह कहीं अनादृत उपेक्षित और कहानियों की तरह हाट बाट में न बिकता फिरे। देखना, कोई मा के प्राणों मे व्यथा मत देना।

युयुधुस्ते परशुभिर्भिन्दिपालासिपट्टिशैः।
नाशयन्तोऽसुरगणान् देवीशक्त्युपबृंहिताः ॥५२॥

अनुवाद वह (गण नामक सैन्य दल) देवी की शक्ति से वर्द्धित पराक्रमी होकर, परशु, भिन्दिपाल, असि और पट्टिश द्वारा असुरों का विनाश करते हुए युद्ध करने लगे।

व्याख्यात—जब तक निःश्वासों में अपने होने का अभिमान रहता है तब तक वे निर्वीर्य रहते हैं बल्कि पल-पल में मृत्यु के कराल ग्रास में पहुंचाने की चेष्टा करते हैं और जब यह प्रतीति हो जाती है कि ये निःश्वास मा के हैं, तब वे "देवी शक्त्युपबृंहिताः" मातृ-शक्ति से शक्तिमान् होकर अमितवीर्य से असुरों की सेना का नाश करके अमरत्व की सन्धान में दौड़ते हैं। यह केवल भाषा की झंकार नहीं है—बल्कि निःश्वासों को मातृ निःश्वास समझने से, आसुरी वृत्तियों का दमन और मृत्युभय तिरोहित हो जाता है। यह अनेक बार परीक्षित और ध्रुव सत्य है। अस्तु, मा के निःश्वास हैं उसे समझने का उपाय पूर्व ही कहा हुआ—जप है। मृत जप

नहीं, चैतन्यमय जप चैतन्य युक्त मन्त्र जप। यह जप अपने आप होता है, करना नहीं होता है। जैसा श्वास प्रश्वास लेने में कुछ चेष्टा नहीं करनी होती, यह भी उसी तरह बिना चेष्टा के सिद्ध होता है। परन्तु एक दिन में नहीं हो जाता, प्रथम कुछ दिन थोड़े यत्न सहित अभ्यास करने ही से जप स्वाभाविक हो जाता है। आत्म समर्पण और मन्त्र चैतन्य दोनों की सार्थकता, इस मातृ निःश्वास के उपलब्धि से ही पहले-पहल परिलक्षित होती है, याद रखिये कि सब तरह की साधना का यही मेरुदण्ड है। ये दोनों मूलधन लेकर अवतीर्ण होने से साधना शीघ्र सुफल देती है।

सन्यासीयों भी आत्म-समर्पण साधना में सिद्ध होने के लिये अजपा अर्पण रूप एक अनुष्ठान करते हैं। उसका सार यह है कि हम दिन रात में २१६०० अजपा अर्थात् "हंस" मन्त्र जप रूप श्वास प्रश्वास लेते हैं। यही हमारी मैंत्य है। वास्तव में जीव भाव की मैंत्व को कुछ सूक्ष्म दृष्टि से देखने में कुछ श्वास-प्रश्वास की समष्टि मात्र जान पड़ती है। उस समष्टि संख्या को कुछ अंशों में विभक्त कर गुरु, गणेश, शिव, विष्णू आदि के उद्देश्य से अर्पण करने होता हैं। इस तरह समस्त अर्पण करने पर फिर कुछ शेष न रहने से मैं कहने को भी फिर कुछ न रहा। अन्य में केवल एकमात्र अद्वय ब्रह्मसत्ता ही रह गई। यह अनुष्ठान अनेक स्थलों में मन्त्र उच्चारण मात्र से समाप्त हो जाता है। केवल इस तरह कुछ मन्त्र पाठ द्वारा कितने दिनों में मैंत्व लय होती है, हम कह नहीं सकते। परन्तु इस तरह मातृ-निःश्वास के अपलब्धि से थोड़े ही समय में मैंत्व लय हो जाती है। इसमे कोई संशय नहीं।

मैंत्व लय शब्द से कोई यह न समझिये कि "मैं न रहुंगा"। याद कीजिये, प्रथम खण्ड में लालटेन के दृष्टान्त में कहा गया है कि—बहुत मैं वास्तविक नहीं हैं। एक मैं ही मन, बुद्धि, इन्द्रियादि के भितर होकर प्रकाशित होने से वहु मैं की तरह प्रतिभात हो रही

है। उस अज्ञान कल्पित मैत्व को विलय कर सकने से ही मै का यथार्थ स्वरूप पकड़ने आता है जो यथार्थ मैं, जो एक मैं है, वही वह आत्मा, मा हमारी नित्य प्रकाशित हो रही है, यह उपलब्धि योग्य होती है।

भगवद् गींता में कहे हुए द्रव्ययज्ञादि भी इसी आत्म-समर्पण के क्रम मात्र है। जब जीव का थोड़ा थोड़ा करके भगवत् सत्ता में विश्वास आता है, तब से द्रव्ययज्ञ अर्थात्—भगवत् उद्देश्य से द्रव्यादि अर्पण आरम्भ होता है, मैं—को अर्पण का यही पूर्व लक्षण है। कुछ दिन ऐसा करने के बाद जीव फिर केवल द्रव्य अर्पण करने से तृप्त नहीं होता, थोड़ा-थोड़ा साधन भजन भी करने लगता है, उसका नाम तपोयज्ञ है। इसका उद्देश्य मैं को साफ सुथरा करना है। जब वह देखता है कि मैं बड़ा मलिन और विषयासक्त हूँ; इस अपवित्र मैं को, उस परम पवित्र के चरणों में अर्पण नहीं किया जा सकता; तब ही तपस्या द्वारा मैं को पवित्र करने की कोशिश करता है। कुछ पवित्र हो जाने पर योगयज्ञ का अधिकार होता है। तब भगवान के साथ योग रख कर सब कर्म्म ही यज्ञ रूप से अनुष्ठान कहने लगता है। इस अवस्था मे भी मैं पृथक रह जाता है। कुछ दिन भगवान के साथ योग वा मिलन संघटित होने पर, अनुराग, आशक्ति वा भक्ति का उदय होता है, वह भक्ति जब पराकाष्ठा को पहुंचती अर्थात् प्रेम में परिणत हो जाती है, तब ही स्वाध्याय, ज्ञानयज्ञ निष्पन्न होता है। अर्थात् स्व-रूप का अध्याय वा उपलब्धि होता हैं। इस तरह आत्म साक्षात्कार रूप महाज्ञान अधिकार में आता है। प्रेम में आत्म भोला होने का नाम ही यथार्थ आत्मदान है। इस तरह के आत्मदान का नाम ही मैत्व का विलय है। यही 'सर्वधर्म्मान् परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज'' मन्त्र की चरम सार्थकता है।

इससे साधक यह न समझलें कि इस तरह आत्मादान कर

सकने से फिर कभी जीव भाव वाली मैंस्वका स्फुरण नहीं होगा। भगवान तुम्हारे मैं को फिर तुम्ही को लौटा देंगे। वे कभी कभी तुम्हें आत्म विभोर करके अपने हृदय में मिला लेंगे, और फिर तुम्हारा मैं तुम्हारे ही पास लौट आयेगा। उस समय वह मैं बड़ा सुन्दर बड़ा पवित्र होगा, अभिमान और आसक्ति की बून्द भी न होगी। उस समय वह मैं सत्य की सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित होगा। वह चाहे शास्त्र विहित कर्म्म करे अथवा नैष्कर्म्य, में अवस्थान करे, हर हालत में वह भगवत् शक्ति विकाश के यन्त्र रूप से परिचलित होने लगता है। यही आत्मसमर्पण का चरम लक्षण है।

अस्तु, मातृ शक्ति से शक्तिमान् गण सैन्य अर्थात प्रणवादि मन्त्रमय निःश्वास भिन्दिपाल आदि अस्त्रों द्वारा असुरों का बल क्षय करने लगे। भिन्दिपाल आदि अस्त्रों की व्याख्या पूर्व श्लोक में कर चुके हैं। यद्यपि वह अर्थ असुर पक्ष में ही प्रयोग करने योग्य है तथापि उससे आगे ४८ सवें "निजशस्त्रास्त्र वर्षिणी" इत्यादि मन्त्र में मातृपक्ष में भी उन अस्त्रों के प्रयोग का रहस्य वर्णित हुआ है। साधारण निःश्वास जो चित्त विक्षेपका चिन्ह, अर्थात् असुरभाव के ही परि पोषक हैं, यह पूर्व मन्त्र मे कहा गया है; किन्तु जब ये मातृ नाम मय निःश्वास होकर अर्थात चैतन्ययुक्त मन्त्र जपमय होकर मातृ-निःश्वास रूप से उपलब्धि होने लगते हैं तब वे ही आसुरिक भाव के विनाशक होते हैं। यही गणसैन्यवृन्द का असुर नाश है।

साधक ! कभी परीक्षा कर देखें—आपका चित्त जब अनेक प्रकार की विषय चिन्ता से विव्रत होता हैं, एक के बाद दूसरे आसुरी भाव आकर उपद्रव करते हों, तब अपने श्वास पर लक्ष्य कीजिये। श्वास-श्वास पर जप चलता रहे और साथ ही यह भी वोध करीये—कि तुम्हारे अन्तर स्थित मा के निःश्वास ही तुम्हारे नासापुट से आते जाते हैं। फिर देखोगे कि थोड़ी ही देर में

आसुरीभाव प्रशमित होकर चित्त प्रशान्त हो गया है। इन क्रियाओं का फल तुरन्त समझ में आ जायगा।

अवादयन्त पटहान् गणाः शंखास्तथापरे ।
मृदंगश्चतथैवान्ये तस्मिन युद्धमहोत्सवे ॥ ५३ ॥

अनुवाद। उस युद्ध महोत्सव में गण सैन्यों में कोई कोई पटह (ढोल) कोई शंख, कोई मृदङ्ग ध्वनि करने लगे।

व्याख्या। इस मन्त्र में भी एक प्रकार की साधना का उपदेश है, श्वास की गति द्वारा कर्ण वृति रोक कर, अनाहत चक्रमें जाकर कुछ देर अवस्थान कर सकने से ढोल, शंख, मृदङ्गादि की ध्वनि सुनाई पड़ती है, इसके सिवाय झींगुर, मेंढ़क, बादल, वज्र और घण्टा आदि की ध्वनि भी सुनी जाती है। मन्त्र में केवल प्रधान तीन ध्वनि कही गई है; शेष उन्हीं के अन्तर्गत हैं। सब साधकों को एक ही प्रकार की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। प्रकृति के विचित्रता के कारण ध्वनि श्रवन में भी विचित्रता रहती है। परन्तु ऊपर लिखी ध्वनि अधिक साधकों को सुनाई पड़ती है।

इस तरह अनाहत में उठने वाले निर्दिष्ट नाद के साथ जब इष्ट मन्त्र मिल जाय, तब ही साधक जप सम्बन्ध में निश्चिन्त हो सकते हैं। यही तान्त्रिक मन्त्र-चैतन्य है। इस अवस्था में फिर चेष्टा करके जप नहीं करना होता, स्वाभाविक शक्ति वश ही जप होता रहता है यह नाद जब प्रकाश पाता है, तब एक अनिर्वचनीय आनन्द लाभ होता है, साधक को उन्माद की तरह आगे ले चलता है। सिवाय वंशी और मृदङ्ग ध्वनि के और कुछ भी नहीं जान पड़ता है, वह ध्वनि ऐसी आकर्षनमय है मानों प्राणों को खींचे लिये जा रहो है। यही श्रीकृष्ण की मुरली ध्वनि है। जिसके आकर्षण से गोपिकायें कुल छोड़ कर अकुल में वहीं जाती थीं, सचमुच यह ध्वनि कुलनाशक है। मनुष्य को पागल सा कर डालती है। वंशी, ढोल, शंख मृदङ्ग इनमे से किसी भी ध्वनि

प्रकृति गत हो जाने से साधक एक अभूतपूर्व आनन्द भोग करते रहते हैं। इस नाद के साथ प्रणवादि मन्त्र जोड़ लेने से चित्त अपने आप प्रशान्त हो जाता है; वैषियक चञ्चलता नहीं रहती, अतएव आसुरी अत्याचार भी नहीं रहते।

परन्तु एक बात और बोलते हैं कि उस ध्वनि शुनने के लिये अत्यन्त चेष्टा कोई न करे, वह सत्य के मिलने में विघ्न है। नाद सुन सकने ही से सत्य लाभ नहीं हो जाता। सत्य लाभ के मार्ग पर आगे चलने से ये सब अपने आप ही आ जाते हैं। आप मातृ आह्वान सुनने के लिये कातर प्राण से उतकर्ण हो कर अनाहत केन्द्र पर मनयोग करो तो, देखोगे कि मा का आकर्षणमय कर्णामृत-रसायन आह्वान आ रहा है। और आप भी उसके साथ ही 'मा आता हुं आता हूं मा।' कहते हुए उत्तर देते रहो। हर समय याद रक्खो कि—मातृ लाभ हमारा लक्ष्य है। मार्ग में जो आता जाय वह सब देखो सुनो, परन्तु किसी में आसक्त मत हो, ध्वनि तो साधारण सी बात है, अनेक प्रकार की योग विभूतियों में भी मोहित मत हो।

अस्तु, इस मन्त्र में युद्ध को महोत्सव कहा गया है, यथार्थ ही जिस युद्ध में मा स्वयं अवतीर्ण है, जो युद्ध मातृ निःश्वास से उत्पन्न गण सैन्यों की मृदङ्गादि ध्वनि द्वारा मुखरित है, उसे उत्सव के सिवाय व्यसन कैसे कहा जाये? जिस युद्ध में अवतीर्ण होने से ही हमारे मुक्तिमन्दिर की हिरणमय विजय पताका दीखने लगती है, जिस युद्ध से हमारी आसुरी शक्तियाँ प्रलय की ओर चल देती हैं, वह युद्ध तो महोत्सव हैं ही; व्यसन कैसे कहा जायगा। साधक। एक बार इस युद्ध में अवतीर्ण होने में हानि ही क्या हैं?

ततो देवी त्रिशूलेन गदया शक्ति वृष्टिभिः।
खड्गादिभिश्च शतशो निजघान महासुरान्॥ ५४॥

अनुवाद। अनन्तर देवी त्रिशूल गदा शक्ति और खड्ग आदि

के प्रहार से सैकड़ों महासुर निहत करने लगी।

व्याख्या। सिंह और गणसैन्यों की युद्ध प्रणाली का वर्णन हो चुका, अब मातृ युद्ध का वर्णन होता है, प्रथम ही त्रिशूल द्वारा असुरों के निधन का उल्लेख है। "त्रिशूल क्या? त्रिपुटी ज्ञान! ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इस त्रिपुटी ही त्रिशूल है। यह विज्ञानमय महेश्वर का अस्त्र हैं। इससे पूर्व स्वयं महेश्वर ने अपने शूल से शूल निकाल कर देवी को अर्पण किया था। त्रिपुटी की सहायता से किस तरह असुर निधन होते हैं? रूप रसादि विषय, अथवा कामादि बृत्तियां जब चित्त क्षेत्र को चञ्चल कर डालती हैं, तब उसको लक्ष्य करके त्रिपुटी प्रयोग करने होता है, विषय अथवा वृत्तियां त्रिपुटी के सिवाय कुछ भी नहीं हैं, वार-बार विचार की सहायता से यह दृढ़ धारणा करनी होती है।

खुलासा बोलते है, कि मानलो, आप किसी कमनीय कान्ति पर मोहित हैं, उस कान्ति को बड़े मनोयोग से देखते हैं। यह कान्ति हमारे ही ज्ञान का विषय वा ज्ञेय है। एव "मै जानता हू इस मैं अश का नाम ज्ञाता है। और "जानता हू" इस अंश ना नाम ज्ञान है। ये एक ही ज्ञानसमुद्र की तीन तरगें हैं। प्रथम खण्ड में "ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषय गोचरे" इत्यादि श्लोक में जो सर्व्वसाधारण प्राणियों के अखण्ड ज्ञान समुद्र का विषय व्याख्यात हुआ है, उसे अव वुद्धि में धारणा करो, एक अखण्ड ज्ञान समुद्र की ही तीन लहरें हमको ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप से प्रति-भात होती हैं। रूप रसादि विषय या काम क्रोधादि वृत्तियां, यह सभी इस त्रिपुटि के सिवाय और कुछ नहीं है। इस तरह के बार बार विचार को ही त्रिशूलाघात अर्थात त्रिपुटि प्रयोग कहते हैं। जिस शक्ति के प्रभाव से ज्ञान समुद्र ज्ञातृ ज्ञेयादि रूप से लहराता है वह शक्ति ही देवी—मा हमारी। इस मा की ओर लक्ष्य रक्खो; देखते रहो, मा एक तरफ तो विषयाकार से असुर रूप से आत्म

प्रकाश करती है, फिर दूसरी तरफ स्वयं ही त्रिशूलाघात से अर्थात त्रिपुटि प्रयोग रूप विचार की सहायता से उनको निहत कर रही है। साधक। तुम इस तरह त्रिपुटि विचार कर रहे हो बोलकर उसमें अपना कर्तृत्व आरोप न करना। कारण कि उस विचार शक्ति रूप में भी मा ही आत्म प्रकाश करती है। यह त्रिशूल रहस्य भली भांति समझ कर, कुछ दिन दृढ़ मनोयोग से अनुशीलन द्वारा स्वाभाविक हो जाने पर साधन समर में अवश्य विजय पाओगे।

त्रिशूल के बाद है गदा। गद् धातु का अर्थ है, व्यक्त वाक्य। त्रिशूलाघात – त्रिपुटि प्रयोग से जिस प्रकार असुर निधन होते हैं गदाघात से प्रकट वाक्य प्रयोग अर्थात् उच्च स्वर से स्तोत्रादि पाठ से भी असुर बल क्षीण हो जाता है। आसुरी वृत्तियाँ भी महती शक्ति की विशेष-विशेष फुरना-मात्र है, बार बार यह धारणा करने का नाम है शक्ति वृष्टि। जब तक विषय अथवा वृत्ति प्रवाह-मात्र प्रतीत होती है, तब तक वे अमित वीर्य्य असुर हैं और जब उनको मातृ-शक्ति-रूप समझा जा सकता है, तब ही उस शक्ति-वृष्टि के प्रभाव से असुरों का बल क्षीन होने लगता है। विषयों को सदा शक्ति-मात्र रूप से उपलब्धि करने का नाम ही शक्ति-वृष्टि है। अन्त में खड्ग है। यह द्विधाकारक अस्त्र है। ज्ञान ही मातृहस्थ स्थित खड्ग। एकमात्र आत्मा मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है, इस सत्य ज्ञान पर प्रतिष्ठित होने से ही सब अनात्मभाव विनष्ट हो जाते हैं। इस तरह विज्ञान खड्ग के आघात से समस्त वैषयिक प्रकाश — आसुरी भाव दूर हो जाते हैं। साधक! यदि तुम सत्तप्रतिष्ठ हुए हो, यदि सत्यप्रतिष्ठा तुम्हारी प्रकृतिगत हो गई है, तो विषयों के सन्मुख होते ही, तुम्हारा ज्ञान उसे सत्य रूप से — मा रूप से ग्रहण करेगा, यही असुरों के ऊपर ज्ञान खड्ग का आघात है। इसी तरह से सैकड़ों असुर निहत होते हैं।

पातयामास चैवान्यान् घण्टास्वनविमोहितान।
असुरान भुवि पाशेन बद्ध्वा चान्यानकर्षयत ॥५५॥

अनुवाद। कुछ असुरों को मा ने घण्टा ध्वनि से विमुग्ध कर भूतल पर निपतित कर दिया और कुछ को पाशबद्ध करके धरती पर आकर्षण करने लगी।

व्याख्या। घण्टा ध्वनि—अनाहत नाद। गणसैन्य के युद्ध में पटह, मृदङ्ग आदि ध्वनि की व्याख्या की जा चुकी है। घण्टा-ध्वनि भी उन्हीं में एक है। पूर्व देवराज इन्द्र ने ऐरावत के घण्टे से यह घण्टा लाकर देवी को अर्पण किया था। विक्षेप दूर करने और एकाग्रता साधन के लिये यह घण्टा ध्वनि अति सुगम उपाय है। दूर से कोई भी बड़ा घण्टा ध्वनित होने से टम् म् म् ऐसा शब्द सुनाई पड़ता है। इस तरह दीर्घ प्लुत स्वर से म् कार की ध्वनि की भाँति एक ध्वनि अनाहत से उठती है, वह इतनी मधुर और चित्ताकर्षक होती है कि फिर बाह्य विषयों से चित्त विक्षिप्त होना नहीं चाहता। इस म् म् म् ध्वनि के साथ प्रणवादि मन्त्र जोड़ लेने से ही स्वाभाविक जप होता है। ऐसे जप में चित अत्यन्त मुग्ध रहता है, अतएव आसुरिक भावों को आत्म बल प्रकाश का संयोग नहीं रहता।

इनके सिवाय मा ने और एक अस्त्र प्रयोग किया, उसका नाम हैं पाश। मा ने और कुछ असुरों को स्नेह-पाश से बाँध कर आकर्षण किया—अपने पास खींच लिया। सब असुरों को बध कर डालने से मा की आनन्दलीला नहीं चलती; इसी से कुछ को लीला के सहाय स्वरुप मान कर अपने पक्ष में मिला लिया। सुनिये, राजोगुण की क्रियाशीलता को बिलकुल निरुद्ध कर देने से, फिर सत्त्वगुण का प्रकाश भी नहीं हो सकता, इसी कारण जितनी रजः शक्ति बुद्धिसत्त्व प्रकाश के लिये विशेष अनुकूल थी उतनी शक्ति को आसुरी भाव से निवृत्त करके अपने पक्ष में कर लेने होता है। और भी देखिये चित्त की सब वृत्तियों को एकदम रोक देने से जगत् का व्यापार ही निरुद्ध हो जाता है, इसी कारण उन सब को

विनाश न कर कुछ को वशीभूत कर रखना होता है। साधारणतः जीव इन्द्रिय वृत्तियों द्वारा परिचालित होता है, यही असुरों का अत्याचार हैं। इन्द्रिय जय करना ही यथार्थ असुर विजय है, वह अनेक उपायों से किया जाता है। केवल अस्त्राघात केवल संयम द्वारा वह सिद्ध नहीं होता। कभी उसको सात्विक भोग का मधुर आस्वाद समझा कर साधना के सहाय रूप से भी अपने पक्ष में कर लेने होता हैं, यही पाश से बांधकर असुरआकर्षण का रहस्य है।

इस मन्त्र में और एक शब्द ध्यान देने योग्य है, वह शब्द है "भुवि"। भू वा क्षिति तत्त्व का केन्द्र मूलाधार चक्र है। रजः शक्ति का जो अंश सत्वगुण को उद्बोधक है, उसका स्थान है मूलाधार। इस स्थान में संयम प्रयोग करने से जो सूक्ष्म क्रियाशील-भाव प्रत्यक्ष होती है वही मातृ नेहपाश से बँधे हुए असुर हैं

केचिद्द्विधाकृतास्तीक्ष्णैः खड्गपातैस्तथापरे।
विपोथिता निपातेन गदयाभुविशेरते ॥५६॥

अनुवाद। कुछ असुरों तीक्ष्ण खड्गाघात से द्विखण्डित और कुछ निपातके द्वारा विपोथित और कुछ गदा घात से धरती पर सो गये।

व्याख्या। अब असुरों की दुर्दशा का हाल वर्णित हो रही है कुछ आसुरी संस्कार ज्ञान खड्गाघात से द्विखण्डित होगये और कुछ आसुरिक संस्कारों को निपातके द्वारा अर्थात् पछार कर विपोथित किया। इनका तो फिर कोई चिन्ह ही नही रहा अर्थात् अवक्त में मिल गये। और कुछ गदाघात से अर्थात चैतन्यमय मन्त्र जप वा उच्चस्वर से स्तोत्रादि पाठ को सहायता से भूमिशायी हुये। क्षिति तत्व मे अर्थात मूलाधार मे सुक्ष्म बीजाकार से सत्वगुण उद्बोध के सहाय रूप से अवस्थान करने लगे।

वेमुश्च केचिद् रुधिरं मुषलेन भृशं हताः।
केचिन्निपातिता भुमौ भिन्नाः शूलेन वक्षसि ॥५७॥

अनुवाद। कुछ असुर मुषल की प्रहार से अत्यन्त घायल होकर रुधिर वमन करने लगे कुछ छाती में शूल विद्ध होकर निपतित हुये।

व्याख्या। रुधिर वमन का अर्थ है शक्तिहीन होना। जिस शक्ति के प्रभाव से चित्तक्षेत्र में राजसिक चचंलता आ जाती है, उस शक्ति का नाम रुधिर है। रजोगुण रक्तवर्ण है। रजोगुण की शक्ति ही रुधिर है। अतएव रुधिर वमन शब्द का अर्थ– रजोगुण की शक्तिहीनता। शूल-त्रिशूल। इसका अर्थ पुर्वही कहा गया भूतल पर गिर गये, का तात्पर्य्य-आसुरी संस्कारों ने मा के चलाये हुए अस्त्र शस्त्र द्वारा, भूने हुए बीजकी तरह फिर अंकुर उत्पन्न करने में शक्तिहीन होकर, मूलाधार में अवस्थान किया। जब तक स्थूल देह रहती हैं तब तक वे पूर्ण रूप से विलय नहीं होते। परन्तु रह कर भी फिर साधारण जीवों की भांति मा की सन्तान को शोक मोहादि द्वारा अवसन्न नहीं कर सकते।

निरन्तराः शरौघेन कृताः केचिद् रणाजिरे।
सेनानुकारिणः प्राणान् मुमुचुस्त्रिदशार्द्दनाः ॥५८॥

अनुवाद। कुछ असुर उस रणाजीर-समराङ्गनमे (देवी द्वारा चलाये हुए) बाणों से ऐसे विध गये कि उनकी देह बाणों से व्याप्त होगई। अर्थात उन पर तिल भर भी जगह खाली न बची, अमरवृन्द को पीड़ा देने वाले असुर सेनापतिगण इस तरह प्राण त्याग करने लगे।

व्याख्या। जब असुरबल साधक के प्रशान्त चित्त में बाधा डालती हैं, जब साधक का चित्त समर क्षेत्र बन जाता हैं, तब आसुरी वृत्तियों को लक्ष्य करके बार बार बाण चलाने होते हैं, प्रणवादि मत्र अर्थात् मातृ आह्वान ही उपनिषदादि शास्त्र प्रतिपाद्य शर हैं।

मा ! मा !! मा !!! यह तुम हो ; यह क्षुद्र मूर्ति लेकर हमारे

हृदय में आखड़ी हुई हो। मा। मा॥ तुम मा हो, क्यों इस भाव से आकर हमें पीड़ा देती हो? मा। मा॥ तुम स्थिरा प्रशान्त मूर्ति से प्रकाशित हो। मा। मा॥ मा॥ इस तरह बार बार शर निक्षपेकरने होता है, जिससे तिलमात्र संस्कारों को अवकाश न रहे। इतना घन घन मन्त्र जप करने होता है। इतना घन घन ब्रह्मलक्षकर शर निक्षेप करने होता है जिससे बिलकुल फांक न रहे, "निरन्तरा शरौघेन" शब्द का यही तात्पर्य्य है। ऐसा कर सकने से ही त्रिदशार्दन अर्थात् साधक की देवभाव नाशक आसुरी शक्तियों विध्यस्त हो जाता है। साधक प्रतिदित इस उपाय से असुरों विजय होते है कि नहीं; परीक्षा कर देख सकते। बार बार विफलता आ सकती है, परन्तु परिणाम में विजय अवस्थ होगी।

केषाचिद्बाहवश्छिन्नाश्छिन्नग्रीवास्तथापरे।
शिरांसि पेतुरन्येषामन्ये मध्ये विदारिताः ॥५६॥

अनुवाद। कुछ असुरों की भुजायें, कुछ की गर्दन और कुछ के मस्तक छिन्न हुआ और कितने का मध्यदेश विदिर्ण हुआ।

व्याख्या। बाहुछेद—ग्रहण शक्ति का अपलाप। आसक्ति से उत्पन्न रुप रसादि विषय ग्रहण की अभिलाषा दूर हो जाना ही असुर की बाहुच्छेद है। ग्रीवाच्छेद—बोलने की शक्ति न रहना। शब्द के आश्रय से ही संस्कार उदय होते है। शब्द न रहने से भाव फुट नहीं सकते। इन विषयों की व्याख्या विस्तार से पूर्व हो चूकी है। भाव वा संस्कारों का मूलीभूत उपादान शब्द है। इस शब्द की उत्पन्न करने वाली शक्ति न रहना ही कन्ठछेद है। मध्य देश विदीर्ण होने का अर्थ कार्योत्पादन शक्ति हीनता है, कार्य सब्द शब्द से यहां आसुरी भाव मूलक कार्य ही समझने होगा कर्य-मात्र की तीन अवस्था हैं, प्रथम क्षन में उत्पत्ति, मध्य क्षण में स्थिति और अन्तक्षण में लय। आसुरी संस्कारों के मध्यदेव विदीण

होने का अर्थ कार्य का स्थिति भाव विनिष्ट होना समझिये। स्थिति भाव विनष्ट होनेसे उत्पत्ति और लय विलय होता है।

विच्छिन्नजंघास्त्वपरे पेतुरूर्व्यां महासुराः।
एक बाहूक्षिचरणाः केचिद्देव्या द्विधा कृताः ॥६०॥

अनुवाद। कुछ असुर के जङ्घा कट जाने से भूमि पर निपतित हुआ। कुछ असुरों के देवी द्वारा ऐसे दो खण्ड हुए कि एक एक खण्ड में एक भुजा, एक आंख और एक चरण थी मानो शिर से गुदा तक आरे से दो भाग हुआ।

व्याख्या। जङ्घाच्छेद का अर्थ गति शक्ति हीनता है। संस्कारों की जो बार-बार चंचलता है, उसे गति-शक्ति कहते हैं। संस्कार मात्र की एक विशिष्ट मूर्ति है, वह मूर्ति भावमयी अभिलाषा वा ग्रहण उसकी वाहु, प्रकाश उसकी आंखें और गति उसके चरण हैं। उनके शिर से दो टुकड़े करके संस्कार की विशिष्ट मूर्ति बिनष्ट कर दी गई, जिससे फिर फल उत्पन्न के शक्ति विलुप्त हुआ।

जिस तरह ऋणबिजली (नेगेटिव) और धनविजली (पाजेटिव) आपस में दो बिरोधी शक्तियां सम्मिलित होने से विजली के कार्य उत्पन्न होते हैं, जैसे पितृ-शक्ति और मातृ-भक्ति के विकाश स्वरूप देह के दायें और बायें दो भाग मिलकर हमारी यह भोगायतन क्षेत्र देह तय्यार होती है, ठीक उसी तरह आकर्षण और विकर्षण रूप परस्पर विरोधी दो शक्तियों के सम्मेलन से ही भाव वा संस्कारों फुटउठता है। भीम द्वारा जरासन्ध के मारने की रीति से यदि उक्त दो शक्तियों को परस्पर विच्छिन्न कर दिया जाय, तो फिर उनमें कार्य उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रहती। असुर समर में अवतीर्ण मा ने भी कुछ असुरों को ठीक उसी भाव से द्विधाविभक्त करके उनकी कार्य्य उत्पन्न करने की शक्ति बिल्कुल विलुप्त कर दी।

छिन्नेऽपि चान्ये शिरसि पतिताः पुनरूत्थिताः ।
कबन्धा युयुधुर्देव्या गृहीत परमायुधाः ॥६१॥
ननृतुश्चापरे तत्र युद्धे तूर्य्य लयाश्रिताः ।
कबन्धाश्छिन्न शिरसः खड्ग शक्त्यृष्टिपाणयः ॥६२॥
तिष्ठतिष्ठेतिभाषन्तो देवीमन्ये महासुरा ॥६३॥

अनुवाद । अन्य कुछ असुर छिन्नशिर होकर भूमि पर गिर गये, कबन्ध रूप से उत्कृष्ट अस्त्र शस्त्र लेकर देवी से युद्ध करने लगे। कुछ कबन्ध युद्ध क्षेत्र में तुरई (रणसिंगा) की तान और लय के अनुसार नाचने लगे । और अन्य बड़े बड़े महासुर गण खड्ग, शक्ति और ऋष्टि (द्विधारी तलवार) हाथ में लेकर देवी से तिष्ठ-तिष्ठ 'ठहरो-ठहरो' कहते हुए देवी कर्तृक छिन्नशिर हुआ था ।

व्याख्या । कुछ आसुरी संस्कार ऐसे दुरपनेय कि उनके शिर काट डालने पर भी युद्ध से न हटे, मा की कृपा से जिन साधकों की आसक्ति की जड़ कट गई है, "यथार्थ ही इस जगत में त्याज्य वा ग्राह्य कुछ नहीं है" ऐसे दृढ़ ज्ञान पर जो प्रतिष्ठित हुए हैं, ऐसे साधक भी कभी कभी कबन्ध असुरों के अत्याचार से पीड़ित हो जाते हैं । उग्रतपा महर्षि विश्वामित्र का पदस्खलन, पराशर के चित्त की चंचलता, दुर्वासा की प्रतिहिंसा की वृत्ति, आदि जो पौराणिक कथायें सुनी जाती हैं वे सब मस्तकहीन असुरों के युद्ध वा अत्याचार मात्र हैं। नवम अवतार बुद्धदेव पर भी मार का अत्याचार हुआ था ।

बहुत दिन के संचित अभ्यासके फलसे ऐसा हो जाता है, उससे मातृलाभ में कुछ हानि नहीं होती। सैकड़ों समुन्नत साधक महापुरुषोंके नामसे भी सच्ची झूंठी अनेक तरहकी दुर्बलताकी बातें सुनी जाती हैं । परन्तु इससे विस्मित वा श्रद्धाहीन होने का कोई कारण

नहीं। क्योंकि वह सब छिन्नशिर कबन्ध असुरों का सामयिक अत्याचार मात्र है। मा की लीला विचित्रता का पता लगाना मनुष्य की बुद्धि से अतीत है, यह सब भी उसी का प्रमाण मात्र है। जो यथार्थ कल्याण कामी पुरुष हैं सामयिक दुर्बलताओं से उनकी कुछ हानि नहीं; भगवान् ने स्वयं कहा है।" नहि कल्याण कृत कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति" कल्याणकारी व्यक्ति की दुर्गति नहीं होती। अतएव साधारण दृष्टि से किसी साधु महापुरुष की दुर्बलता का विचार हो ही नहीं सकता। जो साधारण जीव की दृष्टि से दोष वा दुर्बलता है, कदाचित् महापुरुषों के पक्ष में उसमें भी कुछ गम्भीर रहस्य छिपा हो, मा कब कहां किस भाव से खेल करती है, उसका निर्णय करना साधारण विवेक शक्ति का काम नहीं है।

कुछ असुर लड़ाई के बाजों की तान-लय के अनुसार नृत्य करते थे जब साधकों की बाहिरी विषय ग्रहण करने की चंचलता निवृत्त हो जाती है तब भी अन्तर में वैषयिक संस्कारों के अंकुर उगते रहते हैं। यद्यपि वे स्थूल में आकर कार्य उत्पन्न नहीं कर सकते (कारण कि आसक्तिहीन होने से वे शिर रहित हुए हैं) तथापि मानसिक भाव रूप में आसुरिक संस्कारों नृत्य करते रहते हैं, और साधक मात्र ही उन्हें सदा उपलब्धि करते रहते हैं। गीतामें जिसको"मिथ्या चार स उच्यते।"कहा है। देवी महात्म्यमें उसी को कबन्ध असुरका नृत्य वर्णण किया है। सब साधकों को प्रथम कर्मेन्द्रियां संयत करनी पड़ती हैं। कर्मेन्द्रिय संयम स्थिर होने से देखते हैं कि अन्तरेन्द्रियां अब भी संयत नहीं हुईं। जो कर्म्म द्वारा अनुष्ठान नहीं करते हैं, वे अनायास उसकी मन के द्वारा चिन्ता करते हैं, इसी को मिथ्याचार कहा जाता है। इस मिथ्याचार के अवलम्बन बिना कोई सत्याचार पर पहुंच नहीं सकता। जो यथार्थ सत्याचार पर अधिष्ठित हैं, उनको भी इस मिथ्याचार से होकर ही जाना पड़ा है। यही छिन्न शिर असुरों का नृत्य है।

आसक्ति नहीं, अनुष्ठान नहीं, तो भी चित्त क्षेत्र में आसुरी संस्कार फूटते रहते हैं, वे तुरई की आवाज पर ताल ताल से नाचते हैं। प्रणवादि मन्त्र जप ही रणवाद्य है। साधक! जब तुम इष्ट मन्त्र जपते हो, तब तुम्हारे अन्दर में भी वैषयिक व्यर्थ संस्कार फूटते होंगे। तुम्हारा जप भी चलता है और साथ ही साथ असुरों का नृत्य भी चलता है। परन्तु इस अवस्था में आकर हताश न हो, रणवादय बंद मत करो। कितना ही नृत्य क्यों न करें, याद रखिये वे कबन्ध असुर हैं, शीघ्र ही उनका ताण्डव नृत्य शान्त हो जायगा। केवल मा की ओर ताकते रहिये। अपने को मिथ्याचारी समझ कर घृणा न कीजिये। ऐसे मिथ्याचार करके ही सत्याचार पर पहुंचने होता है। यह मिथ्याचार, यह शिर कटे असुरों का नृत्य सब ही मा का छद्मवेश---मा का लीलामात्र है। अतएव अपनी दुर्बलता देख कर कभी आत्मा को अवसादग्रस्त न कीजिये।

और कुछ महासुर खड्गादि अस्त्र धारण कर देवी को "तिष्ठ, तिष्ठ" कहते कहते ही छिन्न शिर हुआ। किसी बलवान् शत्रु द्वारा तिरस्कृत होकर अपने को छिपाने के लिये दुर्बल मनुष्य अपने शत्रु से कहता है "अच्छा ठहरो ठहरो"— फिर देखा जायगा।" उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि इस समय मैं तुम्हारा कुछ अनिष्ट साधन नहीं कर सकता, भविष्यत् में उपयुक्त देश काल और पात्र का संयोग मिलने पर अपना प्रकाश करूँगा। सत्य ही कर्मेन्द्रियादि के संयम द्वारा संस्कारों के प्रबुद्ध भाव मात्र तिरस्कृत रहते हैं। फिर उपयुक्त सुयोग उपस्थित होते ही वे कर्म रूप से फुट उठते हैं। "विषयाविनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।" इन्द्रिय संयम द्वारा विषय ग्रहण निवृत्त अवश्य होता है किन्तु "रस वर्ज्जं" अनुराग रह जाता है। सुयोग पाते ही अर्थात् दैवात् कुछ शिथिलता आ जाने पर ही आसुरिक अत्याचार आरम्भ हो जाता है। इस

भावको लक्ष्य करके ही यहाँ देवी को "तिष्ठ, तिष्ठ" कहा गया है। किन्तु यहाँ साधक केवल इन्द्रिय संयम परायण नहीं है; बल्कि वह मातृ चरणों में आत्म निवेदन करके पूर्ण निश्चिन्त है। यहाँ मा ने स्वयं ही उनको छिन्नशिर कर कार्य उत्पादन शक्ति नष्ट कर दी है। भगवान् ने भी कहा है—"रसवर्जंरसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते" परमात्मा के दर्शन होते ही विषयानुराग भी सम्यक निवृत्त हो जाता है। यहाँ साधक सर्वत्र सत्यप्रतिष्ठा में—मातृ दर्शन से कृत कृतार्थ है। अनुराग मातृ-चरणों में- परमात्मा में प्रतिष्ठित है। अतएव विषयों पर अनुराग का अवकाश नहीं है, इसी से मन्त्र में 'तिष्ठ, तिष्ठ' कहते कहते ही महासुर देवी द्वारा छिन्न शिर हो गये।

पातितैरथनागाश्वैरसुरैश्च वसुन्धरा।

आगम्या साभवत्त्यत्र यत्राभूत स महारणः ॥६४॥

अनेवाद। जिस भू-भाग पर वह महारण संघटित हुआ था, वहां पर पड़े हुए रथ, हाथी, घोड़े और असुरों से परिव्याप्त होने के कारण वसुन्धरा अगम्या हुआ था।

व्याख्या। यथार्थ ही साधक का चित्त क्षेत्र ऐसा ही अगम्य हो जाता हैं। यद्यपि वह वसुन्धरा, यद्यपि अनन्त रत्नों की खानि, सिद्धि, शक्ति, शान्ति आदि वसुओंको धारण किये है, तथापि अब असुरों की शवदेह से वह स्थान अगम्य हो गया है। जब तक आसुरी संस्कारों का शेष (शवदेह) सम्पूर्ण विलय न हो, तब तक चित्त क्षेत्र–वसुन्धरा में छिपे हुए रत्न अन्वेषण करके भी न मिलते। शरीर में स्थित जिन स्थूल यन्त्रों की सहायता से आसुरी संस्कारों उद्बुद्ध होकर सुभाव को नष्ट करते है, वे ही रथ, हाथी, घोड़े आदि आसुरी शक्तियों के परिचालक यान-वाहनादि हैं। आसुरिक शक्तियां विलीन होगई हैं; परन्तु उनका स्थूल अंश अभी बाकी है,

इसी से चित्त क्षेत्र अभी प्रशान्त नहीं हुआ, अतएव साधक अब भी चित्त के गभीर तल देश में अवगाहन कर सिद्धि, शक्ति आदि रत्न अन्वेषण कर नहीं पाते। खुलासा यह हैं कि जैसे किसी के पुराना क्षतरोग अच्छा हो जाने पर भी उसका दाग (गूथि) तो सहज मिट नहीं सकता, उसी प्रकार मातृ कृपा से चित्त की राजसीक चञ्चलता उपशान्त होने पर भी असुर का शव देह रूप संस्कार तो एक दम विलीन नहीं हो सकता, साधक स्वयं इसे अनुभव कर सकते हैं। चित्त की बहिर्मूखी आसक्ति विलय प्राप्त होने पर भी बहुत दिन के अभ्यास वश उसका भावमय स्वरूप बिलकुल बिनष्ट नही हो जाता, इसीसे यथार्थ प्रशान्त स्वरूप का उपलब्धि नहीं होता। इसी कारण मन्त्र में वसुन्धरा को अगम्या कहा गया है।

शोणितौघामहानद्यः सद्यस्तत्र विसुस्रुवुः।
मध्ये चासुरसैन्यस्य वारणासुरवाजिनाम् ॥६५॥

अनुवाद। वहां---उन असुर सेना में हाथी, असुर और घोड़ों के लोहू महानदी रूपसे बहने लगी।

व्याख्या। असुर समुह के बीच रक्त नदी बहने लगी। रक्त नदी क्या ? विशुद्ध रजोगुण मूलक शक्ति-प्रवाह रक्तवर्ण ही रजोगुण का बाहिरी विकाश है। इस युद्ध में समग्र असुर वृन्द इतने उद्‌वेलित हुये थे कि एक चञ्चलतामय घोर रक्त वर्ण शक्ति-प्रवाह के सिवाय और कुछ भी उपलब्धि नहीं होता था। इस समय साधक देखते हैं कि उनका शुभ्र चिदाकाश घोर लाल रंग का होकर शोणितवाही महानदी की तरह लहरा रहा है। बार-बार असुर संस्कारों के धात-प्रतिघातों से, अब विशेष भाव से असुरों को लक्ष्य करने का सुयोग नहीं रहता। केवल एक घोर रक्तवर्ण शोणित प्रवाहवत रज-शक्ति का पूर्ण उद्वोलन नजर मे आने

लगता है। मूलाधारादि तीन चक्र इस समय लाल रंग की ज्योतिर्म्मय शक्ति केन्द्र रूप से हैं। अभिन्न भाव से उपलब्धि योग्य होता है। यही "शोणितौघा महानद्यः।"

क्षणेन तन्महासैन्यमसुराणां तथाम्बिका।
निन्ये क्षयं यथा बन्हिस्तृणद्वारुमहाचयम् ॥ ६६ ॥

अनुवाद। अग्नि जिस तरह क्षण भर में तृण-काष्ठ के बड़े ढेर को भस्मीभूत कर देती है उसी तरह मा अम्बिका ने भी असुरों की विपुलवाहिनी को क्षण भर में क्षय कर दिया।

व्याख्या। भगवद्गीता में ठीक इसी भाव का एक श्लोक है—"यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात् कुरुतेर्जुन! ज्ञानाग्निः सर्व-कर्म्माणि भस्मासात् कुरुते तथा॥" ज्ञानाग्नि सब कर्म संस्कारों को भस्म कर डालती है। यहाँ भी देखते हैं स्नेहमयी मा ने अम्बिकामूर्ति से प्रकट होकर सब असुर संस्कारों को क्षय कर दिया जो "जगत् मिथ्या" शब्द का ठीक-ठीक तात्पर्य समझे बिना, जगत् अंश परित्याग कर विचार की सहायता से "ब्रह्माहमस्मि" इस उपलब्धि मे पहुंचने की चेष्टा करते हैं, उनके साथ हम एक मत नहीं हो सकते। यद्यपि ब्रह्मज्ञान ही सब कर्मों का विलय साधक है, इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता, तथापि केवल विचार की सहायता से जगत को मिथ्या बोलकर उससे नेत्र अपसारित कर देने से कभी अमृत का पता नहीं मिल सकता। विचार की सहायता से जो मिलता है वह ज्ञान नहीं है-ज्ञान का आभासमात्र है। ज्ञान के माने हैं जानना, अनुभव करना। जब। तक जो विषय जाना न जाय, तब तक उस विषय का ज्ञान होता ही नहीं। केवल पढ़ने और सुनने के ज्ञान से कर्म्म क्षीन नहीं होते। ज्ञान का अनुभव होना आवश्यक है। ईशोपनिषद् कहता है कि विद्या और अविद्या दोनों ही मुक्ति की साधक हैं। अविद्या की

सहायता से मृत्यु का अतिक्रम और विद्या की सहायतासे अमृत लाभ करने होता है ! कर्म संस्कार अविद्या है-इसको मिथ्या बोलकर आँख छिपाने से मृत्युभय दूर नहीं हो सकता, जब तक ज्ञान में नानात्व रहेगा, तब तक वह जीव को मृत्यु से मृत्यु की ओर ही प्रेरण करेगा ही। आप कर्म समूह देखते रहें हो-बहुत्व अनुभव करते हो, तो मुख से हजार बार मिथ्या-मिथ्या कह कर और ऐक नया संस्कार बना लेते हो ऐसा करने से कभी भी मृत्यु भय दूर नहीं होता। उन कर्मों को ब्रह्ममय करना होगा। कर्म्म बोलकर कोई पृथक वस्तु नहीं, सभी तो ब्रह्म ही है ऐसे ज्ञान पर दृढ़ प्रतिष्ठ होना होगा। कर्म्म ब्रह्मय होने से ही कर्म्म संस्कार दूर होते हैं, यही पहला कार्य है। यही ब्रह्म के सगुण स्वरुप का उपलब्धि वा अविद्या की सहायता से मृत्युभय अतिक्रम है, इतना हो जाने के बाद निर्गुण स्वरुप का उपलब्धि वा विद्या को सहायता से अमृतलाभ है। इस तरह जीव यथाक्रम से अविद्या और विद्या के आश्रय से मृत्यु से परित्राण लाभ करके अमृत भोग के अधिकारी होते हैं।

अब देखिये मा किस तरह क्षण भर में असंख्य असुरों का नाश कर देती है। आपके चित्त में असंख्य कर्म्म संस्कार फूटते रहते हैं, वे ही तो असुर हैं, उन सब को पकड़ पकड़ कर मातृसंस्कार में परिणत करना होता है, प्रत्येक संस्कार को छम-वेशी मातृ मूर्ति समझना होता है। ऐसा करते करते जब मातृ-संस्कार घनीभूत हो जाते हैं संस्कारों का आकार मात्र रह जाता है, तो भी उसके सब अवयव ही मातृमय होते हैं, तब ही समझा जा सकता है कि मा ने असुर कुल को ग्रास कर लिया। यह एक दिन में नहीं होता, दीर्घकाल निरन्तर श्रद्धापूर्वक अनुशीलन करना होता है, यह योगमार्ग की बात है। परन्तु तुम मा के दुलारे लाल हो, तुम मा मा कह कर पुकारते हो, तुमने मातृ लाभ को ही जीवन का

एकमात्र उद्देश्य समझ लिया है—चिन्मयी के वक्ष पर निरन्तर रहने की ही तुम्हारी पूर्ण अभिलाषा है, तब चित्तक्षेत्र में युद्ध करने वाले असुरों पर लक्ष्य न रख कर केवल मा की ओर अचलनेत्र लगा कर देखते रहो, अपने को उत्पीड़ित आर्त सन्तान समझ कर कातर प्राण से मा मा कह कर पुकारते रहो, मातृ महिमा में आविष्ट होने का अभ्यस्त हो तो देखोगे कि मा ने "क्षणेन तन्महासैन्यं क्षय निन्ये" क्षण भर में ही तुम्हारे आसुरी संस्कारों क्षय कर दिये हैं।

स च सिंहो महानादमुत्सृजन् धूत केशरः।
शरीरेभ्योऽमरारीणामसूनिव विचिन्वति ॥६७॥

अनुवाद—वह सिंह भी महा गर्जनपूर्वक केशर कम्पित कर असुरों के शरीर से प्राण मानो विशेष रूप से चयन करने लगा।

व्याख्या इस मन्त्र में प्राण प्रतिष्ठा का विषय कहा गया है। जो प्राण प्रतिष्ठा कहने के लिये इस मध्यम चरित्र का उद्यम हुआ है वह यहीं विशेष भाव से कही गई है। साधक! इस प्राण पर प्रतिष्ठित हो सकने से तुम्हारी प्राणमय ग्रन्थि वा विष्णुग्रन्थि भेद होगा। यह रहस्य गुरु परम्परागत रूप से, विनीत श्रद्धावान् और सत्य प्रतिष्ठ साधकों के ही अधिगम्य योग्य है। पक्षान्तर में जो भगवत्सत्ता में विश्वासवान् नहीं हैं, जिनको गुरु और वेदान्त वाक्य में अटल श्रद्धा नहीं है, जिनका सुषुम्ना प्रवाह विकसित नहीं हुआ है, उन्हें इस रहस्य की आलोचना से विशेष कुछ फल न होगा। अस्तु, आओ अधिकारी साधक! हम अपने एकान्त आश्रय मातृ चरणों का अनुस्मरण पूर्वक मन्त्र रहस्य खोलने की चेष्टा करें। मा! तुम धी रूप से प्रकट होकर अपना साधन रहस्य आप ही बोधगम्य करा दो। अज्ञानान्ध जीव जगत् फिर ज्ञान भक्ति के पवित्र प्रकाश से उज्वल हो उठे।

मन्त्र में कहा गया है कि सिंह असुरों की देह से प्राण चयन करने लगा। सिंह- मातृ शक्ति विकाश का यन्त्र स्वरूप जीव। पूर्व कहा है कि साधक जब अपने जीव भाव पर हिंसा परायण होता है— जब देहात्मबोध को विलय करने का यत्न करने लगता है तब ही जीव सिंह पद वाच्य होता है, तब ही मा कृपापूर्वक श्री चरण स्पर्श से ऐसे जीव को धन्य कर देती है। वह जीव तब देह से प्राण को चयन करने लगता है। यह ही साधना यह ही प्राण-प्रतिष्ठा है। जब तक जीव केवल शरीर में ही मुग्ध रहता है, तब तक वह साधारण जीव मात्र है। और जब शरीर से प्राणों का चयन करता है तब वह जीव श्रेष्ठ सिंह है। शरीर-जड़ है, प्राण चैतन्य है। जड़ के भितर चैतन्य की अन्वेषण। प्रत्येक जड़ पदार्थ मानो प्राणों का चैतन्य का लीला क्षेत्र है, इसे पकड़ पकड़ कर समझने का नाम ही प्राण प्रतिष्ठा है।

तुम्हारा छोटा बालक पुत्र आनन्द से खेल करता है और तुम मुग्ध नेत्र से उसे उसकी ओर देख रहे हो। विचार तो कीजिये आप किसको पुत्र समझते हो ? कौन आपको मुग्ध करता है ? पुत्र का देह या प्राण ? देह नहीं। यदि रक्त मांस और हड्डियां ही आपको मुग्ध करतीं, यदि रक्त, मांस का देह ही आपका आत्मज होता, तो गत प्राण पुत्र की देह को कोई भी श्मशान में न पहुंचाता। तब कौन आपका पुत्र है ? यही प्राण, जो प्राण है बोलकर देह प्राणी हैं। जिसके अभाव से शरीर शव मात्र है। साधारण जीव दिन-रात प्राण को परित्याग कर— प्राण की ओर लक्ष्यहीन होकर, केवल जड़ को लिये रहते हैं। शव लेकर खेलता है जो इस तरह प्राण को परित्याग कर— शिव की अवमानना कर, दिन-रात शव को लिये रहते हैं, भला उनका मङ्गल किस प्रकार होगा ? श्मशान में ही जिसका निवास, श्मशान में जिसकी रति है, तो भी जो श्मशानवासिनी श्यामा मा की ओर से लक्ष्यहीन हो, वह रोग-

शोक, मृत्यु हाहाकार से कातर क्रन्दन से किस तरह छूटेगा ? अजी, आप केवल नाम रूप पर मुग्ध रहोगे—श्मशान में वास करें और मुख से अमृत की बातें कहें, बाबा ऐसा करने से क्या अमृत लाभ होगा ! देखिये प्रत्येक देह ही श्मशान है, जब तक देही की ओर लक्ष्य न पड़े, तब तक आप श्मशान में ही रहते हैं, आपका घर कितना ही बहुमूल्य साज-सामग्री से सुसज्जित क्यों न हो, कितनी ही उत्तम प्रकाशमाला से सुशोभित हो, कितने ही पुत्र-कलत्र, सेवकादि के कल-कोलाहल से मुखरित हो, परन्तु यदि गृह की अधिष्ठात्री चैतन्यमयी प्राणमयी मा की प्रतिष्ठा न हुई हो तो वह श्मशान मात्र है। आपका देह कितने ही बहुमूल्य वसन भूषण से सजा हुआ हो, कितनी ही विद्या बुद्धि से प्रकाशित हो, कितना ही उच्च गौरव का पात्र हो, यदि प्राण की ओर मा की ओर लक्ष्य न रहे, यदि देह को मातृ मन्दिर न समझ सको तो वह भी श्मशान वा शव देहमात्र है। अजी जो जन तुम्हारे हृदय में रह कर "मैं-मैं" करता है, जो देह छोड़ कर अलग खड़े हो जाने पर, वह कमनीय देह भी अमङ्गल समझकर घर से बाहर ले जायोगे उस मङ्गलमयी, श्मशानवासिनी मा को, प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक देह में देखो तो सदा मङ्गल होगा, जगत् में अमङ्गल कहीं भी दिखाई न पड़ेगा।

जो लोग श्मशानवासिनी को अन्वेषण करते हैं, वे कितनी घोर तपस्या करते हैं, वह देखो-आपके हृदय के भीतर ही प्राणरूप से नित्य विराजमान है, जाना हुआ बात कहकर उपेक्षा न करो ? श्रद्धा और दृढ़ विश्वास सहित उसी के शरणागत हो, तब श्मशानवासिनी का पता मिलेगा, कुछ दीखता नहीं, कुछ समझ नहीं पड़ता, तब किसके चरणों की शरण लें ? वह प्राण नाम से जो बोध है, प्राण कहकर वेदन है, जो सुख पाने पर फूल उठता है दुःख में सकुचित हो जाता है उसी को लक्ष्य करके, उसी की ओर

चित्तवृत्ति प्रवाहित करके मा ? मा ? कह कर रोओ ? उसी के उद्देश्य करके अपने भोग अर्पण करो, उसी से अपने सुख-दुःख की बातें निवेदन करो, अपने सब भोग उसी के उद्देश्य से अर्पण करो तब तुम्हे श्मशानवासिनी लाभ होगी। श्यामा मा का आदर पाकर तुम्हारा जीवन धन्य होगा।

सुनिये, 'प्राण' कहने से ही एक अव्यक्त एवं सत्य चैतन्यबोध निश्चय तुम्हारे हृदय में फूट उठता है, उस बोध को प्रत्येक पदार्थ में ले जाओ, रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध प्रत्येक विषय में प्राण के दर्शन करते रहो, शरीर शरीर से प्राण के चयन करो, इसी का नाम प्राण-प्रतिष्ठा है। सत्यप्रतिष्ठा जिस प्रकार पहले पहल सीखते समय नकल जान पड़ती है, यह भी पहले पहल नकल ही जान पढ़ेगी। तो भी छोड़ना नही। कुछ दिन नकल करते करते ही इसका असल मर्म अपलब्धि कर सकोगे, अथवा जो सत्यप्रतिष्ठा में अभ्यस्त हुए हैं, जिनका चिदाकाश स्थायी हुआ है, वे फिर इसे नकल नहीं मान सकते। मान लीजिये कि आप एक वृक्ष देखते हैं, सत्य प्रतिष्ठा की सहायता से उसकों सत्य-बोलकर मा बोलकर धारणा करते हो। प्राण ही उस सत्य का स्वरूप है। चैतन्यहीन सत्य, न है न रह सकता है। प्राण की अनुभूति उपलब्धि किस प्रकार होती है वह फिर किसी से कहकर नहीं समझानी होती, अपने अपने प्राण का अस्फुष्ट उपलब्धि मनुष्य मात्र को ही है, वह प्राण ही सम्मुख स्थित वृक्ष के आकार में दीख रहा है ऐसी धारणा करो। वृक्ष देखते ही मानों एक प्राणमय सम्वेदन फूट उठे। इस तरह प्रत्येक पादार्थ में कर सकने से ही विश्वव्यापी एक अखण्ड प्राणमय सत्ता बोधमे फूटता रहेगा। ओः वह कैसा लोभनीय ! कैसा मधुमय। यह विश्व एक घन चैतन्यमय सत्तारूप से उपलब्धि होता है। रुप रसादि विषयों की जो विभिन्न सत्ता है वह बिलकुल

विलय हो जाती है। साधारण दृष्टि से जगत् को जिस तरह एक घन सत्य पदार्थ समझते थे, प्राण प्रतिष्ठा होने पर फिर वह नहीं रहता। तब जगत् की पृथक् सत्ता खोजने पर भी नहीं मिलती, केवल घन चैतन्य। आप जो चिद्घन शब्द सुनते हैं, वह वास्तव में क्या वस्तु है, उसे यहाँ आने पर उपलब्धि कर सकोगे। यथार्थ में वह पत्थर से भी घन है। इस तरह प्राण प्रतिष्ठा में जो सिद्ध है केवल वे साधक ही वाह्य पूजा अर्थात् प्रतिमा पूजा कर सकते है। मृन्मयी प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा करने से वह यथार्थ ही चिन्मयी मूर्ति से परिणत होते हैं, यथार्थ ही वाक्य मनके अतिता मा हमारी सन्तान स्नेह से आकुला होकर स्थुल घनीभूत मुर्त्तिमे आत्मप्रकाश करती हैं और पूजा ग्रहण कर सन्तान को धन्य करती है यह प्राण प्रतिष्ठा साधकों के ही उपलब्धि योग्य है। परन्तु वह दूसरी बात है।

अस्तु, साधक को शरीर से प्राणों का चयन करना ही होगा। ऐसा करते करते ही महाप्राण का पता पाया जाता है और प्राण ही जड़ के आकार से आकारित है, यह भी अच्छी तरह उपलब्धि होता है। जीव! अपने हृदय में जो क्षुद्र चैतन्य का अनुभव करता है वही सृष्टि, स्थिति, प्रलय करने वाली महाप्राणमयी मा है, यह न समझने ही के कारण तो तुमको दुःख, कष्ट शोक, ताप, जन्म-मृत्यु की पीड़ा सहनी पड़ती है। राज राजेश्वरी मा को कङ्गालिनी बनाकर मलिन घर में बैठा रक्खा है इसी से तो आपकी यह दीनता, दुर्बलता दूर नहीं होती, इनके हाथ से परित्रान पाने के लिए प्रत्येक पदार्थ में प्राण प्रतिष्ठा करनी होती है, याद रखिये कि प्राण दिये बिना प्राण नहीं मिलता। जगत् को सत्य बोलकर— मा बोलकर समझा है उसी के चरणों में प्राण ढाल दीजिये, फिर देखोगे कि आपके प्राण ही जगत् का आकार में सजे हुए हैं।

प्राणमयी मा हमारी! समझ लिया कि तुम्हें प्राण देने से ही

जीवत्व का अन्त होता है, जानते हैं तुम्हारा चरण में सब प्राण निर्विचार से ढाल देने से ही असुरों का अत्याचार सदा के लिये निवृत्त होता है। परन्तु क्या करें, मा! किसी प्रकार तुम्हारे चरणों में प्राण अर्पण कर विभोर हुआ नहीं जाता क्योंकि हम अनाथ, दुर्बल, त्रिताप दग्ध, अज्ञान सन्तान हैं, तुम दया करके हमारे प्राण निकाल लो; हम नहीं जानते कि किस तरह तुमको प्राण अर्पण किये जा सकते हैं। हमारे प्राण तो संसार के हानि लाभ के हिसाब में बिलकुल विमूढ़ हैं। किस तरह तुमको दें मा? तुम कृष्ण हो, महाआकर्षणी शक्ति का प्रयोग कर हमारे ये प्राण-विन्दु अपने प्राण सिन्धु में मिला लीजिये, जिससे हम धन्य हों और आपका पतितपावन नाम सार्थक हो। सुना जाता है कि श्री वृन्दावन में आपने कृष्णरूप से गोपियों के घर में मक्खन चुराते समय गोपियों के प्राण भी हरण किये थे, उसी तरह हमारे प्राण भी हरण करो, हम स्वेच्छा से तो किसी तरह प्राण देंगे नहीं। यदि हमको मालुम हो जाय तुमका आगमन तो सामने होकर आने से ही तुमको भगा देंगे, क्योंकि फिर तुम्हारी वह त्रिलोक-मोहिनी मूर्ति देख कर अकस्मात् सब प्राण न डाल दें, इस भय से सब किवाड़ बंद किये बैठे हैं। इसी से कहते हैं कि तुम लुका कर चोरी की तरह अज्ञात सार में आकर हमारे प्राणों की चोरी करो, अजी दयाकर चोरी करो तो हम उस शाश्वत शान्ति का आस्वाद लेकर इस त्रिताप से जलती छाती को शीतल कर सकें। साधक! जब तक प्राण अर्पण समाप्त न हो, आओ तब तक ऐसा ही करके रोवें। दया करके, नहीं-नहीं, दया नहीं, पुत्र स्नेह से आकुल होकर किसी न किसी दिन मा निश्चय ही आशा पूर्ण करेगी।

अस्तु, साधक! तुम्हें जगत्मय मातृ-दर्शन में अभ्यस्त हो गया है। वह मा ही प्राण है, यह समझ सकने से ही प्राण प्रतिष्ठा होती

है। अन्तर में जब असुर भाव एक के बाद एक आकर शान्ति भङ्ग किया करते हैं, तब उनको पकड़-पकड़ कर प्राण रूप से दर्शन किया जाता है, प्राण ही उन भिन्न भिन्न रूपों में आता है, बार-बार इस अभ्यास की सहायता से मर्म्म मर्म्म में अनुभव करते हैं। याद करो, प्रथम खण्ड में लिखा हुआ सन्देश (पेड़) का दृष्टान्त। बाहर का आकार चाहे जैसा हो, परन्तु वह प्राण के सिवाय और कोई नहीं है, यह बोध जाग्रत रखने की चेष्टा करो। यहीं असुर शरीर से प्राण का चयन है। कुछ दिन ऐसा अनुशीलन करने से ही प्राण-मय ग्रन्थि खुल जायगी, प्राण शब्द से जो हृदय में एक छोटा सा प्राण मानते हो यह अज्ञान दूर हो जायगा। विष्णु ग्रन्थिभेद होगा। तब देखने लगोगे कि यह अनन्त वैचित्र्य पूर्ण जगत् तुम्हारे प्राण के सिवाय कुछ है ही नहीं। तब आत्म प्राण के महाप्रसार को देख कर मुग्ध हो जाओगे और अपने को जन्म मृत्यु के अतीत नित्य शान्तिमय समझ सकोगे। अथवा उस समय साधक को कैसा आनन्द और मधुमय अवस्था होती हैं वह लिखकर नहीं प्रकाश हो सकती।

इस मन्त्र में सिंह के दो विशेषण हैं, "महानादमुत्सृजन्" और "धूत केशरः" सिंह जब असुर देह से प्राण चयन करता था, तब भीषण शब्द करता था और उसके केशर कम्पित होते थे, पहले विशेषण से उल्लास और दूसरे विशेषण से क्रोध सूचित किया है। आसुरिक वृत्तियों को समूल विलय करने के लिये आनन्द और क्रोध आवश्यक हैं। पूर्ण उद्यम से आसुरिक वृत्तियों के विरुद्ध खड़ा होना होता है। मातृ चरण स्पर्श से धन्य और महान् उत्साह सम्पन्न जीव सिंह मातृ-प्रेरित क्रोध और उल्लास का अभिनय करता है। यह बन्धन का हेतु नहीं, बल्कि बन्धन मुक्ति का उपाय वा बाह्य लक्षणमात्र है। साधक! तुम भी ऊँचे स्वर से मा! मा! कहकर अग्रसर होंगे, जब अन्तर बाहर पूर्ण भाव से प्राणों का

प्रसार देख पाओगे, तब फिर चुप रह ही नहीं सकोगे और न अपने को दुर्बल, पीडित जीव मान सकोगे, विराट् प्राण का उल्लास देख कर तुम भी बड़े आनन्द से मा मा शब्द से दिशाओं को कम्पायमान कर डालोगे। तुम्हारे उस मातृ-आह्वान से वायुमंडल पवित्र होगा। जो उस आह्वान को सुनेगा वह भी जलती हुई अग्नि में पतंगे की भाँति मा। मा। कहता हुआ आत्म आहुति देने को अग्रसर होगा। ओः उस अवस्था की बात स्मरण करने से भी प्राण आनन्द से नाचने लगते हैं।

देव्यागणैश्च तैस्तत्र कृतं युद्धं तथासुरैः ॥
यथैषां तुतुषुर्देवाः पुष्पवृष्टिमुचादिवि ॥ ६८ ॥

अनुवाद। उस युद्धस्थल में देवी के सैन्य गण ने असुरों के साथ ऐसा युद्ध करने लगा कि स्वर्ग में देवता (सन्तुष्ट होकर) उन पर फूलों की वर्षा करने लगे।

व्याख्या—गणसैन्य और उनका युद्ध विवरण इससे पहले व्याख्यात हुआ है। देवताओं की पुष्प वर्षण का तात्पर्य्य-आशीर्वाद और शक्तिदान है। जीव जब मातृ चरणों में आत्मसमर्पण कर मातृ शक्ति से शक्तिमान् होकर प्राण-प्रतिष्ठा रूप अव्यर्थ अस्त्र लेकर असुरों के विरुद्ध खड़ा होकर अपनी सामर्थ्यानुसार युद्ध करता है, तब देवता वृन्द शक्ति और विजयाशीर्वाद देकर जीव को विशेष उत्साहित करते हैं। जीव जब तक असुर शक्ति का पोषण करता है, तब तक देवशक्ति निर्जित रहती है, किन्तु एक बार साहस करके असुर शक्ति के प्रतिकूल खड़े होने से ही देवशक्ति उत्साह सम्पन्न और प्रसन्न होता है। गीता में ठीक यही बात कही है—जीव देवशक्ति के पोषक हैं, और देवता जीवों का श्रेयोविधायक हैं। इस तरह एक दूसरे का अभ्युदय करने वाले हैं। जीव जब तक यह तत्त्व सम्यक हृदयङ्गम नहीं कर सकते, तब तक ही देवताओं से

आशीर्वाद और शक्ति पाकर उन्नति मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते, आज मा की कृपा से जीव के निःश्वास तक असुर शक्ति के प्रतिकूल खड़े हैं, जीव पूर्ण रूप से असुर शक्ति का विध्वस्त करने को तय्यार है, इसी से देव शक्ति प्रसन्न होकर आशीर्वाद और शक्ति दे रही है।

साधक! तुम यदि कुछ भी साधन मार्ग में आगे बढ़ो, तो देखोगे कि अन्तरस्थित देवता तुम्हारी साधना की गति को और भी तीव्र करने के योग्य शक्ति प्रदान करते हैं। जब तक अपने को दुर्बल और असमर्थ समझ कर साधना से दूर रहोगे, तब तक यथार्थ ही यह वन्धुर और कण्टकमय प्रतीति होगी। परन्तु यदि आप एक पाद मात्र ही आगे बढ़ेंगे तो देखेंगे कि भगवान तुम्हारी ओर तीन पाद बढ़ आये हैं। "मैं संसारी हूँ, मैं विषयासक्त हूँ, मैं कामिनी-काञ्चनप्रिय हूं, अतएव हमारे लिये साधना के मार्ग में अग्रसर होना असम्भव है।" यह समझ कर डरो या पीछे मत हटो। जो जिस अवस्था में है, उसे उसी अवस्था में भगवान मिल सकते हैं। कुछ भी त्याग वा ग्रहण नहीं करना होता, केवल पाने की इच्छा जाग्रत होने से ही वह मिल जाता है। तब समस्त देवशक्ति आपके अनुकूल खड़ी होकर आप को आशीर्वाद और शक्ति देकर आगे बढ़ने की सामर्थ्य प्रदान करेंगी।

आओ भीत सन्त्रस्त सन्तान! आओ त्रिताप दग्ध सन्तान! सब मिल कर समस्वर से मा कह कर पुकारें, जिससे देवता हमारे मस्तक पर भी पुष्प वर्षावें। हम धन्य हों।

द्वितीय खण्ड, द्वितीय अध्यायः ।

ऋषिरुवाच ।

निहन्यमानं तत्सैन्यमवलोक्य महासुरः ।
सेनानीश्चिक्षुरः कोपाद्ययौ योद्धुमथाम्बिकाम् ॥१॥

अनुवाद। ऋषि बोले—'अनन्तर असुर सैन्य को निहत देख कर प्रधान सेनापति महासुर चिक्षुर स्वयं युद्ध करने के लिये क्रोध कर अम्बिका की ओर धावित हुआ।

व्याख्या। यहाँ तक असुर सैन्य दल के निधन विवरण कहा गया है, अब सेनापतियों का युद्ध और मारे जाने की कथा व्याख्यात होगी। मातृ-कृपा से आत्माभिमुखी प्रकृति की आकर्षणी शक्ति के प्रभाव से आसुरिक भाव समूह निर्ज्जित हो गये हैं, किन्तु जो रजोगुण की प्रधान कार्य्य शक्ति—जिसको विलय किये बिना, फिर आसुरी शक्ति वृत्तियों की पीड़ा का भय दूर नहीं होता, अब उस पर साधक का लक्ष्य हुआ है पूर्व में कहा है कि—विक्षेप शक्ति ही चिक्षुर है, जिस शक्ति के प्रभाव से हम मा को देख नहीं पाते, जिसके प्रभाव से हम अपने स्वरूप का उपलब्धि करते न करते ही रूप रसादि विषयाकार में प्रतिभात होता हैं, वही अजेय असुर चिक्षूर है। इसके अत्याचार से परित्राण पाने के लिये जितना वेग पाने होता है उतनी शायद और किसी के लिये आवश्यक नहीं होती। कितने साधक इस विक्षेप को दूर करने के लिये कितने प्रकार के योग कोशल हठ-क्रिया, प्राणायाम, अनेक प्रकार के कठोर व्रत, नियमादि अनुष्ठान किया करते हैं। वे समझते हैं कि किसी उपाय से चित्त विक्षेप दूर होने से परमात्म-स्वरूप अपने आप प्रकाशित हो जायगा। दृष्टान्त में जलचन्द्र का उल्लेख

करते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि जल की तरङ्गायीत अवस्था की निवृत्ति हो जाने से ही चन्द्रमा की परछाई पूर्ण भाव से प्रत्यक्ष होती है, इसके लिये फिर कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता। यह सिद्धान्त भी अवश्य सत्य की भीत पर प्रतिष्ठित है। इसमें कोई संशय नहीं परन्तु ऐसे साधक कोई हैं या नहीं कि जो विक्षेप के हाथ से पुर्ण रूप से निष्कृत्ति लाभ किये हों, हम ठीक ठीक नहीं कह सकते। जब तक देह है तब तक विक्षेप है यह समझने पड़ेगा विक्षिप्त भाव का नाम ही जीव है। परन्तु कठोर संयम, तीव्र वैराग्य और दीर्घ काल अभ्यास के फल से विक्षेप की मात्रा कुछ कम हो जाती है।

परन्तु हमें दूसरे मार्ग का पता लगा है जो आजकल के देश काल और अधिकारियों के पक्ष में विशेष उपयोगी है। मा हमें उस सरल सहज मार्ग पर जाने के लिये बार बार सङ्केत करती है। वह ऋषिजन सेवित वैदिक मार्ग है। हम विक्षेप विक्षेप कह कर व्याकुल न हों, बल्कि सरल प्राण शिशु की तरह मातृ चरणों में आत्म निवेदन करके पूर्ण निश्चिन्त और सम्पूर्ण स्वाधीन भाव से अवस्थान करेंगे, विक्षेप हो चाहे आवरण हो, चाहे किसी भी तरह का अत्याचार हो, सब अवस्था में ही मातृ-चरण में पूर्ण निर्भरता मात्र लक्ष्य करके अग्रसर होंगे। फिर जो कुछ व्यवस्था करनी होगी, वह स्वयं मा ही कर देगी। हम मा की अङ्कस्थित आनन्दमय नग्न शिशु हैं। उन सब बातों का विचार विवेचन करने की हमें आवश्यकता नहीं है, अधिकार और सामर्थ्य भी नहीं है। आओ साधक! हम मा कह कर पूर्ण विश्वास से महाशक्ति की स्नेहमय अङ्क में उछल कर बैठ जायें। हमारी जो कुछ साधना तपस्या, सब मा करा लेगी। हमारा किस में भला होगा और किस में बुराई होगी, वह विवेचना हमारी अपेक्षा मा ही अधिक समझ सकती है, अतएव क्यों हम दिन रात विषयों लिये वा

साधना में माथापच्ची करते रहे ! युद्ध करने होगा तो मा करें, विक्षेप दूर करना है मा ही करे, हम तो द्रष्टामात्र, मा की विचित्र लीला देखते जायेंगे। सुख दुःख में, हर्ष विषाद में, विक्षेप स्थिरता में, सब अवस्था में हम तो द्रष्टामात्र हम मातृ अङ्कस्थित आनन्दमय निर्विकार नग्न शिशु हैं।

अजो, यदि अच्छी तरह समझ में आ जाय कि सत्य ही हमारे प्राण ही मा है, वह पुत्र स्नेह से आकुला है और जिस तरह हमारा भला हो निरन्तर वही किया करती है। तब हमारे विचारने का विषय क्या रह सकता है ? इसी से मन्त्र में भी देखते हैं—"ययौ-योद्धमथाम्बिकाम्"। असुर अम्बिका के साथ युद्ध करने गये। हमारे साथ तो युद्ध करने को आये नहीं हैं। विक्षेप हो, आवरण हो, और दम्भ, दर्प, अभिमान, मोह आदि कोई भी हो, उनमें हमारा क्या ? हमारे साथ कुछ युद्ध नहीं। हम तो धीर स्थिर केवल लीला देखने वाले हैं। इसी से असुर हमको छोड़ कर अम्बिका के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं।

देखिये, आत्म-समर्पण योगी को कितनी सुविधा है। महासुर चिक्षूर युद्ध करने गया, मा के साथ। योगी असुरों की निधन मात्र ही न देखता मा के खेल को देखते हैं। आत्म समर्पण योगी की "मामेकं शरणं व्रज" मन्त्र की साधना में सिद्ध साधक की जो अवस्थायें—वहिर्लक्षण प्रकाशित होती हैं, वे ही इस चण्डी तत्व में वर्णित हैं। यह बात पूर्व अनेक बार कही गई है। यहाँ फिर वही स्मरण करा देते हैं। आत्मसमर्पण ही साधना है। अनेक अवस्थायें भितर हो कर साधक इसका पता पाते हैं। इस साधना में सिद्ध होने से साधक का देह, मन, इन्द्रिय आदि, मातृ शक्ति विकास के यन्त्र स्वरूप हो जाते हैं। यह दिखाने के लिये ही देवी माहात्म्य के ऋषि ने सुरथ, समाधि को उपलक्ष्य करके अभूतपूर्व रहस्य की अवतारणा की है। असुर निधन के अवलम्बन से आध्या-

त्मिक तत्व को खोलकर अज्ञानान्ध जगत के ज्ञान चक्षु खोलने की चेष्टा की है।

पूर्व परिच्छेद में देवी के वाहन सिंह का युद्ध वर्णन करने में जीव का जो परुषकार प्रयोग कहा गया है, उसके साथ आत्म समर्पण वा पूर्ण निर्भरता का कुछ विरोध नहीं। कारण कि मातृ-शक्ति ही जीव देह रूप यन्त्र के भितर पुरुषकार रूप में प्रयुक्त होती है। जीव जब तक आत्म-समर्पण का आस्वाद नहीं पाता तब तक पुरुषकार वस्तु का असल स्वरूप उपलब्धि नहीं कर सकता, अजी पुरुषकार का पुरुष ही तो मा है, पुरुष को जाने बिना उसका कृति वा कार्य किस तरह देख पाओगे ? यह कभी स्वप्न में भी विचार न करो कि मातृ चरण पर पूर्ण निर्भरता आने से मनुष्य जड़वत् अवस्थान करता है। यथार्थ कर्म्म शक्ति आत्म-समर्पण योगी में ही प्रकाश पाती है। अतएव साधक! आत्म-समर्पण की साधना करो। आत्म-समर्पण में अग्रसर हो, याद रक्खो कि आत्म-समर्पण के बिना आत्म लाभ नहीं होती। महाप्राण चाहो तो, अपने क्षुद्र प्राण मा के प्राण में मिला दो। अपनी छोटी मैं को भूल जाओ। मा की मैं को श्री गुरु के मैं को दोनों हाथों से थाम लो। देखोगे कितने सैकड़ों असुर निहत होंगे, कितने लीलाओं का अभिनय होगा, परन्तु तुममें कर्तृत्व का लेश भी स्पर्श न करेगा। तुमको कुछ भी नहीं करना होगा। तुम तो सदा ही द्रष्टा साक्षि मात्र हो, यह यथार्थ उपलब्धि करके बन्धन मुक्ति की कल्पित भ्रम से छूट जाओगे।

स देवी शर वर्षेण ववर्ष समरेऽसुरः।
यथा मेरु गिरेः शृङ्गं तोयवर्षेण तोयदः ॥२॥

अनुवाद। सुमेरु पर्वत के शिखर पर मेघ के जल वर्षण के भांति वे असुर समर क्षेत्र में देवी पर शरों की वर्षा करने लगे।

व्याख्या—इस मन्त्र का दृष्टान्त बड़ा सुन्दर है। मेघ जो जल वर्षाता है वह सुमेरु पर्वत के शिखर पर नहीं पड़ता, कारण सुमेरु शृङ्ग इतना ऊंचा है कि वहाँ तक मेघ जा ही नहीं सकते। कुमार सम्भव महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने कहा है—"आमेखलं सञ्चरतां घनानाम्" मेघ हिमालय पर्वत की मेखला अर्थात् कटिदेश तक विचरते हैं, उससे ऊंचे नहीं जा सकते। सुमेरु शिखर हिमालय से भी अधिक ऊंचा है। अतएव वहां बादलों का वर्षा करना कभी सम्भव नहीं। ठीक इसी तरह महासुर चिक्षुर लगातार बाण वर्षा करता रहा, परन्तु वे देवी के अङ्ग को स्पर्श भी नहीं कर सके।

मा हमारी सच्चिदानन्द स्वरूपा, अवाङ्मनोगोचरा, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि दृश्य वर्ग से पार अवस्थित है, अतएव चित्त विक्षेप से उत्पन्न अत्याचार उसे किस तरह स्पर्श करेंगे? इसी से चिक्षुर के बाणों का जाल मातृ-अङ्ग को स्पर्श नहीं कर सका, अजी मन जिसको मनन नहीं कर सकता, जिसकी सत्ता और प्रकाश से मन की सत्ता और प्रकाश है, मन की चञ्चलता उसे किस तरह पीड़ित करेगी? जब तक मा का स्वरूप जाना न जाय, तब तक ही असुरों का भय है, तब तक ही विक्षेप निवारण करने के लिये कितना आयोजन उद्यम हैं। मा आत्मा है, वह नित्य असङ्ग नित्य शुद्ध, नित्य मुक्त है, विक्षेप जिस तरह चित्त का धर्म्म है, निरोध भी उसी प्रकार चित्त का ही धर्म्म है। समाधि और चञ्चलता दोनों ही चित्त के ऊपर नहीं जा सकते, अतएव चित्त के धर्म्म चिन्मयी को अङ्ग किस तरह स्पर्श करेंगे?

तस्यच्छित्त्वा ततो देवी लीलयैव शरोत्करान्।
जघान तुरगान् बाणैर्यन्तारञ्चैव वाजिनाम्॥ ३॥
चिच्छेद च धनुः सद्यो ध्वजञ्चाति समुच्छ्रितम्।
विव्याध चैव गात्रेषु च्छिन्नधन्वानमाशुगैः॥ ४॥

अनुवाद। अनन्तर देवी ने अनायास उस चिक्षुर के बाण छेदन करके, अपने बाणों से घोड़ों और सारथी को निहत किया। और शरप्रयोग से तुरन्त धनुष और बहुत ऊँची ध्वजा काट कर वही टूटा धनुष असुर के शरीर में वेध दिया।

व्याख्या। पूर्व मन्त्र में कहा गया है कि चिक्षुर निक्षिप्त बाण मातृ-अङ्ग स्पर्श भी नहीं कर सके। अब मातृ विक्रम वर्णण करते हैं। मा ने छः कार्यों द्वारा अपनी शक्ति प्रकट की थी। (१) चिक्षुर निक्षिप्त बाण च्छेदन (२) अश्वनिधन, (३) सारथी निधन, (४) धनुष का काट देना, (५) ऊंची ध्वजा काटना, (६) चिक्षुर के अङ्गों में बाण बेधना। आओ साधक! क्रम से हम इन छः क्रियाओं का रहस्य हृदयङ्गम करने की चेष्टा करें।

(प्रथम) चिक्षुर का बाण च्छेदन। चित्त क्षेत्र में वैषयिक चञ्चलता उत्पन्न करने वाला वेग ही चिक्षुर का बाण है। उसके च्छेदन का तात्पर्य प्राण प्रतिष्ठा रूप शर छोड़ना है। चित्त में ज्यों ही वैषयिक स्पन्दन उठें, त्यों ही उन्हें विराट प्राण का स्पन्दन रूप समझने की चेष्टा करो। महा प्राणमयी मा हमारी अन्तर में रह कर विषय के आकार से आत्म प्रकाश कर रही है। रूप रसादि अथवा काम काञ्चनादि सब ही हमारे प्राण—हमारी मा हैं। इस बोध का प्रवाह कुछ काल रख सकने से विषयों का स्पन्दन निवृत्त हो जाता है। वह परीक्षित सत्य है।

द्वितीय—अश्वनिधन। अश्व शब्द का अर्थ है इन्द्रियां। श्रुति कहती है—इन्द्रियां ही अश्व स्थानीय हैं। चित्त क्षेत्र के वैषयिक स्पन्दनों इन्द्रिय अश्वों की सहायता ही से विषयों तक उपस्थित होते हैं। रूप रसादि पांच विषय ही इन्द्रिय अश्व का गम्य वा भोग्य-स्थान है। प्राण प्रतिष्ठा के प्रयोग कौशल से वैषयिक स्पन्दन को प्राण रूप में दर्शन कर सकने से ही इन्द्रिय वेग भी प्राणमय भाव में मुग्ध हो जाते है। अतएव उनकी विषयाभिमुखी

गति निवृत्त हो जाती। यही अश्वनिधन का तात्पर्य्य।

तृतीय—अश्वचालक निधन इन्द्रिय अश्व का चालक है मन; इन्द्रियां प्राणमय होने से उनका परिचालक मन प्राणमय हो जाता है, क्योंकि इन्द्रियां वाहित विषय मन में ही अर्पित होते हैं। जब तक चक्षु: आदि इन्द्रियाँ केवल रुप रसादि वहनकर मन को उपहार देती है तब तक मन विषयों की परिच्छिन्नता और जड़ता में मुग्ध रहता है। इन्द्रियां प्राणमय होने से वे रूप रसादि आकार से केवल प्राण को ही वहन करती है, इस तरह इन्द्रियों के द्वारा मन के निकट जो कुछ उपस्थित होता हैं वह सब ही प्राण रूप में आता है, अतएव मन के वैषयिक भाव बहुत्व विषयक संकल्प बिकल्प बिलकुल निवृत्त हो जाते हैं। यही अश्वचालक का निधन रहस्य है।

चौथा—धनुच्छेदन। इसका अर्थ है कर्म्म धनुष का छेदन। सर्वत्र प्राण प्रतिष्ठा के फल से अन्तर बाहर महा प्राण का प्रसार देखकर कर्म्मेन्द्रियां इतनी मुग्ध हो जाती है कि विषय आहरण रूप अहंकार मूलक कर्म्म से विरत होती हैं। यही चिक्षुर का धनुष कट जाना है।

पांचवा—उन्नत ध्वजच्छेदन। अहं कर्तृत्व ज्ञान ही उन्नत ध्वजा है। विश्वमय प्राण दर्शन करते रहने से, विश्व के सब कर्म्म प्राण द्वारा निष्पन्न होते है यह समझा जाता है। 'मैं तो कहीं कुछ नहीं करता, सब ही तो प्राणमयी मा की महती इच्छा से सम्पन्न हो रहा है।'' "प्राण स्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत प्रतिष्ठितं" तीनों लोक में जो कुछ है वह सब ही तो हमारी प्राण रूपिणी मा के वश में है" इस ज्ञान पर प्रतिष्ठित होने से फिर कर्तृत्व ज्ञान की उच्च ध्वजा किस तरह रहेगी

छठे—चिक्षुर के सर्वाङ्ग में बाण विद्धकरण। पूर्वोक्त प्रकार से महासुर चिक्षुर छिन्न ध्वजा और विसारथी हुआ, तब मा ने उपयुक्त अवसर पाकर उसका सारा शरीर बाणों से वेध दिया।

यह पूर्व कहा है कि प्राण प्रतिष्ठा का प्रयोग ही मा का बाण निक्षेप है। चित्तगत प्रत्येक स्पन्दन को प्राण रूप से समझने की चेष्टा ही मा का बाण निक्षेप है। जब विक्षेप शक्ति अधिक दुर्बल हो जाती है, तब दृढ़ अध्यवसाय से बार-बार प्राण प्रतिष्ठा करनी होती है। ऐसा करने से चिक्षुर वा विक्षेप शक्ति (प्राणमय होकर) वैषयिक चञ्चलता परित्याग करने को बाध्य होती है।

अभूतपूर्व रण कौशल ! जो प्राण प्रतिष्ठा में अभ्यस्त साधक हैं, वे ही यह संग्राम रहस्य अच्छी तरह उपलब्धि कर सकेंगे। दिन रात में कम-से-कम एक बार भी यदि यह संग्राम प्रत्यक्ष किया जाय तो साधनमार्ग निश्चय ही सुगम हो जाय। अजी पूर्व सत्यप्रतिष्ठा का अभ्यास करते समय मा बोलने में किसी अनजान वस्तु की सत्ता मात्र समझते थे मा को दूर देखते थे; कि न जाने कौन कहां विश्व ब्रह्माण्ड के परपार मा होगी, यही समझते थे, किन्तु मा का स्वरूप नहीं जाना था। अब गुरु कृपा से यह समझ में आया कि तुम्हारे हृदय को अनुभूत होने वाला प्राण ही मा है। वह इतना निकट, इतना प्रिय है कि जिसकी सत्ता से तुम्हारी सत्ता और जिसके अस्तित्व से तुम्हारे अस्तित्व हैं। जिसके होने से तुम्हारी देह, मन, इन्द्रिय, स्त्री, पुत्र, धन, यश सब कुछ है, वह प्राण ही तुम्हारी मा है। जो यदि इस मुहूर्त्त में तुम्हारे हृदय से निकल खड़ी हो तो फिर तुम्हारा कहने को कुछ भी नहीं रहता, वह प्राण ही तुम्हारी मा है। प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक भाव में प्राण को चयन कर सकने से ही समझ में आ जायगा कि तुम्हारा यह छोटा प्राण ही विश्व प्राण है। फिर चित्त का विक्षेप लक्ष्य कर प्राण प्रतिष्ठा करने पर भी समझ सकोगे कि चित्त बोलकर विक्षेप बोल कर जो कुछ है वह सब ही प्रियतम प्राण है। एकान्त आश्रय प्राण रूपिणी मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है।

स च्छिन्नधन्वा विरथी हताश्वो हतसारथिः ।
अभ्यधावत तां देवी खंङ्गचर्म्मधरोऽसुरः ॥५॥

अनुवाद। इस तरह चिक्षूर का धनुष छिन्न, रथ भग्न, अश्व और सारथी निहत होने से वह असुर खड्ग चर्म लेकर देवी पर दौड़ा।

व्याख्या। खड्ग और चर्म्म, शब्द का तात्पर्य समझ सकने से ही इस मन्त्र का अर्थ सुगम होगा। खड्ग दो विभाग करने वाला अस्त्र है। भेद ज्ञान का नाम ही खड्ग है। प्राण व्यतीत मा व्यतीत हमारी और इस जगत् की पृथक कुछ सत्ता नहीं है। यह उपलब्धि की अभाव वशतः ही ज्ञान नहीं बढ़ता। मन समझता है कि मा एक जन और यह परिदृश्यमान जीव जगत् उससे बिलकुल पृथक है। हजार बार समझाने से और वेदान्त शास्त्रादि दीर्घ काल पढ़ने पर भी यह भेद बुद्धि दूर नहीं होना चाहती। यही विक्षेप का अस्त्र चिक्षूर का खड्ग है। मा से हमें बिलकुल विच्छिन्न कर रखने का यही सबसे प्रधान साधन है।

चर्म (ढाल) मिलन का अन्तराय-मलिनता ही चर्म्म है। भेद ज्ञान जिस तरह आत्मा से जीव को बिलकुल पृथक रूप से प्रतिपन्न कराता है, उसी तरह मलिनता भी, भेद बुद्धि दूर कर देने के उद्यम को विनष्ट कर देती है। जब हम मा कह कर गोद में बैठाना चाहते हैं, जब हम मा की छाती से बिलकुल मिल जाने की आशा से आगे बढ़ते हैं, तब ही जीवत्व की मलिनता मातृ मिलन के विघ्न रूप से सामने आ खड़ी होती है, मा हमारी नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा है, और हम अशुध्द, अनित्य, अज्ञान और अनात्म-बोध-युक्त हैं, इसी से हम मिल नहीं सकते। इसी से हम सदा से संतापित अपना हृदय मा के स्नेह शीतल हृदय पर स्थापन कर आत्महारा हो नहीं सकते। और कभी-कभी यह कहने को बाध्य होते हैं - कि यदि यह

अमुक्त दशा में रह कर पूर्ण भाव से मातृ स्नेह भोग कर सकते तो मुक्ति की कोई आवश्यकता ही न थी। परन्तु हाय ! यह तो कभी हो ही नहीं सकता, बल्कि मा से प्रेम करने के लिये, यथार्थ मातृ स्नेह भोग करने के लिये, हमको भी मा की तरह नित्य, शुद्ध, मुक्त होना ही होगा। जब तक आमित्व के रेखा मात्र भी है, तब तक समझ लो कि हम मा को प्राण रुप से समझ ही नहीं सके हैं, महा-प्राण-मयी मा के अङ्ग में अपने व्यष्टि प्राण बिन्दु नहीं डाल सके हैं। भला वद्ध प्राण किस तरह मुक्त आत्मा से प्रेम करेंगे। इसी से वैष्णव दार्शनिक कहते हैं कि "जीव कभी ईश्वर हो नहीं सकता।" जीव तो सदा जीव ही रहेगा। जीव को तो ईश्वर होने का विचार करना भी पाप है।" यह कहना असङ्गत नहीं है। : बिन्दु मात्र जीव भाव रहने पर भी ईश्वरत्व लाभ नहीं हो सकता।

जीवत्त्व और ब्रह्मत्त्व, प्रकाश और अन्धकार की भांति परस्पर एकान्त विरुद्ध हैं, जीवत्व रहने से ब्रह्मत्व प्राप्त नहीं होता ! और ब्रह्मत्व पर पहुँच जाने से जीवत्व की गन्ध भी नहीं रहती। परन्तु जीव जब परम प्रेमास्पद परमात्मा का सन्धान पाता है, तब कुछ कुछ उसके प्रेम में मुग्ध होने लगता है, क्रम से परिपक्व अवस्था में वह प्रेम घनीभूत होकर जीव को आत्महारा कर देता है, अर्थात् ब्रह्म के सिवाय और कोई सत्ता खोजने पर भी नहीं पाता। इस अवस्था में जीव ब्रह्म भावमय हो जाता है। इसी से गीता के राज-गुह्ययोग में भगवान ने कहा है 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" जो भक्ति सहित मेरा भजन करते हैं, वे मुझ में ही अवस्थान करते हैं और मैं भी उनमें विशेष भाव से आत्म प्रकाश करता हूँ। इस अवस्था में जीव के साथ भगवान के भेद की एक रेखामात्र रह जाती है, वस्तुतः क्षण क्षण में अभेद, अद्वय स्वरूप ही प्रकाशित होता रहता है. यही जीवन्मुक्त अवस्था है, विदेह वा कैवल्य अवस्था में उस भेद की रेखा भी नहीं रहती। यही पूर्ण

प्रेम वा परम सायुज्य है।

अस्तु, हम प्रस्तावित विषय छोड़कर दूर आ गये हैं। महाऽसुर चिक्षुर का खड्ग और चर्म्म अर्थात् भेद ज्ञान और मलिनता ही हमारी यह पूर्ण प्रेममय अवस्था तक पहुंचने में बड़ी अन्तराय हैं। साधक! जब तुम "प्रियाय प्रियतमाय प्राणाय परमात्मने" कहते हुए मा के सामने खड़े होते हो, या मा को प्राण रूप से आत्मा रूप से अनुभव करने की चेष्टा करते हो, तब कौन तुमको मा की अङ्क से अलग कर देता है, वही "खड्ग चर्म्मधरोऽसुरः" यह खड्ग चर्म्मधारी महासुर चिक्षुर। एक बार अन्तर ही अन्तर यह अत्याचार उपलब्धि तो करो।

सिंहमाहत्य खड्गेन तीक्ष्णधारेण मूर्द्धनि ।
आजघान भुजे सव्ये देवीमप्यति वेगवान् ॥६॥

अनुवाद। अतिवेगवान महासुर चिक्षुर ने तीक्ष्णधार खड्ग से सिंह के मस्तक पर आघात कर देवी के बाँयें हाथ पर आघात किया।

व्याख्या। खड्ग = अति तीक्ष्णधार। मा एकजन मैं और एकजन हूँ, यह भेद बुद्धि अनादि जन्म सञ्चित है। इसी से यह अति दुरपनेय है। इसी से यह अति तीक्ष्ण है। मुख से हजार बार "ब्रह्महमस्मि, सोऽहमस्मि" कहने से क्या होगा? उस तीक्ष्ण धार असि के तीव्र आघात से तो परित्राण होता ही नहीं, सैकड़ों साधन करने पर भी भेद ज्ञान तो दूर होना ही नहीं चाहता। इस भेद ज्ञान का पहला कार्य्य सिंह के मस्तक पर आघात-जीव के उत्त-माङ्ग वा अभेद ज्ञान विषयक संस्कार को खण्डित करना है। चिक्षुर का खड्गाघात पहले सिंह के शिर पर ही होता है। अजी! जीव ही तो मानता है कि मैं अशुद्ध, मैं क्षुद्र जीव मात्र हूँ, किस तरह ब्रह्म होऊंगा, बड़ा सुन्दर रण कौशल है! साधक एक बार अपने

अपने अध्यात्म जीवन की आलोचना करके देखिये कि यह बात— सिंह के मस्तक पर चिक्षुर का खड्गाघात कितना सत्य है। सिर्फ इसी के कारण आप मा से बहुत दूर अवस्थान करते हैं और इसी के कारण जन्म मृत्यु की पेषण सहते हैं।

फिर दूसरी आघात मा के बायें हाथ पर। मा ने दायें हाथ से शत्रु मर्दन और बायें हाथ से पुत्र को अङ्क में धारण कर रक्खा है क्षण भर के लिये भी अङ्क से अलग नहीं करती, इसी कारण असुर ने मा के बायें हाथ पर आघात करके हमको मा की गोद से विच्युत करने चाहा है, हमें गोद से गिरा देने पर ही तो उसका उद्देश्य सिद्ध होता है, किन्तु हमने तो मा को पकड़ नहीं रक्खा है, मा ही हमको पकड़े हुए हैं, इसी से पराक्रमी असुरों आज हीन-बल हो गया है।

दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो आकर्षणी शक्ति मा का बायां हाथ हैं। प्रकृति की आत्माभिमुखी गति का नाम मा की आकर्षणी शक्ति है। वस्तुतः आत्मा की ओर से कुछ आकर्षण आरम्भ होने पर ही वहिर्मुखी प्रकृति आत्माभिमुखी होती है। यही बृन्दावन धाम में कदम्ब तरु के मूल पर श्रीकृष्ण की बंशी ध्वनि के आकर्षण से गोपियों का कुल त्याग बोलकर वर्णित हुआ है। जब अन्तर ही अन्तर यह व्यापार संघटित होता रहता है, तब बाहर जो लक्षण प्रकाशित होते हैं, उन्हीं का नाम निवृत्ति है। तब धीरे धीरे विषयासक्ति कम होती है। यह निवृत्ति ही मा का बायां हाथ है। अन्तर में जो मा का आकर्षण है, बाहर वही निवृत्ति धर्म रुप से प्रकाश पाता है। सब धर्म्मशास्त्रों ने इस निवृत्ति मार्ग का ही उपदेश दिया है। मा के दायं हाथ को प्रवृत्ति कहा जाता है। उन सब बातों से यहां विशेष प्रयोजन नहीं है, अथवा बायां हाथ अच्छी तरह समझ सकने से दायां हाथ अपने आप समझ में आ जायगा।

अब देखिये, असुर यदि मा के बायें हाथ को दुर्बल, अकर्मण्य कर सके तब ही तो उसका अभीष्ठ सिद्ध होगा ? यदि हमको निवृत्ति धर्म्म से विच्युत कर सकेगा, तब तो फिर हम असुर के किङ्कर होकर जीवन भर के लिये दासखत कर देंगे, इसी आशा से चिक्षुर ने मा के बायें हाथ पर आघात की है। कहा है कि मा ने बायें हाथ से हमको गोद में धारण कर रक्खा है। यह बात भी अब समझ लीजिये, निवृत्ति धर्म की सहायता से ही साधक आत्म-समर्पण के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, समस्त भार माँ के ऊपर अर्पण करके निश्चिन्त हो बैठते हैं। देखिये आपके चित्त क्षेत्र में जो असुरों का अत्याचार चलता है, यह जो भयङ्कर संग्राम विक्षोभ चलता है, इससे आप बिल्कुल विव्रत नहीं होते, इसका कारण क्या है ? मा ने तुम्हें अपनी आकर्षण शक्ति बायें हाथ द्वारा पकड़ रक्खा है, तुम यथाशक्ति आत्म-समर्पण योग की सहायता से मा की गोद में बैठे हो इसी से तुम्हारा निश्चिन्तता और अभय भाव है। सैकड़ों झंझट, हजारों सांसारिक पीड़ायें आकर भी तुम्हे व्यथित नहीं कर सकतीं, इसका एकमात्र हेतु मा तुम्हें गोद में लिये हुए हैं, तुमको मातृ अङ्क से विच्युतकर देने की आशा से ही चिक्षुर ने मा के बायें हाथ पर आघात की है।

तस्याः खड्गो भुजंप्राप्य पफाल नृपनन्दन।

ततो जग्राह शूलं स कोपादरुणलोचनः ॥ ७ ॥

अनुवाद। हे नृपनन्दन सुरथ! उस असुर की खड्ग देवी की हस्तस्पर्श से ही टूट गई, तब उसने क्रोध से लाल नेत्र कर शूल हाथ में लिया।

व्याख्या। विशारण वा भंग अर्थ बोधक फल धातु से पफाल पद निष्पन्न हुआ है। पफाल शब्द का अर्थ भग्न होना, मा का बांय हाथ बेकार करके हमको गोद से गिरा देने की आशा से

चिक्षुर ने खड्गाघात की थी, वह व्यर्थ हुआ, हमको मातृ-आकर्पण निवृत्ति के मार्ग से विच्युत कर न सकी। क्यों? हम तो मा को पकड़े नहीं थे, जो हमारा हाथ छुड़ा लेने से ही असुर का अभीष्ठ सिद्ध होता है? हम तो प्रवृत्ति, निवृत्ति दोनों हाथ उठा कर मा की जयध्वनि और आनन्द से नृत्य करते हैं। हममें प्रवृत्ति भी नहीं, और निवृत्ति भी नहीं। हमारे दोनों हाथ उठे देखकर मा ने हमें दृढ़ भाव से पकड़ रक्खा है। अतएव भय क्या? यदि हमारे हाथ पर असुर का खड्गाघात होता तो हमारा हाथ निश्चय ही छूट जाता, किन्तु यह है माका हाथ, यहां असुरकी खड्ग ही टूट गई।

जीव! जब तक तुम अपनी साधना द्वारा मा को पाने की चेष्टा करोगे तब तक पग पग पर असुर की आघात सहनी पड़ेगी। तुम केवल निवृत्ति मार्ग का आधार ही जीवन का लक्ष्य मत समझो, फिर प्रवृत्ति के वश भी उच्छृंखल मत हो, अपने रोम रोम में यह समझ लो कि हम नित्य ही मा की गोद में बैठे हुए हैं, निवृत्ति आवश्यक होगी, मा करा देगी। प्रवृत्ति के हाथ से आत्म रक्षा करना उचित समझेगी तब मा करा देगी। आप केवल दृढ विश्वास से धारणा कर लो कि "हम आश्रित हैं और मा आश्रय है"।

अस्तु, असुर की चेष्टा व्यर्थ हुई। भेदज्ञान कार्यकारी न होता हुआ देखकर चिक्षुर ने शूल हाथ में लिया। यह शूल क्या है? मूल अज्ञान! "मैं अपने को नहीं जानता" यह मूल अज्ञान है। अगणित जन्म मृत्यु, असंख्य जीव जगत्, ये सब यह एक मात्र अज्ञान के ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं। अतिसुक्ष्माग्र लोह निर्मित को शूल कहते हैं, यह मूलाज्ञान भी अतिसूक्ष्म है इसका यथार्थ स्वरूप समझ में आना अति कठिन है। सब विषयज्ञान वा अज्ञान, केवल आत्म विषयक अज्ञान रूप सूक्ष्माग्र शूल के ऊपर अवस्थित हैं। यह जो इतना बड़ा जगत् प्रपञ्च, यह जो इतना बड़ा अनन्त वैचित्र्य, यह जो

अनादि जन्म मृत्यु प्रवाह, यह जो हँसना रोना, सुख, दुःख, पाप, पुण्य, यह जो सञ्चित प्रारब्ध एवं आगामी कर्म बीज, ये सब "अपने को मैं नहीं जानता" रूप मूल अज्ञान के स्तम्भ पर ही प्रतिष्ठित हैं। यदि गुरु की कृपा से वह मूल अज्ञान किसी तरह विनष्ट हो जाय, तो बिना नीव के राज महल की भांति अकस्मात् जगत् प्रपञ्च विलय हो जाता है। बहुत साधना के फल से साधक इस मूलाज्ञान के समीप जा सकते हैं। भगवान् ने कहा है "बहू बहू जन्म के बाद जीव ज्ञानवान होता है।" ज्ञान का अर्थ ही — अज्ञान कैसा यह समझ सकना। शास्त्रादि अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान लाभ होने से मनुष्य यथार्थ ज्ञानवान नहीं होता। "मैं जो एक अज्ञानमात्र है" यह ठीक ठीक उपलब्धि करने का नाम ज्ञान है। भेदज्ञानके संस्कार भी असुर के अस्त्र अर्थात् उत्पीड़नमात्र हैं, ऐसा अनुभव होने से यह मूलअज्ञान पकड़ा जा सकता है। मा के चरणों की यथार्थ शरण ले सकने से किस तरह मुक्ति मन्दिर के समीप हुआ जाता है वही इस चण्डी तत्त्व में विशेषभाव से व्याख्यात् हुआ है। एक के बाद एक करके बन्धन किस तरह शिथिल हो जाते हैं, उन्हें विचारने पर भी चकित होना पड़ता है। जीवत्त्व की जितनी ग्रन्थियां हैं, मा दया करके उन्हें खोज खोज कर छिन्न कर देती है। जीव नहीं जानता कि उसका कहां अज्ञान, कहां भेदज्ञान, कहाँ बन्धन, कहां मुक्ति है, किन्तु मा की दृष्टि से कुछ छिपा नहीं रह सकता। मा अज्ञेय रोग के कीटाणुओं को प्रकट करके, सद्वैद्य की भांति समूल उखाड़ डालती है। इसी से कहा है कि जीव! ज्ञान से वा अज्ञान से केवल मा बोलकर आत्म निवेदन करो, तुम्हारी भव व्याधि अनायास दूर हो जावेंगी।

चिक्षेप च ततस्तत्तु भद्रकाल्यां महासुरः।

जाज्वल्यमानं तेजोभी रविबिम्बमिवाम्बरात् ॥८॥

दृष्ट्वा तदापतच्छूलं देवीशूलममुञ्चत ।

तच्छूलंशतधा तेन नीतं स च महासुरः ॥६॥

अनुवाद- अनन्तर महासुर (चिक्षुर) ने भद्रकाली पर शूल चलाया। सूर्य मण्डल की भांति जाज्वल्यमान वह शूल आकाश से आपतित हो रहा है देखकर देवी ने भी शूलत्याग किया। यह शूल के आघात से असुर निक्षिप्त शूल और वह महाअसुर दोनों ही शतधा खण्डित हो गया।

व्याख्या—असुर शक्ति ने एक तरफ जैसे हमको मोहाच्छन्न करके हमें सदा के लिये बांध रखने की चेष्टा की है, वैसे ही दूसरी तरफ मुक्ति मन्दिर का सुदृढ़ अर्गल तद्घाटित कर देते हैं। वर्षा ऋतु में गंगाजी का जल गदला अवश्य हो जाता है, किन्तु शीघ्र ही शरत् समागम से वह अत्यन्त निर्मल हो जायगा इसकी भी पूर्व सूचना करता है। शरीर के भीतर स्थित दूषित रोग बीजाणु, देहमय प्रकट व्याधि के आकार में प्रकाशित होकर मनुष्य को अत्यन्त पीड़ा अवश्य देते हैं, किन्तु देह को सर्वथा निरोग करने के लिये वही आवश्यक हैं। साधक अब तक केवल परिच्छिन्न भाव असुरों की असहनीय पीड़ा सहते आते थे, किन्तु आज उस असुर ही ने उन्हें भावों के मूल केन्द्र पर पहुंचा दिया है। असुर ने शूल निक्षेप किया है, साधकने मूलअज्ञान का सन्धान पाता है। इस तरह जिस मुहूर्त में जीव "अपने को मैं नहीं जानता" ऐसे मूल अज्ञान का सन्धान पाता है, उसी क्षण अज्ञान की मूल शिथिल हो जाती है। अपने दोष आप ठीक ठीक उपलब्धि कर सकने से ही दोष का प्रतीकार होता रहता है।

कुछ लोग शायद कहे कि इस बात को कौन नहीं जानता कि हम अपना स्वरूप न जानने ही से बद्ध जीव हुए हैं। बाबा मुख से कहने ही से जानना नहीं होता, जानने के मानी हैं उपलब्धि करना।

वेदान्त की भाषा में इसको कारणशरीर वा आनन्दमय कोष कहते हैं, विज्ञानमय कोष में स्वाधीन भाव से विचरने की योग्यता होने पर इस अज्ञान का सन्धान मिलता है, वे बातें उपस्थित करके विषय को जटिल करना हमारा उद्देश्य नहीं है, स्थूल बात यह है कि मातृ चरणों में निर्भरशील, मातृ-लाभ की इच्छा रखने वाली सन्तान किस तरह अनायास वेदान्त प्रतिपाद्य विशुद्ध ज्ञानमय स्वरूप पर पहुंचती है, वही यहाँ प्रतिपाद्य है। जीव ज्ञानमें वा अज्ञान में, सुखमें वा दुःखमें पापमें वा पुण्यमें, सब अवस्थामें जब पूर्ण भाव से मातृ चरण में निर्भरशील होता है तब ही ऐसा अघटन संघटन होता है। इसी से असुर ने भद्रकाली की प्रति शूल निक्षेप किया जीव ने मूलअज्ञान का सन्धान पाया। जो महाकाल शक्ति के भी ऊपर अधिष्ठिता है, जो सर्वतोभद्रस्वरूपा—नित्य मङ्गलमयी है, वह भद्रकाली मा ही जीव के भारों को स्वहस्त में ग्रहण करके जीव को इस तरह मूल अज्ञान का सन्धान देकर निश्चिन्त भाव से विशुद्ध आनन्द उपभोग का सुयोग प्रदान करती है?

अस्तु, मन्त्र में कहा गया है कि जाज्वल्यमान सूर्य बिम्ब की भाँति उस शूल को आपतित देखकर, देवी ने स्वकीय शूल चलाया उससे असुर और उसका चलाया शूल दोनों ही विनष्ट हो गये, साधक भी जब पूर्वोक्त मूल अज्ञान के समीप पहुँचता है अर्थात् कुछ कुछ मूल अज्ञान का स्वरूप समझने लगता है तब उसको तेजः पुञ्ज सूर्य्य बिम्ब की भाँति दुर्निरीक्ष्य ही मानता है। जिस तरह सूर्य्य मण्डल की ओर दृष्टि पड़ते ही नेत्र निमीलित करने पड़ते हैं, ठीक उसी तरह मूल अज्ञान के समीपस्थ होते न होते वैषयिक ज्ञान फूटने लगता है। यह मूल अज्ञान यथार्थ ही देखने में कठिन है, और कह कर भी समझाया नहीं जा सकता। साधक जब सब विषयोंका स्पन्दन निरूद्ध कर आत्म संस्थ होनेकी चेष्टा करते हैं तब धीरे धीरे यह मूलाज्ञान उपलब्धि योग्य होता है। और पलभर में ही

लक्ष्यच्युत होकर फिर वैषयिक स्पन्दन ग्रहण करना है। यही विक्षेप शक्ति की अन्तिम प्रजल्प है। किन्तु यह जितना ही दुनिरीक्ष्य क्यों न हो। मा के शूल की चोट से अवश्य विलीन हो जाता है। मा का शूल क्या ? आत्मज्ञान ! हमारा स्वरूप क्या है, यह अनुभव कर सकने से उसी क्षण जीव का अज्ञान और उससे उत्पन्न जन्म-मृत्यु बन्धन और मुक्ति आदि फल दोनों एक साथ विलय हो जाते हैं। वह दृढ़तापूर्वक समझ देता है कि मैं तो विशुद्ध बोध स्वरूप, केवल "ज्ञ" पदार्थ हूं। ऐसा उपलब्धि होनेसे ही मन बुद्धि चित्त इन्द्रिय देह आदि सब संस्कार विलुप्त हो जाता है। साधक को बार बार इन विषयों की आलोचना करनी चाहिये, तब अज्ञान दूर होगा।

हते तस्मिन महावीर्यें महिषस्य चमूपतौ।
आजगाम गजारूढ़श्चामरस्त्रिदशार्दनः॥ १०॥

अनुवाद। महिषासुर का सेनापति चिक्षुर निहत होने से देवताओं को पीड़ा देने वाला चामर गजारोहण से युद्ध के लिये आया।

व्याख्या। विक्षेप शक्ति का विलय हो गया, आवरण शक्ति के युद्ध और विलय का विषय अब कहते हैं। सबसे प्रधान सेनापति चिक्षुर ही जब मा के शूलाघात से अनायास निहत हो गया, तब अन्यान्य सेनाओं शीघ्र ही विनष्ट होने में विचित्रता क्या है। चामरादि असुरों का विवरण पूर्व विस्तारपूर्वक वर्णित हो चुका है। इस मन्त्र में चामर के दो विशेषण देखते हैं, एक त्रिदशार्दन, दूसरा गजारूढ़। त्रिदशार्दन के मानी है देवताओं को पीड़ा देने वाला। अनात्म-वस्तु की प्रतीति ही आवरण शक्ति का कार्य्य है। आत्मा का नाम है अमृत, देवता सदा उसी अमृत के भोगी अर्थात् आत्म संस्थ हैं। किन्तु आवरण शक्ति के प्रभाव से प्रति-नियत अनात्म वस्तु का भान होता है। अतएव देवता उस अमृत

से वञ्चित रहते हैं। यही देवताओं पर चामर आदि असुरों का उत्पिड़न है। दूसरी विशेषण है गजारूढ़। गज धातु का अर्थ है बन्धन। जहां आवरण है वहीं तो बन्धन है। आत्मा—मा नित्य स्व-प्रकाश स्वरूप है—यह न समझना ही जीव का बन्धन है। आत्मा के सिवाय और किसी एक की सत्ता प्रकाशित न कर, आवरण शक्ति ने मानो आत्मा को अच्छादित कर रक्खा है। आत्मा जब तक आवृत है, तबतक ही जीव वद्ध है, इस कारण गज अर्थात् बन्धन ही चामर के योग्य वाहन है।

सोऽपि शक्तिं मुमोचाथ देव्यास्तामम्बिका द्रुतम्।
हुङ्काराभिहतां भूमौ पातयामास निष्प्रभाम् ॥११॥

अनुवाद। उस चामर ने भी देवी को लक्ष्य करके शक्ति निक्षेप किया, किन्तु अम्बिका हुङ्कार द्वारा वह अभिहत और निष्प्रभ करके धरती पर निपातित कर दिया।

व्याख्या। देहादि अनात्म वस्तुओं की प्रतीति आवरण शक्ति का कार्य है। यही चामर का निक्षिप्त शक्ति अस्त्र है। अम्बिका मा हा मारी ने तुरन्त ही हुङ्कार द्वारा उसे व्यर्थ कर दिया। हुङ्कार एक शब्द विशेष है। अत्यन्त क्रोधित होने पर वाकययन्त्र से ऐसा शब्द निकलता है। मैं स्वप्रकाश स्वरूप। मेरे ही प्रकाश से सब प्रकाशमय हैं, मुझे कौन आवृत कर सकेगा ? ऐसा क्रोध मूलक भाव होने पर ही आवरण शक्ति हीनबल हो जाती है। पक्षान्तर में हुङ्कार अपने अपने इष्ट मन्त्र वा प्रणव का उपलक्षन है। तन्त्र शास्त्र में हुङ्कार को बीज कहा है। तन्त्रोक्त मन्त्रों को चैतन्यमय कर जप करने से आवरण शक्ति को बलहीन करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। साधकजन उन मन्त्रों की सहायता से चित्त को अनात्म भाव से आकृष्ट कर आत्म संस्थ करने की चेष्टा करते हैं। जब तक इस तरह अपने किये अध्यवसाय की ओर लक्ष्य रहता है—अर्थात् मैं

मन्त्र जप करके सिद्धि प्राप्त करुँगा - ऐसा बोध रहता है तब तक प्रायः व्यर्थ मनोरथ होने होता है, और जब देखते हैं कि "मा" ही हुङ्कार आदि मन्त्र रुपसे आत्म प्रकाश करके अनात्म भावोंका विलय करने को तय्यार हुई हैं, तब ही आवरण शक्ति का कार्य विनष्ट प्राय हो जाता है।

खुलाशा यह है कि यद्यपि आत्मा स्वप्रकाश निरावरण स्वरूप है, तथापि जब हम विषय दर्शन करते हैं तब ही अनात्म वस्तु का भान होता है और आत्म वस्तु आवृतवत् रहती है। केवल आत्मा के शिवाय कहीं भी कुछ नहीं है, यह बात हजार बार समझ लेने पर भी प्रारब्ध - संस्कार - वश अनात्म वस्तु की भान होती है। प्राण-प्रतिष्ठा ही अनात्म भाव दूर करने का एक मात्र उपाय है। प्रथम मा के—आत्मा के अस्तित्व में विश्वास होता है इसका नाम है "सत्य प्रतिष्ठा"। इसके बाद प्राण ही मा प्राण ही आत्मा है प्राण ही जगतमय परिव्याप्त है। विषय के आकार में प्राण की ही पृथक् पृथक् मूर्ति को हम सदा उपलब्धि कर रहे हैं, बार बार यह अभ्यास के सहायता से प्रतिष्ठित करने होता है। हुङ्कारादि मन्त्रों को "प्राण-प्रतिष्ठा" रुप साधना के सहकारी आधार रुप से ग्रहण करने होता हैं। यह तत्त्व श्रद्धापूर्वक विनीत भाव से श्री गुरुमुख से शिक्षा करने पर शीघ्र फलदायक होते हैं।

भग्नां शक्तिं निपतितां दृष्टवा क्रोधसमन्वितः ।
चिक्षेप चामरः शूलं वाणैस्तदपि साच्छिनत् ॥१२॥

अनुवाद। शक्ति अस्त्र व्यर्थ हुआ देख कर चामर ने क्रोधपूर्वक शूल चलाया, देवी ने वाण प्रयोग से उसे छिन्न कर दिया।

व्याख्या। विक्षेप शक्ति की आखिरी चेष्टा जैसे मूल अज्ञान का जागरण है, उसी तरह आवरण शक्ति का भी सबसे अन्तिम प्रयत्न शूल निक्षेप, वा मूल अज्ञान की उद्वोध है। साधक आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों को पकड़ कर प्राण प्रतिष्ठा के मार्ग

पर अग्रसर होने से ही इस मूल अज्ञान के समीप जा पहुँचते हैं। यहां पहुँचने पर मातृ कृपा से अनायास यह अज्ञान भेद हो जाता है। मा बाण प्रयोग से अपनी आकर्षणी शक्ति के प्रभाव से थोड़े ही समय में सन्तान को अज्ञान से ज्ञानमय अवस्था में ले आती है।

यह कैसे सम्भव होता है ? "अपने को मैं नहीं जानता" यह जो मूल अज्ञान है यह भी जानने मात्र रूप विशुद्ध ज्ञान पर ही अवस्थित है, यही ज्ञान अज्ञान का अनिर्वचनीय सम्मेलन है। साधक जब गुरु कृपा से धीरे धीरे विक्षेप और आवरण शक्ति का मूल तलाश करते करते आगे बढ़ता है, तब इस अनिर्वचनीय अज्ञान पर पहुंचता है, बड़े सौभाग्य के फल से, अनेक जन्मार्जित श्रद्धा विश्वास भक्ति के फल से, इस मूल अज्ञान का सन्धान पाता है, यहां खड़े होने पर विशुद्ध ज्ञान का स्वरूप प्रतिभात होता है, क्योंकि यह अज्ञान विशुद्ध आत्मबोध पर ही प्रतिष्ठित है। आओ, अज्ञानान्ध जीव, दुःखित, शोक कातर, संसार क्लिष्ट जीव ! आओ, मा गुरु, आत्मा सत्य, प्राण कहते हुए दौड़ कर आओ, तुम अज्ञान से पार हो जाओगे। अमृत का सन्धान पाकर धन्य होगे।

ततः सिंहः समुत्पत्य गजकुम्भान्तरस्थितः ।
बाहुयुद्धेन युयुधे तेनोच्चैस्त्रिदशारिणा ॥१३॥

अनुवाद। अनन्तर सिंह गजकुम्भ दोनों के बीच में अवस्थान करता हुआ उस त्रिदशारी के साथ घोरतर बाहु युद्ध करने लगा।

व्याख्या। विक्षेप और आवरण शक्ति के अन्तिम प्रयत्न के फल से ही जीव मूल अज्ञान का पता पाता है और साथ ही साथ ज्ञान मय स्वरूप का उपलब्धि करता है। असुर आप ही अपने नाश का मार्ग खोल देते हैं। इसी से देखते हैं कि चिक्षुर और चामर दोनों ही ने देवी को लक्ष्य करके शूल चलाया और उसी के फल से जीव

ने यथार्थ ज्ञान का पता पाया। असुरों के अत्याचार की मात्रा जितनी अधिक होती है साधककी आत्म प्रतिष्ठा भी उतनी ही शीघ्र होती है। देखिये, असुर ने यहाँ विचार किया था कि मूल अज्ञान का स्वरूप साधक के सामने रख सकने से ही वह सदा कि तरह अधीनता मान लेगा, परन्तु फल उलटा हुआ। साधक मूल अज्ञान के घोर अन्धकार की बगल में ही आत्मज्ञान का समुज्वल प्रकाश देख कर सिंह विक्रम से चामर असुर से युद्ध करने लगा।

जीव अब यहां ज्ञान-अज्ञान के सम्मिलन स्थान—बन्धन और मुक्ति के मध्य स्थल में पहुंच गया है। यही "गज कुम्भान्तर स्थित" होना है। पूर्व कहा है कि—महासुर चामर गजारोहनहोकर युद्ध क्षेत्र में आया था, जहां बन्धन का अन्त और मुक्ति का आरम्भ होता है, उसी स्थान को 'गज कुम्भान्तर' कहा जाता है, मूल अज्ञान ही बन्धन का अन्तिम विन्दु है, उसी स्थान से ही मुक्ति का आस्वाद पाया जाता है। इस बन्धन और मुक्ति के बीच की जगह पर खड़ा होकर सिंह—जीव प्राणपण से असुरों के नाश के लिये विक्रम प्रकाश करता है।

पूर्व कहा गया है कि जीव जब पहले पहल मुमुक्षू होता है, तब स्त्री पुत्र कुटुम्ब परिवार को ही बन्धन समझता है। परन्तु क्रम से ज्ञान विकाश के साथ ही साथ यह भी समझने लगता है कि देह इन्द्रिय मन बुद्धि ये ही बन्धन हैं। फिर सब से अन्त में देखता है कि मेरा यथार्थ बन्धन तो यह मूल अज्ञान है, क्योंकि "मैं अपने को नहीं जानता" यह अज्ञान ही बन्धन का यथार्थ स्वरूप। न जाने किस अनादि काल से, किस ख्याल से इस अज्ञान को स्वीकार कर लिया है कि उस एक बून्द अज्ञान पर खड़े हुए हमें अनेक युग युगान्तर बीत गये, लगातार जन्म मृत्यु का प्रवाह चल रहा है, कितना सुख दुःख के स्वप्न देखते हैं और उस अज्ञान पर खड़े होकर ही उसको विलय करने को अनेक चेष्टा, कई प्रकार की कठिन तपस्या,

कठोर व्रत नियम, धर्म्मचर्य्या का अनुष्ठान करते आये हैं। यह चित्र एक बार नेत्र गोचर होने से, आनन्दमयी, लीलामयी, महामाया मा के चरणों में प्रणत हुए बिना रहा नहीं जाता।

धन्य मा तेरी यह अनिर्वचनीय लीला। मा! हजार बार समझ लेने पर भी भूल जाते हैं। यह जन्म! मृत्यु, हर्ष। क्रन्दन बन्धन मुक्ति, जो कुछ है, वह सब ही तो इच्छामयि! तेरी ही इच्छा मात्र है, ये प्राण इस बात को किसी तरह मानना नहीं चाहते। मा! तुम्हारी इच्छा से अज्ञान, तुम्हारी इच्छा से बन्धन और फिर मुक्ति भी तुम्हारी इच्छा से ही है। अब कब तक यह बन्धन— देखोगे मा! तूने अपने दोनों हाथों को कैसे कठोर सङ्कल से जकड़ लिया है, जेट भर ली है। त्रिनयनि! एक बार नेत्र खोल कर देख, हम कितने काल से, कितने जन्म जन्मान्तर से इस अज्ञान के बन्धन की यातना सहते चले आ रहे हैं। अब नहीं सही जाती छाती फट जाती है। एक एक लहर आती है और मर्म स्थान से टकरा के चली जाती है। समुद्र की उत्ताल तरङ्गों की तरह एक एक भाव आकर न जाने कितने अनादि काल से जोर की आघात् कर रहे हैं। मा! कितने दिन में यह मर्म पीड़ा की अवसान होगी। दिन पर दिन वर्ष पर वर्ष गुजरते जाते हैं, हृदय में आशायें लगाये दिन गिन रहें हैं। परन्तु कहाँ मा! तू तो हमारी व्याथा दूर करने के लिये- चिर दिन की तरह जीवत्व के बन्धन के मुक्त करने के लिये तू ही स्नेहमयी मा की तरह दौड़ कर नहीं आई, तूने भी तो हमारे इस क्षत विक्षत हृदय से कभी यथार्थ मुक्ति का अमृतमय स्पर्श नहीं कराया। मा! मा! मा! अब और कुछ नहीं कहना है, तू केवल यह समझा दे कि तेरा हमसे यथार्थ ही स्नेह है। तू सचमुच हमारा प्राण है। तू ही सचमुच हमारी आत्मा है, हमारी मैं है, बस सिर्फ यही एक बात ठीक ठीक समझ में आ जाने से हमारी सब यातनायें की अवसान होगी।

अस्तु इस मंत्र में चामर के साथ सिंह के बाहु युद्ध की बात कही गई है। बाहु युद्ध का रहस्य प्रथम खण्ड में विशेष भाव से समझाया जा चुका है। जीव जब एक बार अज्ञान के पार का सन्धान पालता है, तब वह ज्ञान अज्ञान के बीच स्थान पर खड़ा होकर सब तरह के वैषयिक स्पन्दन को प्रवृत्ति निवृत्ति रूप दोनों हाथों से पकड़ कर ज्ञान वक्ष पर विलीन करने का प्रयास करने लगता है।

युध्यमानौ ततस्तौ तु तस्मान्नागान्महीं गतौ ॥
युयुधातेऽतिसंरब्धौ प्रहारैरतिदारुणैः ॥ १४ ॥

अनुवाद। वे दोनों (चामर और देवी का वाहन सिंह) युद्ध करते करते धरती पर उतरा और अत्यन्त क्रोधवश कठोर प्रहार से युद्ध करने लगे।

व्याख्या। जीव जब प्राण प्रतिष्ठाकी सहायतासे प्रवृत्ति निवृत्ति रुप दोनों हाथों द्वारा वैषयिक स्पन्दनों को महाप्राण-मयी मा के अङ्क में मिला देते हैं अर्थात् अनात्म वस्तु के भान को पूर्ण रूप से विलय करके, विशुद्ध आत्म बोध में अवस्थान करने की चेष्टा करते हैं, तब एक-एक बार वे बन्धन और मुक्ति के केन्द्र से अवतरण करने होता हैं। उस सूक्ष्म बोधमय अवस्था से स्थूल में उतर आते हैं। उद्देश्य सब स्थूल ज्ञान को भी बोधमय अवस्था में ले जाना। यही गजकुम्भान्तर से पृथ्वी पर अवतरण और आपस में घोर प्रहार करना है। अजी ! पार्थिव भावों ने जो बहुदिन से साधक के चित्त में सघन स्थूल संस्कार जमा दिये हैं, उन्हें विलय करने के लिये पुनः पुनः बोधमय सत्ता पर लाना होता है। जिनको हम जल, मिट्टी वृक्ष, पर्वत, जीव जन्तु आदि स्थूल अति जड़ पदार्थ रूप में देखते हैं, उनकी वास्तव सत्ता बोध वा प्राण के सिवाय और कुछ भी नहीं है, ऐसा उपलब्धि केवल बाहु युद्ध से ही दृढ़ प्रतिष्ठित हो सकता है।

साधक ! केवल देखते रहो-तुम्हारी प्रवृत्ति जिसे चाहे ग्रहण करे,

और निवृत्ति जिसे न चाहे—त्याग करे, वे सब ही तुम्हारे प्राण तुम्हारे बोध ही हैं। तुम एक बार मूल अज्ञान से क्षिति तत्व पर्यन्त प्रत्येक वस्तु को लेकर प्राणमय सत्ता में मिला देने की चेष्टा करो। यही आवरण शक्ति के साथ जीव का अति कठोर बाहु युद्ध है। असुर के पक्ष में—जड़ भाव के पक्ष में वास्तविक ही यह घोर प्रहार है। कितना जन्म से जड़त्व का स्वांग ले रहे हैं और आज सब ही चैतन्यमय—बोधमय हो चला है। असुरों के पक्ष में इससे अधिक चोट और क्या हो सकती है। फिर जीव के पक्ष में भी यह असुर का दारूण आघात है। क्योंकि जीव गुरु कृपा से अच्छी तरह समझ सका है कि जगत बोलकर जो प्रतीति हो रहा है, यह मेरे ही प्राण के सिवाय और कुछ नहीं है, किन्तु तो भी जड़ वस्तु की प्रतीति एकदम विलुप्त नहीं हुई। इसी से मन्त्रमें भी आपस में घोर प्रहार ही कहा गया है।

ततो वेगात् खमुपत्य निपत्य च मृगारिणा।
का प्रहारेण शिरश्चामरस्य पृथक् कृतम्॥ १५ ॥

अनुवाद। अनन्तर मृगारि ने आकाश में उछल कर कर प्रहार से चामर का शिर शरीर से अलग कर दिया।

व्याख्या—यहाँ जीवको मृगारि कहा गया है। मृगारिका अर्थ है अन्वेषणका शत्रु। अन्वेषणर्थक मृग् धातु से मृग शब्द बना है। जीव जब माके अन्वेषण का शत्रु होता है तब ही उसे मृगारि कहा जाय। मा कहां है? इस तरह अन्वेषण का भाव जब एकदम तिरोहित हो जाता है तब ही जीव मृगारि होता है। साधक! तुम्हें अन्वेषण के नेत्र बन्द कर लेने ही होगा। तुम को मृगारि होना ही होगा। ऐसा हुए बिना चामर निधन नहीं होगा—आवरणदोष दूर न होगा। अजी! किसका अन्वेषण करोगे? जो वस्तु कहीं छिपी हो उसी को तो ढूँढ़ कर बाहर लाना होता है। परन्तु हमारी मा तो सर्वत्र

सुप्रकाश स्वरूपा है। मा के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है। तब उसे अन्वेषण क्या करोगे? जो कुछ देखो, जो सुनो, जो विचारो तो वह सब मा ही तो है। तुम्हारे ऊपर-नीचे, दायें बायें, आगे-पीछे सर्वत्र ही तो मा है, और भी निकट तुम्हारे हृदय में वह नित्य विराजती है। अजी, इतना सुलभ, इतना सहज और क्या है? केवल मा कहने का अभाव है, मा का अभाव कहीं नहीं। जब तक देखो तुम ध्यान धारण की सहायता से मा को देखने के चेष्टा करते हो—तब तक ही समझोगे कि तुम मा को अन्वेषण करते हो। अन्वेषण के चक्षु मूँद लो। सर्वत्र मा को देखो। मा कह कर, प्राण कह कर आदर करो। आपने प्राण को कितना आदर करते हो, प्रेम करते हो कितना, यह प्राण ही तो मा है, वह मा ही तो विश्व में व्याप्त हो रही है। अब अनादर और अविश्वास मत करो। प्रत्येक भाव में, प्रत्येक चेष्टा में, मा को देखते रहो। तुम भी मृगारि हो जाओगे तुम्हारा बहुजन्म सञ्चित अज्ञान का आवरण दूर हो जायगा।

जब तक जीव शिशु रहता है—अज्ञान रहता है, तब तक ही तो मा कहाँ है, ऐसा कहता हुआ मा को ढूँढ़ता है, किन्तु एकबार यदि समझले कि "पूर्णमन्तर्वहिर्येन" "त्वयाततं विश्वं" "स एवं सर्वं" तब क्या फिर उसे ढूँढ़ना होता है जो कुछ देखता, छूता, जानता हैं—वह सब ही प्राण है—मा है। साधक। यदि तुम मिट्टी पकड़कर 'मा' ही न कह सको, जल को छूकर रसमयी मा की सत्ता न समझ सको, यदि समीरण के स्पर्श से मातृ स्पर्श बोलकर पुलक कण्टकित न हो, तो किस बलसे किस साहससे तत्वातीता, भावातीता माको पकड़ने के लिये आगे बढ़ोगे? एक आत्म सम्वेदन में कहा है—'जगदर्शन मात्रेण न चेदात्मस्मृतिर्भवेत्। विश्वातिगं परं ब्रह्म कथ गच्छेन्निरञ्जनम्" जगत् को देखते ही जिसे आत्म स्मृति न हो—मा की याद न आ जाय, वह किस तरह विश्व के अतीत निरञ्जन पर

ब्रह्म तत्व पर पहुंच सकेगा ?

अस्तु, मन्त्र में कहा है कि मृगारि ने आकाश में उछल कर, चामर का शिरच्छेद किया। जीव का भी जब अन्वेषण का भाव दूर हो—साधक जब चक्षु से देखते ही मा ही दीख पड़े, तब ही मृगारि होकर आकाश में उछलता है—निर्मल चिदाकाश में अवस्थान करता है और वहाँ से अनात्म भाव के आवरण को विलय करके, परमात्म रस के आस्वाद से अमर हो जाता है।

इस तरह चिक्षुर और चामर असुर निहत होता है—विक्षेप और आवरण शक्ति विलय होता है। विशुद्ध बोध खिल उठा। साधक यह न समझे कि एक दिन सिर्फ एक बार विक्षेप अथवा आवरण के पञ्जे से छूट जाने पर जीवन में फिर कभी चित्त क्षेत्र में विक्षेप न आवेगा, अथवा अनात्म भाव उदित न होगा। यह बात नहीं—जब तक देह है, तब तक ही विक्षेप और आवरण भी है। परन्तु वे फिर कभी मा के दर्शन में बाधा नहीं पैदा कर सकेंगे, मा के अस्तित्व में संशय नहीं ला सकेंगे, मातृ प्रकाश को आवृत नहीं कर सकेंगे। वे रहेंगे, किन्तु मस्तक विहीन, और पीड़ित नहीं कर सकेंगे। जब तक प्रारब्ध क्षय न होगी तब तक वे शिर रहित मुर्दे की तरह अवस्थान करेंगे।

उदग्रश्च रणे देव्या शिलावृक्षादिभिर्हतः।
दन्तमुष्टितलैश्चैव करालश्च निपातितः॥ १६॥

अनुवाद। देवी ने उदग्र असुर को पत्थर और वृक्षादि प्रहार से एवं कराल असुर को दन्तमुष्टि और तल प्रहार से निपातित किया।

व्याख्या—विक्षेप और आवरण शक्ति ही सब असुरों का आश्रय है। मुल विनष्ट होने से शाखा और डलियाँ तो सहज ही नष्ट हो जाती हैं। उदग्र—दर्प ? कर्तृत्व अभिमान है,—यह पूर्व

ही कहा है। देवी ने उसे शिला वृक्षादि के प्रहार से निहत किया। वृक्ष, पत्थर, मिट्टी आदि पार्थिव पदार्थ ही तो हमारे दर्प के विषय हैं। उन्हीं का कुछ संग्रह करके मेरा बोलकर पकड़ रखते है और अपना मानकर मन ही मन गर्व अनुभव करते हैं। कभी-२ बातों से अपना गर्व प्रकट भी कर देते हैं। किन्तु चिन्मयी मा का आविर्भाव होने में अर्थात्—सर्वत्र प्राणमय सत्ता के दर्शण मे अभ्यस्त हो जाने से, वह दर्प समूल नष्ट हो जाता है। क्योंकि, तब इधर जैसे जड़त्व ज्ञान के अभाववश सञ्चय करने को कुछ मिलता नहीं और उधर "अपना" कहने को भी कुछ रहता नहीं। इस तरह उग्रम असुर का उन्नत शिर विच्छिन्न होता है। साधक याद रखें कि अहङ्कार का नाश ही मातृ-दर्शन का फल है। जब तक माको—यथार्थ मैं को देखा न जा सके, तब तक ही इस कल्पित मैं को लेकर दर्प करने का अवसर रहता है। किन्तु एक बार मैं का पता मिलने से—फिर दर्प का लेश भी नहीं रहता। तब आचार्य शङ्कर के सुर में सुर मिला कर कहते हैं—"किं करोमि कगच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किं। आत्मना पूरितं सर्वं महाकल्पाम्बुना॥"

इसके बाद कराल असुर—इसका नाम भय अथवा आत्म अस्तित्व नाश की कल्पना के कारण चित्त का एक प्रकार सङ्कोच भाव है। मैं न रहूंगा, मैं मरुंगा, ऐसा कुछ कल्पित सङ्कोच होना शिशु जीवों का अत्यन्त स्वभाविक है। अज्ञान के कारणसे ही ऐसा कल्पित भय उपस्थित होता है। इसी को कराल असुर कहा जाता है। यह मृत्यु भय मनुष्य को स्वाधीन भाव से आनन्द भोग नहीं करने देता, शिशु जीवों के लिये वह अत्यन्त हितकारी है, क्योंकि इससे उच्छृङ्खल गति को संयत कर रखती है। यदि मृत्यु भय न होता तो मनुष्य पशु से भी अधम होता। यह कराल असुर का अत्याचार ही हमारी मातृ मुखी गति फिरा देता है। साधारण मनुष्य जो दिन रात मृत्यु भय से शङ्कित हैं, वह बाहिर से किसी

उपाय से समझ में नहीं आता। अच्छी तरह खाते-पीते, हँसते-खेलते, बातचीत करते, आमोद उत्सव मनाते हैं, तब उन्हें भय कहां? किन्तु कुछ धीर भाव से देखने पर अच्छी तरह समझ सकोगे-कि जीव मृत्युभय से कितने संकुचित हैं, खुले प्राण से, स्वाधीन भाव से कोई काम नहीं कर सकते। आहार विहार अत्यन्त तृप्तिप्रद होने पर भी अनिच्छा से त्यागने को वाध्य होते हैं; पीछे पीड़ा होती है, रोग होता है। इस तरह स्वाधीन भाव से कोई विषय भोग नही कर सकते। मृत्यु भय से भोग संकुचित होता है, इसी से मनुष्य मात्र ही भोग की अपेक्षा सञ्चय अधिक करने को वाध्य है। शास्त्र में कहा है—"सर्वं वस्तुभयान्वितं भुवि नृणां वैराग्य मेवाभयम्।" पृथिवी में सब वस्तुओं भयान्वित है केवल वैराग्य ही अभय है! अभया-मा को पाये बिना वैराग्य आता नहीं। वैराग्य आये बिना कराल असुर निहत नहीं होता। कितना ही योग कौशल साधन क्यों न करो, मृत्यु भय जीव के साथ ही चल रहा है। मृत्यु का कराल चीत्कार जिससे न सुनाई दे इसीसे मनुष्य दिन रात विषय, चिन्ता, काम काञ्चन की सेवा करने को वाध्य होता है। सूखी हँसी हँस कर उस चीत्कार को छिपाने की चेष्टा किया करता है। थोड़ा विचार कर देखने से समझ सकोगे कि हमारी जो आहार निद्रा विषय चिन्ता है वह सब मृत्यु के हाथ से बचने के लिये ही है। जीवन के मानी मृत्यु के साथ युद्ध करना है। कुछ दिन इस तरह आत्म रक्षा करके भी अन्त में किन्तु एक दिन उसी के हाथ में आत्म-समर्पण करना होता है। उससे बचने का उपाय केवल मा की कृपा है। तुमने मा को पकड़े हो, इसीसे मा ने तुमको इस मृत्यु भय रूप कराल असुर की पीड़ा से बचाने के लिये दाँत, घूंसे और करतल प्रहार किया है। पहले तो मा दंष्ट्राकराल मुख व्यादन करके कराल असुर को जगत् ग्रास करने वाली दन्तपंक्ति दिखाती है। दूसरे मुट्ठी द्वारा उसे ग्रहण करती है, तीसरे करतल द्वारा अभयदान देती है। आध्या-

त्मिक रहस्य से देखो—कालज्ञान से मृत्युभय उपस्थित होता है। यह कालशक्ति जहां निरूद्ध है उस महाकाली चितिशक्ति की ओर लक्ष्य स्थापन करने से सर्व भाव रूप मृत्यु भय अपने आप विलय हो जाता है। मुष्टिप्रहार शब्द का अर्थ आदान शक्ति समझना होगा। हमारी मा हजार हाथों की हजार मुट्ठियों से सब भावों को पकड़ पकड़ कर अपने अङ्ग में विलीन कर देती है। फिर हाथ उठाकर करतल दिखाती हुई जीव को अभय प्रदान करती है। अभय ज्ञान ही मा का करतल है। श्रुति भी कहती है—"द्वितीयाद्वै भयं भवति।" द्वितीय प्रतीति से ही भय आपतित होता है। एकत्व ज्ञान पर उपनीत होने से अर्थात् सर्वभाव—बहुभाव का सम्यक् विलय होने से ही जीव अभय होता है। मृत्यु भय सदा के लिये दूर हो जाता है।

देवी क्रुद्धा गदापातैश्चूर्णयामास चोद्धतम्।
वास्कलं भिन्दिपालेन वाणैस्ताम्रं तथान्धकम् ॥१७॥
उग्रास्यमुग्रवीर्यञ्च तथैव च महाहनुम्।
त्रिनेत्रा च त्रिशुलेन जघान परमेश्वरी ॥१८॥
विडालस्यासिना कायात् पातयामास वै शिरः।
दुर्द्धरं दुर्म्मुखञ्चोभौ शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥१९॥

अनुवाद। देवी ने क्रुद्ध होकर उद्धत असुर को गदाघात से, वास्कल असुर को भिन्दिपाल अस्त्र से, ताम्र और अन्धक असुर को वाण द्वारा निहत किया। इस तरह त्रिनयना परमेश्वरी ने त्रिशूल के आघात से उग्रास्य उग्रवीर्य और महाहनु नामक तीन असुरों को निहत कर दिया। असिके आघात से विडालाक्ष नामक असुर का मस्तक विच्छिन्न कर दिया और दुर्मुख और दुर्द्धर दो असुरों को शराघात से यमपुरी भेज दिया।

व्याख्या। इन तीनों तन्त्रों में महिषासुर के अन्यान्य सेनानी के निधन विवरण कहा गया है। इससे पहले महिषासुर की सेना की व्याख्या करते समय वास्कल महाहनु और विडालाक्ष का रहस्य कहा है। उनके सिवाय यहाँ उद्धत आदि और भी कई असुरों के नाम आये हैं। गीता में श्री भगवान् ने—"दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेवच" इत्यादि वाक्य से अर्जुन को जो आसुरी सम्पद् का उपदेश दिया है, उसके साथ इन असुरों के नामानुसार मिलान कर लेने से ही पाठकजन सहज में यह रहस्य समझ सकेंगे। कहे असुरों के नाम प्रायः अन्वर्थ हैं, उद्धत = दम्भ, ताम्र-पारुष्य (परुष भाव), अन्धक—मोह, उग्रास्य = क्रोध, उग्र-वीर्य—पशुबल, दुर्द्धर = अक्षमा, दुर्मुख—कटुवचन बोलना। मा की कृपा से ये दम्भ पारुष्य आदि आसुरी वृत्तियां थोड़े ही समय में विलीन हो जाती हैं। केवल शरणागत भाव आने से ही साधक अनायास इन वृत्तियों के आक्रमण से परित्राण पाते हैं। बार बार इनका उल्लेख करना व्यर्थ है, यहाँ पर हमें केवल यही लक्ष्य करना है कि दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध आदि आसुरी वृत्तियां मौजूद रहने पर भी जीव मा की कृपा प्राप्त कर सकता है। एक बार मा की कृपा अनुभव हो जाने पर वे सब वृत्तियां थोड़े ही समय में हीन बल हो जाती हैं।

भगवान् ने अर्जुन को निमित्तमात्र करके हमको जो अभय वाणी सुनाई थी, उसी की कार्यकरी अवस्था असुरों के वध के रूपक से चण्डी में वर्णित हुई है। गीता में कहा है—"अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितोहि सः क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" भगवान ने कहा है "जीव! तुम चाहे कितने ही बड़े दुराचारी क्यों न हो तो भी मेरा आश्रय करने की मेरे शरणागत होने की तुममें योग्यता है।

अनन्यभक्त होकर मुझको ही एकान्त आत्मीय बोलकर ग्रहण करने का सामर्थ तुम्हारा है, तुम्हारा दुराचार उस सामर्थ्य को विनष्ट नहीं कर सकता। यदि मेरी ओर मुख फिराओगे तो अल्पकाल में ही तुम धर्मात्मा, साधु हो जाओगे। तुम्हारे दुराचारों को मैं ही विलय कर दूंगा, याद रक्खो, मेरे भक्त का कभी बिनाश नहीं होता। यह अभय वाणी किस तरह कार्य में परिणत होती है, वह दिखाने ही के लिये मा की यह असुरबध लीला है। यह तत्व विचारने से भी विस्मित होना पड़ता है। गीता में जो उपदेश हैं—चण्डी में वही कार्य रूप में परिणत हैं। जिन्होंने सर्व्व भाव में ही प्राणमयी मा का विकाश देखने का अभ्यस्थ है, उनके दम्भ, पारुष्य, मोह, क्रोध, पशुबल, अक्षमा, कठोर वाक्य द्वारा दूसरों के प्राण में व्यथा देना आदि दोष थोड़े ही समय में दूर हो जाता है।

एवं संक्षीयमाणे तु स्वसैन्ये महिषासुरः।
महिषेण स्वरूपेण त्रासयामास तान् गणान्॥२०॥

अनुवाद। इस प्रकार अपनी सेना का बल क्षयप्राप्त हुआ देख कर महिषासुर महिष का रूप धारण कर देवी के गणसैन्यवृन्द को वित्रासित करने लगा।

व्याख्या। महिषासुर के सब सेनानी एक एक कर विलय हो गये। रजोगुण के जितने वैषयिक स्पन्दन थे, अब सैन्व बलहीन होकर वह प्राय निःशेषित है। स्वयं महिषासुर ने एक बार अन्तिम उद्योग किया। पहले महिष रूप धारण कर गण सैन्यों को वित्रासित करने लगा। 'मही इष्यति इति महिषः' (ईकार ह्रस्व) जो मही-का, क्षिति तत्व अर्थात् स्थुल भाव का सहारा लेना चाहे वही महिष है। स्थूलाभिमानी रजोगुण सहायविहीन होने पर अपनी पूर्ण शक्ति प्रयोग से अन्तिम सम्बल पार्थिव देह को ही विशेष भाव से पकड़ता है। जब साधक के दर्प, अभिमान आदि रजोगुण से

उत्पन्न दोष दूर हो जाते हैं, तब भी वह देहात्मबोध का मोह नहीं छोड़ सकता। स्थूल देह पर अत्यन्त आसक्ति ही उसका हेतु है। यही महिषासुर का अन्तिम आक्रमण है। जब तक सम्यक् ज्ञान के उदय से संचित कर्म समाप्त न हो जायें तब तक किसी तरह देहात्मबोध शिथिल नहीं होना चाहता। अथवा जब तक देहात्म-बोध की जड़ न कट जाय, तब तक संचित कर्मों का अश्लेष नहीं होता। याद रखिये साधक! अन्तर राज्य में कार्य कारण भाव का यथायोग्य पूर्व पर भाव स्थिर नहीं किया जाता। जगत् में देखते हैं, पहले कारण पीछे कार्य किन्तु यहां कारण और कार्य मानो एक साथ अवस्थित है। अनेक लोग कहते हैं—पहले साधना पीछे सिद्धि है। किन्तु हम देखते हैं—पहले फल और पीछे फूल। वास्तव में सूर्य और किरणों की तरह सिद्धि और साधना मानों सहावस्थित है।

अस्तु संचित संस्कार फलोन्मुख न होने पर भी वे प्रारब्ध क्षय होने में बाधक स्वरूप है। क्योंकि पिछले संस्कारों के भार से दब जाने के कारण प्रारब्ध संस्कारों के विनाश का मार्ग रुक जाता है। स्थूल देह पर अत्यन्त आसक्ति उसका बाहिरी लक्षण हैं, यही महिष रूप धारी महिषासुर का अत्याचार है। इसका पहला आक्रमण—गणसैन्य के ऊपर होता है। गणसैन्य का रहस्य पूर्व व्याख्यात हुआ है। श्वास प्रश्वास ही गणसैन्य हैं। श्वास प्रश्वास लेकर ही देहात्म भाव फूट उठता है। साधक इसे अनायास अनुभव कर सकते हैं। जिस समय वे मातृयुक्त होते हैं, विशुद्ध बोध स्वरूप में अवस्थान करते हैं, उसी क्षण श्वास प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है। फिर जब देहात्मबोध फूट उठता है तब ही बाहिर श्वास प्रश्वास का लक्षण प्रकट हो जाता है। श्वास प्रश्वास के सहारे ही पार्थिव देह में बोध उतर आता है; इसी से श्रुति कहते हैं—महिष रूपी असुर ने प्रथम गणसैन्य को विक्षोभित किया था।

कांश्चित् तुण्ड प्रहारेण खुरक्षेपैस्तथापरान।
लाङ्गूल ताड़ितांश्चान्यानशृंगाभ्याश्च विदारितान् ॥२१॥
वेगेन कांश्चिदपरान्नादेन भ्रमणेन च।
निःश्वास पवनेनान्यान् पातयामास भूतले ॥ २२ ॥

अनुवाद—महिषासुर ने कुछ गण सैन्य को, तुण्डाघात से, कुछ को खुराघात से, कुछ को पूंछ के आघात से, कुछ को सींगों के आघात से विदारित किया और कुछ को अपने वेग द्वारा, कुछ को गर्जकर और कुछ को निःश्वास की वायु द्वारा धरती पर निपातित किया था।

व्याख्या। इस मन्त्र में देखते हैं कि महिषासुर ने गणसैन्य को विमथित करने के लिये आठ उपाय अवलम्बन किये थे। (१) तुण्ड-प्रहार (२) खुरक्षेप, (३) लाङ्गूलाघात (४) शृङ्गाघात (५) वेग (६) नाद (७) भ्रमण (८) और निःश्वास। साधक! तुम भी देखो, स्थूल देह पर अत्यन्त आसक्ति रूप महिष मूर्ति असुर अर्थात् स्थूलत्वाप्रिय रजोगुण से उत्पन्न काम—"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्ति रेवच।।" इन आठ उपायों से तुम्हारे श्वास प्रश्वास को अवलम्बन कर, एकदम स्थूल पार्थिव विषयों में उतार कर ले आ रहा है। तुम्हें विशुद्ध बोध से, मा की स्नेहमय अंक से विच्युत कर रहा है। आओ, एक बार हम मा का नाम लेकर, इस आठ प्रकार की पीड़ा का असल स्वरूप जानने की चेष्टा करें।

प्रथम स्मरण, अर्थात् रूप रसादि काम्य विषयों की स्मृति आती है। यही महिष रूपी असुर का पहला पीड़न है। याद रखिये कि जिस शक्ति-प्रभाव से काम्य विषयों की स्मृति जाग्रत होता है, वही रजोगुण वा महिषासुर है। किसी विषय का बार बार स्मरण होने पर क्रम से उस विषय का कीर्तन आरम्भ होता है अर्थात् काम्य विषय की आलोचना चलने लगती है। फिर अक-

स्मात् किसी स्थान में उस विषय का सङ्ग हो जाता है, इसी का नाम केलि है। एक बार सङ्ग हो जाने पर ही विषय भोग के जो सुख है उसका आस्वाद समझ सकते हैं; तब प्रेक्षण वा अन्वेषण आरम्भ होता है। अन्वेषण से इच्छित विषय का पता पा लेने पर उसे संग्रह करने का गुह्य भाषण अर्थात् गोपन में परामर्श होने लगता है। ऐसा परामर्श अकेले में भी केवल मन बुद्धि के साथ हो सकता है। परामर्श स्थिर होने पर इसे पाने का दृढ़ सङ्कल्प होता है। फिर सङ्कल्प से अध्यवसाय वा तीव्र प्रयत्न होता है, इसीका फल से क्रिया निष्पत्ति अर्थात् काम्य विषय की प्राप्ति होती है। ये आठ उपाय केवल कामेन्द्रिय चरितार्थ ही के लिये प्रयोग नहीं किये जाते, बल्कि कोई भी इन्द्रिय के साथ अभिष्ट विषय का संयोग होने पर भी समझना चाहिये—ज्ञान से वा अज्ञान से यथायोग्य भाव से पुर्वोक्त आठ उपाय अवलम्बन किया है।

मानलो कि तुम्हारी अभिष्ट धन लाभ हुई। तो देखो किस तरह उसमें इन अष्टांग का अनुष्ठान निष्पन्न हुआ प्रथम अर्थ का स्मरण होता है (यह स्मृति संस्कार से होती है—ये सभी संस्कार रजोगुण के उबाल मात्र हैं। इस रजोगुण का ही नाम महिषासुर है। यह पूर्व भी कहा गया है।) अर्थ विषयक स्मृति से ही उसका कीर्तन वा आलोचना होती है। फिर किसी धनवान पुरुष का सङ्ग होता है—अर्थात् किसी धनी मनुष्य के आचार व्यवहार और कार्य प्रणाली के संसर्ग में आना होता है! इसी का नाम केलि व क्रीड़ा है। बाद में प्रेक्षण अर्थात् धन कहाँ है उसका सन्धान किया जाता है। फिर गुह्यभाषण—किस उपाय से वह प्राप्त किया जाय उसका परामर्श। इस तरह क्रम से सङ्कल्प और अध्य-वसाय होकर क्रिया निष्पत्ति में उपस्थित होता है अर्थात् अभीष्ट अर्थ प्राप्त होता है। अब देखिये—तुम्हारे स्वस्थ चित्त को महिषा-सुर ने कैसा व्याकुल कर डाला। स्वस्थ अवस्था में श्वास प्रश्वास निरुद्ध वा नासाभ्यन्तर चारी रहता है, और इस आठ प्रकार के

पीड़न से उसकी गति अस्वाभाविक विक्षुब्ध होने लगती है। तुण्ड प्रहार खुर क्षेप आदि उपाय से गण सैन्य को मथन करने का यही तात्पर्य है। मन्त्र में भी "पातयामास भूतले" अर्थात् गण सैन्य समूह को तुण्ड प्रहार आदि आठ उपायों की सहायता से धरती पर गिरा देने की बात कही गई है। बोधमय स्वरूप से चित्त किस तरह भूतल अर्थात् स्थूल भाव में उतर आता है, वही यहां अति सुन्दर भाव से दिखाया है। श्वास प्रश्वास की गति द्वारा ही चित्त की अवस्था प्रकाशित हो जाती है। प्राण वायु की चञ्चलता चित्त की चञ्चलता का ही बाहिरी लक्षण है।

शास्त्रकारों ने इस स्मरण कीर्तन आदि को अष्टांग मैथुन वा अब्रह्मचर्य कहा है। विषय और इन्द्रियों के संयोग रूप मिथुन भाव से ही उसकी उत्पत्ति है। इसीसे उसको मैथुन कहा है। जिस किसी इन्द्रिय के साथ विषय का संयोग होने पर ही, यह अष्टांग मैथुन निष्पन्न होता है। यह ब्रह्मचर्य का विरोधी अर्थात् ब्रह्म में बिचरने के लिये महान अन्तराय है। साधक यह न समझें कि केवल उपस्थ संयम वा विन्दु निरोध कर सकने से ही ब्रह्मचर्य का पालन होता है। "वीर्य धारणं ब्रह्मचर्यम्" यह ब्रह्मचर्य्य का बाहिरी लक्षण मात्र है। तुमने चक्षु से फूल मात्र रूप में फूल देखा, कानों से शब्द मात्र रूप में शब्द सुना, ये भी मैथुन है। यह भी ब्रह्मचर्य्य के विरोधी हैं। यथार्थ ब्रह्मचर्य्य तब ही निष्पन्न होगा जब इन्द्रियां रूप रसादि विषयों के संस्पर्श में आकर भी ब्रह्म सम्वेदन के सिवाय और कोई अनुभूति न लाया करें। जब तुम "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ईशा-वास्यमिदं सर्वं" इस ज्ञान पर प्रतिष्ठित होगे, जब "ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है" इस दृढ़ विश्वास पर प्रतिष्ठित होगे, केवल तब ही तुम असल ब्रह्मचर्य का स्वरूप अनुभव कर सकोगे। किन्तु हाय! ऐसी अवस्था में उपस्थित होने पर भी फिर 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः" ! इन्द्रियाँ पूर्व अभ्यास वशतः विषय

ग्रहण कर लेती हैं। दीर्घकाल सत्कार पूर्वक श्रद्धा के साथ इस ब्रह्मचर्य का अनुपालन और अनुशीलन किये बिना पूर्वोक्त अष्टांग मैथुन वा अब्रह्मचर्य के हाथ से परित्राण की आशा नहीं।

फिर साधना की ओर से देखिये—ये स्मरण. कीर्तन, केलि आदि अष्टाङ्ग अनुष्ठान यदि आत्माभिमुखी हों, तो वे ही ब्रह्मचर्य के पूर्न आदर्श बन जाते हैं। अजी ब्रह्म में विचरण करने का नाम ही तो ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म तो हमारी आत्मा—मा है! अच्छा अब एक एक अङ्ग को देखिये। प्रथम ही स्मरण—मातृ-स्मृति। यदि गुरु की कृपा प्राप्त की है, तो अवश्य ही मातृ अस्तित्व में विश्वासवान हुए होंगे! यह विश्वास ही तुम्हारा मूलधन, वही रजोगुण का अन्तरमुखी विकाश वा पुरन्दर है। महिषासुर जिस तरह विषयों की स्मृति लेकर आता है, पुरन्दर वैसे ही मातृ-स्मृति लेकर आवेगा। अवश्य ही आवेगा। जितना स्मरण होता रहता है उतना ही कीर्तन आरम्भ होता है—मा के स्नेह, दया, महत्व स्वरूप आदि की आलोचना होती रहती है। ईश्वरीय कथा अच्छी लगती है। गीता में भी कहा है :—

"कीर्तयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।" कीर्तन के परे केलि (खेल) होता है, स्तव जप पूजा वन्दना इत्यादि। हां जी हां! जिसको तुम साधना, उपासना कहते हो, वह सब खेल ही तो हैं। जो अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने वाली महाशक्ति और जो वाक्य मन के अतीत है, उसको लेकर जब हम साधना उपासना करते हैं तब उसको खेल के सिवाय और क्या कहा जाय? शास्त्र में भी कहा जाता है—"बाल क्रीड़नवत् सर्वं, नाम रूपादि कल्पनम्"। साधना मात्र ही बालकोचित क्रीड़ा-मात्र है। कितनी ही कठोर तपस्या करो, अथवा कितने ही योग-कौशल का सहारा लो, मा के समीप वे बच्चों के खेलमात्र हैं। सुनो मा को पाने का अर्थ ही—मा का होना वा मा होना है। अनेक

लोग भगवान् का मिलना ऐसा समझते हैं जैसा कि जगत की कोई वस्तु मिलती है। यह बात नहीं, उनको पाने के मानी है आप उनका हो जाना, अपने को उनके चरणों में अर्पण करना। इसी से तो कहा है—मा को पाना, मुझको देना और मा होना, ये तीनों एक ही बात है। क्या यह साधना या खेल करके हो सकता है? नहीं हो सकता? होता है उनकी दया से, उनकी इच्छा से! वे आप इच्छा करके आत्म प्रकाश करती हैं। इसी से जीव अपने को दे डालता है या अपने को खो देता है। तब जगत में जो साधना का भाव देखते हैं उसका तात्पर्य दूसरा है—जब मा आत्म प्रकाश करती हैं—आती हैं, तब उनके आगमन के पूर्व लक्षण स्वरूप कुछ घटनायें जीव में संघटित होने लगती हैं, उसी का नाम साधना है। जैसे ज्वार होने से जल फूलने लगते हैं, ठीक उसी तरह मातृ आगमन के पूर्व लक्षण स्वरूप जीव साधन भजन का अनुष्ठान करने लगता है। आज तक जितने लोगों ने मा को पाया है उनमें कोई यह बात नहीं कहा कि "मैंने साधना कर मा को पाया है" साधना और मा, यह पूर्वी और पश्चिमी समुद्र की तरह बिल्कुल विभिन्न वस्तु हैं। जब तक मा को न पाया जाय, तब तक ही जान पड़ता है कि "मैं, कठोर साधना करता हूँ।" किन्तु मा को पा लेने पर भली भाँति समझा जा सकता है कि साधना करके यह वस्तु नहीं पाई जाती, ऐसा कोई उपाय नहीं, जिसके द्वारा मा को पकड़ा जाय। अजी साधना वा उपाय तो मन और बुद्धि के हिलाने डुलाने के सिवाय और कुछ हैं नहीं! मा हमारी इससे बहुत दूर अवस्थित है। अस्तु, हम अप्रासङ्गिक बात कहते हुए बहुत दूर आ गये हैं, आओ साधक। फिर हम प्रस्तावित विषय पर पहुँच जाय।

कह रहे थे—कीर्तन से केलि वा खेल होता है। खेल से प्रेक्षण वा अन्वेषण आरम्भ होता है। मा की बाट देखती हुई साधक-सन्तान अपेक्षा में बैठी रहती है, अथवा मा की ओर इकटक देखती

रहती है। उसके बाद होता है "गुह्यभाषण"। मा के समीप होने पर जो कुछ आवेदन, निवेदन, सुख-दुःख की कहानी चुपचाप प्राण में चलती रहती है। अनन्तर मातृ लाभ विषयक दृढ़ संकल्प और उसके अनुसार अध्यवसाय वा तीव्र प्रयत्न आरम्भ होता है। पूर्व केलि के समय अर्थात् साधन काल में जो चेष्टा यत्न रहता है, वह मृदु वा सामान्य कुछ ऊपरी अनुष्ठान मात्र है और यह अध्यवसाय जब उपस्थित होता है (याद रखिये, मा को पाने से पूर्व यथार्थ अध्यवसाय नहीं आता) तब साधक प्राण की आकर्षण से, प्रबल आकांक्षा से महाप्राण में मिल जाने की चेष्टा करता है। सबसे अन्त में क्रिया निष्पत्ति—सब कर्मों का अवसान वा नैष्कर्म्य। जीव तब ब्रह्म हो जाता है। "ब्रह्मविद ब्रह्मैवभवति।"

फिर विषय की ओर से देखिये—तुमको गुलाब का फूल प्यारा है। फूल को फूल मात्र न समझकर प्राण बोलकर समझने की चेष्टा करो। फूल के स्मरण कीर्तन के साथ ही साथ प्राण का—मा का स्मरण कीर्तन आरम्भ होगा। इस तरह अष्टांग अनुष्ठान द्वारा महाप्राण में ही तुम्हारी क्रिया निष्पत्ति होगा। जब गुलाब का फूल पाओगे, तब यह मन में न होगा कि हमने फूल पाया। तब देखोगे - सत्य ही उपलब्धि करोगे—हमारे प्राण ही गुलाब के फूल का रूप धारण कर हमको तृप्त करने आये हैं। इस तरह जब विषयों को एक मात्र प्राण की मूर्ति रूप से परिग्रह कर सकोगे, तब ही तुम यथार्थ राग-द्वेष-विमुक्त फलाकांक्षा-रहित आसक्ति वर्जित होने से गीता में कहे हुए निष्काम कर्मयोग के अधिकारी हो सकोगे। यह सुनने में जितना कठोर है, कार्य में परिणत करना उतना कठिन नहीं है। कुछ दिन अभ्यास करने से ही यह प्रकृतिगत हो जाता है। तब फिर चेष्टा करके विषय को प्राण बोलकर नहीं समझना होता। अपने आप वह निष्पन्न हो जाता है।

वैष्णव शास्त्र में जो प्रेमलक्षण भक्ति का उल्लेख है वह भी इस स्मरण कीर्तन आदि आठ अंगों के अनुष्ठानों के भीतर होकर ही प्रकाश होने लगती है। अद्वय ज्ञानस्वरूप एक मात्र परम पुरुष श्रीकृष्ण, ये ही ब्रह्म परमात्मा भगवान् आदि शब्द से अभिहित होते हैं। इन्द्रियद्वारों—गो। इन्द्रिय प्रबाह वा शक्तियाँ—गोपी। परमात्मा के आकर्षण से विषयाशक्ति रूपिणी गोपियां विषय रूपी कुल छोड़कर, कृष्ण प्रेमसागर में मसते हैं। विषय को विषय रूप में दर्शन न करके, कृष्ण स्वरूप में दर्शन करने का अभ्यस्त होने से ही स्मरण कीर्तन आदि अष्टांग अनुष्ठान श्री कृष्ण में ही पर्य्यवसित हो जाते हैं; अतएव जगत के कार्यों में भी एकमात्र कृष्ण की सेवा वा परमात्मप्रीति प्रकटती रहती है। वही शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर इन पांच भाव रूप से बाहिर प्रकाशित होती है। पूर्व कहे हुए स्मरण कीर्तनादि अष्टांग मैथुन अर्थात् विषयेन्द्रिय संयोग जब इस तरह श्रीकृष्ण प्रीति रूप में ही पर्य्यवसित होते हैं तब उनका नाम होता है 'प्रेम'; और उसके विपरीत भाव से जब तक केवल अपनी इन्द्रियतृप्ति में ही पर्य्यवसित रहते हैं तब तक उन्हें 'काम' नाम से ही परिचित होते हैं। प्रेम और काम में यही भेद है। किन्तु वह दूसरी बात है।

निपात्य प्रमथानीकमभ्यधावत सोऽसुरः ।
सिंहं हन्तुं महादेव्याः कोपंचक्रे ततोऽम्बिका ॥२३॥

अनुवाद। गणसैन्यादि को निपातित करके वह असुर महादेवी की सिंह को हत्या करने को दौड़ा। इससे अम्बिका ने कोप प्रकट किया।

व्याख्या—महिषासुर पूर्वोक्त आठ प्रकार के उपायों से गण-सैन्यदल को वित्रस्त करने लगा। चित्त को एक बार विषय की ओर आकृष्ट कर सकने से ही साधक के जपाङ्ग श्वास-प्रश्वास, साधारण जीवों की तरह ही चलने लगते हैं, महिषासुर का उद्देश्य सिद्ध

होता है। साधक! जब तुम श्वास-प्रश्वासों को मातृ निःश्वास रूप में अनुभव करके देहात्मबोध को शिथिल करने के लिये जतन लेते हो, ठीक उसी समय अन्तर में कोई वैषयिक स्मृति आ खड़ी होती है, और क्रम से वह कीर्तन केलि आदि द्वारा क्रियानिष्पत्ति रूप में परिणत होने पर ज्योंही तुम स्थूल वाह्य वस्तु में आकृष्ट हुए, त्योंही देखोगे कि तुम्हारा जो मातृ निःश्वास का उपलब्धि वह खो बैठा। वह जो आत्मसमर्पण का विपुल आनन्द था उससे विच्युत हो गये हो। अब तुम्हारी वृत्ति निरोध की अवस्था न रही। याद रक्खो—यही महिषासुर द्वारा गण सैन्य का विनाश है।

केवल इतना करके ही असुर चुप न रहता, बल्कि सिंह पर भी आक्रमण करता है। तुम्हारी जीव भाव पर जो हिंसा वह रहित होता है। साधारण जीवों की तरह विषयों के पीछे दौड़ने लगे। बड़े कष्ट से एक बार देहादि से पृथक् जिस विशुद्ध बोधमय मातृ स्वरूप पर स्थिर रहने का प्रयास किया था, उससे तुमको विक्षिप्त कर देता है! तुम जो सत्य ही देवी के वाहन—मातृ शक्ति के परिचालक यन्त्र मात्र हो, इस बोध से भी तुम विच्युत होते हो। साधक! एक बार ज्ञानचक्षु खोलकर देखो, तुम्हारा इतना यत्न, इतनी साधना, क्षणभर में सब व्यर्थ करके असुर-शक्ति अपनी सामर्थ्य प्रकाश कर बैठी। यदि साधक हुए हो तो यह अत्याचार अक्षर अक्षर अनुभव कर सकोगे। किन्तु भय नहीं। "कोपं चक्रे ततोऽम्बिका" मा ने क्रोधमयी मूर्ति से आत्म प्रकाश किया है, वे शीघ्र ही इस असुर के हाथ से तुम्हारी रक्षा करेंगी।

सोऽपि कोपान्महावीर्य्यः खुरक्षुण्णमहीतलः।
शृंगाभ्यां पर्वतानुच्चांश्चिक्षेप च ननाद च॥२४॥

अनुवाद। (अम्बिका का क्रोधभाव देखकर) वह महावीर्य महिषासुर भी क्रोधित होकर खुरों से धरती क्षत-विक्षत करने लगा।

सींगों के द्वारा ऊँचे-ऊँचे पर्वत निक्षेप और भयानक शब्द करता था।

व्याख्या। गण सैन्य निपातित होने पर कुछ काल के लिये साधक अपने को मातृ-अंग से विच्युत होना मानता है; यही दुर्बलता है। ऐसी दुर्बलता साधक मात्र में आती है। अन्तर्निहित कामना के बीज एक साथ अंकुरित होकर साधक को अत्यन्त विव्रत कर डालते हैं। बुझने के पूर्व दीप शिखा अत्यन्त उज्ज्वल होती है, मृत्यु के पूर्व रोगी में जिस तरह आरोग्य लक्षण प्रकाश पाते हैं, महिषासुर का यह आक्रमण भी ठीक वैसा ही है। जीव का जब प्रज्ञाचक्षु खुलता है, आवरण विक्षेपादि निर्वीर्य हो जाते हैं तब ऐसा मनमें होता है—मानो हमारे अन्तर से कामना की जड़ उखड़ गई है। परन्तु उस समय तक वह वास्तविक निष्काम पुरुष नहीं हो सका है। तब भी साधक के अन्तर में कामना के बीज छिपे रहते हैं। उन गुप्त बीजों को प्रकट कर दिखाने के लिये ही मा की यह लीला है। यही रजोगुण रूपी महिषासुर का चरम आक्रमण है। साधक! जब तुम अपने को निष्काम पुरुष समझ कर आत्म प्रसाद लाभ करोगे, तब भी अनुसन्धान कर देखो कि तुम्हारे अन्तर में कामनाओं के बीज गुप्त भाव से मौजूद हैं। अथवा अनुसन्धान करने की आवश्यकता नहीं। मा स्वयं ही उनको प्रकट कर, अत्याचार के आकार में तुम्हारे सामने धरेंगी। तब प्रत्यक्ष कर सकोगे कि वे महीतल खोद रहे हैं अर्थात् तुम्हारी पार्थिव देह तक विक्षिप्त हो रही है। केवल मन ही विषयों के पीछे नहीं दौड़ रहा है; बल्कि तुम्हारा स्थूल देह, वाक, पाणि आदि कर्मेन्द्रियां भी विषय आहरण में तत्पर हो उठे हैं। और भी देखोगे—तुम्हारी देह और मन जितना विषयों की ओर आकृष्ट हुआ है, उतना ही "मैं मुक्त होऊँ, मैं सदा मा की गोद में अवस्थान करूं।" आदि पर्वत तुल्य आशायें इधर उधर विक्षिप्त हो रही हैं,

एवं चित्रक्षेत्र में अनेक प्रकार के वैषयिक गोलयोग रूप नाद अर्थात् कोलाहल उपस्थित हो रहे हैं। ऐसे अचानक आक्रमण से अनेक साधक हताश और अवसन्न हो जाते हैं। "कि हमने शायद अब मोक्ष मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकेंगे।" यह कह कर अत्यन्त विषादग्रस्त हो जाते हैं।

वेगभ्रमणविक्षुण्ण महीं तस्य व्यसीर्य्यत।
लाङ्गूलेनाहतश्चाब्धिः प्लावयामास सर्व्वतः ॥२५॥

धूतशृंग विभिन्नाश्च खण्डखण्डं ययुर्घनाः।
श्वासानिलास्ताः शतशोनिपेतुर्नभसोऽचलाः ॥२६॥

अनुवाद। उसके भ्रमण वेग से मही क्षत विक्षत होकर विशीर्ण भाव धारण किया। पूंछ के आघात से समुद्र उद्वेलित होकर चारों ओर प्लावित करने लगे। सीगों के आघात से बादल टुकड़े टुकड़े होते थे। एवं निःश्वास की वायु के वेग से ऊपर फेंके हुए पर्वत आकाश से भूतल पर गिरने लगे।

व्याख्या। कैसा शोचनीय अत्याचार है। इसमें एक अक्षर भी कल्पित नहीं है, मुमुक्षु साधक जब अन्दर से कामना के बीज मेंटने को तैयार होते हैं। तब उन पर बार-बार ऐसे अत्याचार होते रहते है। पूर्व महिषासुर की जो आठ प्रकार के अत्याचार की चर्चा की गई है, वही उसका एकमात्र सम्बल है। कहीं दो, कहीं चार, कहीं छः, कहीं आठ ही, अस्त्रों का प्रयोग किया करता है। असुर को इनके सिवाय अस्त्र वा अत्याचार और कुछ भी नहीं है। यहां वेग से भ्रमण, लांगूलाघात, सींग हिलाना एवं श्वास वायु रूप चार अस्त्रों का प्रयोग हुआ है। उनके द्वारा यथा क्रम से, मही अब्धि घन मरुत और नभः (आकाश) ये पाँच तत्व ही विक्षुब्ध हो उठे हैं। यहां घन शब्द वायु और तेजस्तत्व

का उपलक्षण है। यद्यपि मेघ जल का ही परिणाम मात्र है, तथापि वायु मार्ग ही उसकी गति स्थिति और उत्पत्ति होने के कारण घन शब्द से यहां मरुत् तत्व ही समझना चाहिये। मन्त्र में तेजस्तत्व का कुछ उल्लेख न रहने पर भी बिजली संयुक्त रहने के कारण घन शब्द से तेजस्तत्व भी समझना होगा। स्थूल बात यह है कि पञ्चतत्त्व, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय इनके ऊपर ही कामना का सब कुछ अत्याचार है। क्षिति तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय नासिका और कर्मेन्द्रिय वायु है। अप् तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय रसना, कर्मेन्द्रिय उपस्थ है। तेजस्तत्व की ज्ञानेन्द्रिय चक्षु और कर्मेन्द्रिय पाद हैं। मरुत् तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय त्वक्, कर्मेन्द्रिय पाणि एवं व्योमतत्व की ज्ञानेन्द्रिय कर्ण, कर्मेन्द्रिय वाक्। इस तरह पञ्चतत्व; पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, एवं रूप रस शब्द स्पर्श और गन्ध, ये पाँच विषय; यहाँ तक ही कामना का क्षेत्र है। इसके ऊपर कामना बोलकर कुछ नहीं है। इन्द्रियां क्षिति आदि पंच भूतों के ही सात्विक वा राजसिक परिणाम मात्र हैं। अतएव कामना क्षेत्र कहने से—संक्षेप में क्षित्यादि पंचभूत तक ही समझा जाता है; इसी से मन्त्र में देखते हैं—कि महिषासुर के अत्याचार ने मही अब्धि (तेज और मरुत्) एवं नभः इन पंच तत्वों को विक्षुब्ध किया है। साधारण जीवों और साधकों में यही प्रभेद है। विषय को विषय रूप से ग्रहण करने से, वह असुर का अत्याचार होता है, उसे साधारण जीव किसी तरह नहीं समझ सकते। हजार बार समझा देने पर भी धारणा नहीं कर सकते—वे मनमें समझते वह पागल का प्रलाप मात्र है। हमने चक्षु से गुलाब का फूल देखा, इसमें असुर का अत्याचार क्या? इसलिये पहले ही कह रखा है, कि जो विज्ञानमय कोष में आत्मबोध उपसंहृत करने में समर्थ हुए हैं, केवल उन्हीं को श्री श्री चण्डी का यह आध्यात्मिक रहस्य अमृत के समान प्रीतिप्रद होगा।

अस्तु पञ्चतत्त्व, पञ्च इन्द्रिय एवं पञ्चविषय रूप कामना क्षेत्र में जिनका आविर्भाव होता है वे भी इस बोध के सिवाय और कुछ नहीं है। चैतन्य वा प्राण ही उनकी एक मात्र सत्ता है, इस उपलब्धि से साधक जिस घड़ी गिर जाते हैं, उसी समय वे पृथक रूप से सत्तावान होकर, चित्त क्षेत्र को विक्षुब्ध कर देते हैं। यह मर्म मर्म्म में समझा देने ही के लिये यह अत्याचार का अभिनय है।

साधक! तुम भी अपने चित्त क्षेत्र में छिपी हुई कामनाओं का कार्यकलाप बड़े विचारपूर्वक देखते रहो तो देखोगे कि वे जब आत्म प्रकाश करते हैं, तब सचमुच मही वेग भ्रमण से विक्षुब्ध होते हैं। ऐसी आकस्मिक कामनाओं के वेग से कितने साधक अपने को मा की गोद से फिसल पड़ना समझ लेते हैं, उसे विचारने में भी दिल काँप जाता है। जब प्रबल भाव से कामना का वेग प्रवाहित होता है, तब यथार्थ ही अपने को अत्यन्त क्षुद्र, हीन मानते हैं। मानो ऊँची साधना, कठोर तपस्या, अलौकिक योग शक्ति सब क्षण भर में बहा ले गया हो।

इसके पश्चात् "लाङ्गूलेनाहतश्चाब्धिः," पूंछ से आहत होकर समुद्र सर्वत्र प्लावित कर दिया। अब्धि शब्द से केवल जलसमुद्र न समझ कर, रस का समुद्र और पुच्छ शब्द से कर्म फल समझ लो। पुच्छ—कामना रूप असुर का अन्तिम अङ्ग है। कर्म फल ही कामना की चरम प्रतिष्ठा है। उपनिषद् में भी पुच्छ, प्रतिष्ठा रूप से ही कही है। किसी विशिष्ट कर्म फल के मोह में साधक अत्यन्त मुग्ध हो जाते हैं। चाहें वह अति तुच्छ अति सामान्य ही हो; किन्तु जिस रस समुद्र में अवगाहन करके साधक ने सब विषयों की आकांक्षा से पार चले जाने की आशा की थी, वह रस समुद्र भी तुच्छ विषयासक्ति द्वारा लहराकर इधर उधर विक्षिप्त होता है। केवल यही नहीं सींगो के आघात से मेघ टुकड़े टुकड़े हो रहे हैं। शृङ्ग=उत्तमाङ्ग। मेघ—तेज और मरुत् तत्व। विषयों की चिन्ता से

देह में स्थित तेज और मरुत् तत्त्व उमड़ने लगे हैं। वे सदा वैषयिक स्पन्दन में व्यस्त ही हो रहे हैं। उसी के फल से श्वास प्रश्वास की जो शमता - नासाभ्यन्तर चारिता थी, वह भी नहीं रही; वह अस्वाभाविक हो गई है। वैषयिक चिन्ता होते ही श्वास प्रश्वास की गति का बदलना तो प्रत्येक मनुष्य धीर भाव से देखे तो समझ सकता है। जब तक मातृ–निश्वास बोलकर बोध रहता है, तब तक उसकी गति अति मृदु—उफान रहित रहती है; किन्तु ज्योंही विषय चिन्ता आ जाती है, त्योंही वह अति चञ्चल होने लगती है। साथ-ही-साथ मातृ लाभ विषयक अन्तर की बड़ी ऊंची-ऊंची आशायें विलाय जाती हैं। यही मन्त्रस्थ—श्वास बायु के वेग से पर्वत पतन कहने का तात्पर्य है।

इस तरह कितने ही अत्याचार आवें, तुम साधक हो, तुम मा को पाने की इच्छा वाले सन्तान हो, अवस और हताश न हो। अपने अङ्ग पर विरुद्ध कर्म फल की मलिनता देख कर मा की ओर से दृष्टि मत फिराओ। अपनी मलिनता की चिन्ता न करो, विषय का—संसार की चिन्ता न करो। चिन्ता यदि करनी हो मातृ-चिन्ता ही करो। विषयों में चिन्ता करने की कुछ आवश्यकता नहीं। जगत् के कार्य उपस्थित होने पर वे साधारण ज्ञान से ही ठीक ठीक पूरे हो सकते हैं। चिन्ता करके, माथा पंची करके जगत का कोई कार्य नहीं किया जाता। हमें बहुत दिन से विषयों की चिन्ता करते-करते इतना अभ्यस्थ हो गया है कि चिन्ता कहते ही विषय की चिन्ता समझ लेते हैं। वास्तव में जगत् के कार्य बिना चिन्ता के भी अच्छी तरह पूरे हो सकते हैं। जैसे भूख लगने पर आहार करते हैं, मल मूत्र का वेग आने पर उन्हें त्याग देते हैं। इन विषयों के लिये पहले से कुछ चिन्ता नहीं की जाती। ठीक उसी तरह अर्थोपार्जन विषय संरक्षण इत्यादि भी बिना चिन्ता के भी अच्छी तरह निष्पन्न हो सकते हैं—यदि मातृ मुखी चिन्ता प्रवाह

रहे। श्री भगवान् ने कहा है—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्य्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।" "मैं के सिवाय और कुछ भी नहीं है, अतएव चिन्ता करना है तो मेरी ही चिन्ता करो। ऐसा करने से तुम्हारा योगक्षेम मैं स्वयं वहन करूंगा, तुम्हारी जो कुछ आवश्यकता है वह मैं वहन कर प्राप्त कर दूंगा।

मा, समझे कि तुम्हारी भावना कर सकने से, फिर अपने लिये कोई भावना रहती ही नहीं। किन्तु उसे कर तो नहीं सकते! बार बार अनावश्यक विषय चिन्तायें आकर चित्त क्षेत्र को आकुल कर डालती हैं और ऐसा अवसर देखती रहती है कि तुम्हारी भावना छोड़ कर कब विषय चिन्ता करने लगें। यदि कुछ तुम्हारी कथा लेकर बैठें तो केवल समय की बाट देखते रहते हैं कि कब विषय चिन्ता में व्यवहारिक कार्य में लग जावें। मा! हमारी प्रकृति ऐसी ही बहिर्मुखी है! हमारे ऊपर महिषासुर का ऐसा ही अत्याचार है! हम समझते हैं कि यह अन्याय है, यह अत्याचार है; तो भी मा हमें वे ही अच्छे लगते हैं। विषय बड़ी प्रसन्नता कराने वाले हैं। मा! कब हमारी यह आसुरी प्रकृति बदल जायगी? कितने दिन में हम केवल तुम्हारी ही चिन्ता में कालातिपात करने लगेंगे? कितने दिन में हमारी सब प्रकार की वैषयिक प्रीति तुम में पर्य्यवसित हो जायगी? कितने दिन में हमारा सब प्रेम केन्द्रीभूत हो कर आत्मारूपिणी मा तुम में ही पर्य्यवसित होगा? कितने दिन में परम प्रेम के आस्वाद से हमारा जीवन धन्य होगा? मा, सन्तान की यह आशा कितने दिन में पूर्ण होगी?

इति क्रोधसमाध्मातमापतन्तं महासुरम्।
दृष्ट्वा सा चण्डिका कोपं तद्वधाय तदाकरोत्॥२७॥

अनुवाद। इस तरह उस महासुर को क्रोधमय आता देखकर उसके वध के लिये चण्डिका ने कोप प्रकाश किया।

व्याख्या—इससे पहले इस महिष ने जब सिंह पर पहला आक्रमण किया था, तब भी मा ने एक बार क्रोध प्रकाश किया था। उस क्रोध से जीव की सभी सञ्चित कामनाओं की जड़ शिथिल हो गई थी। अब कुछ आगे चलकर हम देखेंगे, फिर देवता कहेंगे—रुष्टातु कामान् सकलानभीष्टान्" मा के रुष्ट होने से सन्तान की सब कामनाओं का विनाश होता है। यहां भी मा के कोप से वही हो रहा है—जीव अब ऐसी अवस्था पर आ पहुंचा है कि वह अब सञ्चित कामनाओं का विन्दुमात्र उभरना नहीं देखना चाहता। तो भी छिपी हुई कामनाओं के बीज कभी कभी आकर आत्म प्रकाश से साधक को पीड़ित करते हैं। इसी से मा ने देखा कि अब चुप रहने से अथवा केवल क्रोध करने से ही काम न चलेगा। इस असुर को निहत करना ही होगा। जितना क्रोध उद्दीपित करने से उसका निधन किया जा सके, मा ने उतना ही क्रोध प्रकाश किया। इसी से मन्त्र में भी कहा गया है—"तद्वधाय कोपमकरोत"। असुर निधन के उपयुक्त क्रोध का विकाश हुआ है। यही मा की चण्डिका मूर्ति है। इसी से ऋषि ने मन्त्र में "चण्डिका" शब्द का प्रयोग किया।

पूर्व कहा है—सन्तान जहां पीड़ित है, माता वहां कुपिता है; यही चण्डिका मूर्ति का रहस्य है। हम जो सौ अत्याचारों से भी पीड़ित नहीं होते, इसी से तो मा चण्डी मूर्ति से आत्म-प्रकाश नहीं करती। जिस समय हम अपने को सचमुच पीड़ित समझ सकेंगे, उसी क्षण मा के हृदय में स्नेह की बाढ़ उठेगी, मा सन्तान को असुर-त्रास से मुक्त करेंगी। यही मातृत्व है। नहीं तो मा कैसी? अजी, मा से कहना नहीं पड़ता—"मा हमें भय से परित्राण करो!" यथार्थ भीत होने पर मा स्वयं ही परित्राण करती है। हम मुख से हजार बार कहें—"त्राहि मां भवसागरात्।" परन्तु क्या प्राण से हम सचमुच इस भवसागर को दुःखदायक समझते हैं! सो नहीं,

दस जन कहते हैं इसी से हम भी मुंह से कहने लगते हैं। मा तो हमारे प्राण देखती हैं। जिस दिन समझेंगे कि यह भव यथार्थ ही दुस्तर सागर है, उस दिन फिर "त्राहिमां" न कहना पड़ेगा। बोलने से पूर्व ही मा गोद में उठाकर छाती से लगा लेंगी। हम भी दुस्तर भव सिन्धु से अनायास ही उत्तीर्ण हो जायेंगे। वह देखो साधक! तुम्हारे प्राण में यथार्थ पीड़ा बोध हुआ है या नहीं, उसे देखने के लिये स्नेहमयी मा इकटक दृष्टि से तुम्हारी ओर देख रही हैं। अभी कब तुम सचमुच मा बोलकर रोने लगोगे ?

सा क्षिप्त्वा तस्य वै पाशं तं बबन्ध महासुरम् ।
तत्याज माहिषं रूपं सोऽपि बद्धोमहामृधे ॥२८॥

ततः सिंहोऽभवत्सद्यो यावत्तस्याम्बिका शिरः ।
छिनत्ति तावत्पुरुषः खड्गपाणिरदृश्यत ।।२९॥

ततएवाशु पुरुषं देवी चिच्छेद सायकैः ।
तं खड्ग चर्म्मणा सार्द्धं ततः सोऽभून्महागजः ।३०।

करेण च महासिंहं तञ्चकर्ष जगर्ज्ज च ।
कर्षतस्तु करन्देवी खड्गेन निरकृन्तत ॥३१॥

ततो महासुरो भूयो माहिषं वपुरास्थितः ।
तथैव क्षोभयामास त्रैलोक्यं सचराचरम् ।३२।

अनुवाद। देवी ने पाश निक्षेप कर उस महासुर को बांध लिया, वह भी उस युद्ध क्षेत्र में बंधा हुआ ही महिष रूप परित्याग-पूर्वक सिंह रूप धारण किया। देवी ने उसका मस्तक छेदन किया। उसने खड्गपाणि पुरुष रूप में दिखाई पड़ा देवी उस खड्ग चर्मधारी पुरुष-मूर्ति को बाण से काट दिया। असुर भी तब महागज का रूप धारण कर देवी के वाहन महासिंह को

सूंड़ से खींचकर भयानक गर्जन करने लगा। देवी ने भी उस आकर्षण कारी हस्ती की सूंड़ खड्ग से काट दी। अनन्तर वह महासुर फिर महिष रूप धारण कर पहले की तरह सचराचर तीनों लोक को विक्षोभित करने लगा।

व्याख्या—तात्पर्य समझने में सुविधा होने के लिये पांच मन्त्रों की व्याख्या एक साथ ही लिखी गई है। इन मन्त्रों का संक्षिप्त विवरण—महिषासुर ने जब सिंह के ऊपर अत्यन्त अत्याचार आरम्भ किया, तब देवी ने क्रुद्ध होकर उसे पास बद्ध कर लिया था। तब पाश से बँधे हुए महिष ने सिंह मूर्ति धारण कर ली। सिंह का शिर कटते न कटते वह खड्गपाणि पुरुष रूप में दिखाई दिया। देवी बाण से उसको वेध दिया। त्योंही महागज मूर्ति धारण कर सूंड़ से देवी के वाहन सिंह को आकर्षण और गर्जना करने लगा। देवी ने उसकी सूंड़ काट दी। तब उसने फिर महिष मूर्ति में आविर्भूत होकर पूर्ववत् आठ तरह की पीड़ा देना आरम्भ किया।

बड़ा सुन्दर रहस्य है! आओ साधक! हम मा के चरणों का स्मरण कर इस रहस्य में अवगाहन करें। वे हमारी धी खोल दें। हम चण्डी का रहस्य अच्छी तरह जान कर संशय रहित (पार) हो जायें।

प्रथम महिषासुर के रूपों के बदलने का रहस्य जानना आवश्यक है। (१) महिष (२) सिंह (३) खड्गपाणि पुरुष (४) महागज (५) फिर महिष। इनमें पूर्व, पूर्व निहत होने पर, पर पर मूर्ति प्रकाशित हुई थी। संचित कामनाओं का प्रथम अत्याचार महिष रूप धारी असुर का उत्पीड़ण है। यह पूर्व मन्त्र में व्याख्यात हुआ है। उसकी दूसरी मूर्ति सिंह है। जीव जब कामना को प्रति हिंसा करना आरम्भ करता है, तब ही महिष सिंह रूप में बदल जाता है। यह बात कुछ अच्छी तरह आलोचना करना आवश्यक

है। जीव संचित कामनाओं की पीड़ा से बार बार पीड़ित होकर उसके नाश करने के लिये, संसार त्याग, सन्यास और वैराग्य अवलम्बन करता है। स्त्री पुत्र त्याग कर वृक्ष के नीचे वा पहाड़ की गुफा में रहने लगता है। इसी का नाम कामना का महिष रूप त्यागकर सिंह रूप धारण है। जीव अब तक केवल वासनाओं द्वारा पीड़ित होता था, अब वासना त्याग की वासना से पीड़ित रहता है, याद रखिये—वासना त्याग की वासना भी वासना के सिवाय और कुछ नहीं है। अन्तर में वासना के बीज जमा रहते हैं; और बाहिर से अनेक कठोर सयम व्रत नियमादि की सहायता से उन्हें उगने से रोकने की चेष्टा की जाती है। साधारण दृष्टि से अवश्य यह अवस्था बहुत ऊँची है; किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से वह वासना का वेश मात्र बदल जाना है। गेरुए वस्त्र परिधान अथवा वृक्ष तले निवास करने की वासना भी वासना है। तत्त्वज्ञ जन इन दोनों में कुछ भेद नहीं देख पाते। एक सन्यासी पेड़ के नीचे धरती पर शयन करके यदि मानता है कि मैं संसार त्याग कर भूमि शय्या पर शयन करता हूं; तो उसकी अपेक्षा तो वह साधक, जो अट्टालिका में बिछी हुई अति कोमल शय्या पर शयन कर मां की गोद में शयन के सम्वेदन से पुलक रोमांचित होता है, वह अधिक त्यागी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी से कहा है कि—वासना त्याग की वासना भी असुर का अत्याचार है। मा ऐसे अत्याचार से पीड़ित सन्तान की रक्षा के लिये सिंह का शिर काट देती है, अर्थात् वासना की प्रतिहिंसा भाव पोषण करना भी वासना का ही रूपान्तर मात्र है, यह भली भांति समझा देती है। तब फिर त्याग की वासना भी नहीं रहती। इस अवस्था में कामना दूसरी मूर्ति से प्रकट होती है। वह मूर्ति—खड्गपाणि पुरुष है। खड्गपाणि शब्द छेदन-तात्पर्य्य बोधक है। मातृ-कृपा से जीव जब समझ सकता है कि त्याग की वासना भी तो वासना है, तब फिर जिससे चित्त क्षेत्र में कामना के बीज किसी तरह अंकुरित न हो सकें, उसका

उपाय करता है। वह उपाय है—वृत्ति-निरोध। यही खड्ग पाणि पुरुष है। किसी तरह यदि चित्त के वृत्ति प्रवाह को निरुद्ध किया जाय, भला बुरा, त्याग ग्रहण, किसी तरह की वृत्ति को फिर प्रकाशित न होने दिया जाय, तब ही सब आपदायें दूर हो जायें, यह समझ कर जीव प्राण पण से वृत्ति निरोध का यत्न करने लगता है। सब काट छाँट कर छोड़ देना ही उसका उद्देश्य होता है, यही खड्ग पाणि पुरुष का आविर्भाव है। किन्तु मा शीघ्र ही बाण निक्षेप द्वारा इस पुरुष के भी द्विखण्डित कर देती है; अर्थात् स्नेह की सन्तान को धीरे-धीरे दिखा देती है—वृत्ति निरोध रूप कार्य्य भी चित्त का धर्म्म है। व्युत्थान चञ्चलता, विक्षेप, ये जैसे चित्त-धर्म्म हैं; वह निरोध नामक अनुष्ठान भी ठीक उसी तरह चित्त का ही एक प्रकार धर्ममात्र है। योग सूत्रकार पातञ्जलि देव ने भी स्वयं इसकी व्याख्या की है। जीव का उद्देश्य आत्मलाभ है। चित्त वृत्ति निरोध रूप चित्त-धर्म लाभ करना, उसका लक्ष्य नहीं है। ऐसे निरोध में भी कुछ अव्यक्त सुख अवश्य है! पाँच मन भारवाही व्यक्ति के शिर पर से यदि वह बोझ उतार दिया जाय तो वह जैसे बहुत स्वस्ति वोध करता है, वृत्ति निरोध में भी ठीक वैसा ही सुख है। बार बार एक के बाद एक लहर आकर चित्त क्षेत्र को स्पन्दित कर रही है, एक वासना पूरी नहीं होने पाती कि दूसरी वासना आकर चित्त क्षेत्र में झाँकने लगती है। ऐसा होते हुए एक दो दिन नहीं हुआ बल्कि जन्म जन्मान्तर से होता आ रहा है। किसी तरह यदि इनके हाथ से परित्राण पाया जाय, तो वही परम लाभ है। ऐसा विचार कर ही जीव वृत्ति निरोध का यत्न करने की कोशिश करता है। किन्तु परम सुख वा यथार्थ शान्ति यहाँ नहीं है। चित्त शान्ति क्षेत्र नहीं है। निरुद्ध हो चाहे विक्षिप्त ही हो, वहाँ यथार्थ शान्ति नहीं पाई जाती। शान्ति पाने के लिये बुद्धि के भी ऊपर उठना होगा। आत्म-क्षेत्र में अमृतमय मातृ-अङ्क में आरोहण करना होगा जहाँ न चित्त

है न वृत्ति है, न विक्षेप है कुछ भी नहीं हैं, वहाँ जाना होगा, केवल शिर का बोझा पटक कर विश्राम लाभ करने से ही यथार्थ शान्ति नहीं मिलती, राज सिंहासन पर बैठना होता है। जो आसन मन वुद्धि चित्त अहङ्कार से बहुत ऊंचे पर प्रतिष्ठित है, उसी स्थान में स्नेहमयी मा की मधुमय अंक में अवस्थान करना होगा—आत्मसंस्थ होना होगा, जहां पहुँचने से भ्रान्ति, संशय, अज्ञान सदा के लिये दूर हो जाते हैं उसी अपने परम धाम में अवस्थान करना होगा। यह तत्व मा जब कृपाकर जीव को उपलब्धि करा देते तब ही वृत्ति-निरोध पर जीव की जो प्रबल आसक्ति है, वह दूर हो जाती है। यही देवी द्वारा खड्ग पाणि पुरुष का निधन है।

इसके पश्चात् महागज रूप में आविर्भाव! गज धातु का अर्थ बन्धन है। महागज शब्द का अर्थ महाबन्धन है जो बन्धन छेदन करना अति कठिन वही महाबन्धन है। इस अवस्था में जीव समझ सकता है कि वृत्ति निरोध, वासना त्याग, अथवा सामयिक मा की गोद में अवस्थान कुछ भी क्यों न करो, वासना के अत्याचार से एकदम परित्राण नहीं पाया जाता। जब तक कौशल की सहायता से वृत्ति निरोध पूर्वक शून्यवत् भाव से सुषुप्तवत् अवस्थान किया जाय, तब तक तो वासना का अत्याचार नहीं होता; किन्तु निरोध तो चिरस्थायी नहीं होता है, फिर व्युत्थित होना होता है। अथवा मा—भी तो दीर्घकाल तक अपनी गोद में स्नेह के स्पर्श से सन्तान को नहीं पकड़ रखती, फिर छोड़ देती है। तब फिर कामनायें दीखने लगती हैं। जब तक आत्म संस्थ होकर रहा जाता है, तब उनका नाम वा गन्ध अवश्य नहीं रहता, किन्तु क्षण भर बाद फिर अनात्म बोध फूट उठता है। इस तरह बार-बार पीड़ित होते रहने से कामना जय बिलकुल असम्भव जान पड़ता है। तब साधक बड़ी व्यथित होता है। "हाय! इस अव्यक्त अच्छेद्य बन्धन के हाथ से परित्राण पाने का

कुछ भी उपाय नहीं हैं !" ऐसा समझ कर जीव कुछ दिन के लिये हताश हो जाता है। यही "तच्चकर्ष जगर्ज्जच" यही महागज रूपधारी महासुर का आकर्षण और गर्जना रूप आक्रमण हैं। तत्त्व-दृष्टि से देखा जाता है—जीव जब अपने को बद्ध मानता है तब ही वह बद्ध है। वास्तव में बन्धन वा मुक्त बोलकर कुछ भी नहीं है। नित्य मुक्त नित्य स्वाधीन परमात्मा का बन्धन ज्ञान कल्पना मात्र-एक लीलामात्र है। तथापि जीव के पक्ष में यह बन्धन ज्ञान भी सुदुर्लभ है ! अनेक जन्म के बाद, अनेक साधना के फल से, मा की कृपा से जीव अपने को यथार्थ बद्ध मान सकता है। अरे ! बन्धन ज्ञान होना ही तो साधना का फल है ! मुक्ति साधना का फल नहीं हैं। मुक्ति तो नित्य; चिरमुक्त है। बन्धन बोध होता कहां है ? मुख से हजार वार कहा जाय—मैं बद्ध हूँ; किन्तु बन्धन कहाँ है, उसे जीव प्रथम समझ नहीं सकता। साधारण जीवों का बन्धन ज्ञान सांसारिक पीड़ाओं के कारण एक प्रकार का आनुमानिक ज्ञान मात्र है। बद्ध अवस्था का यथार्थ उपलब्धि भी उनको नहीं होता है, किन्तु मा अपनी स्नेह की सन्तान को मुक्ति का आस्वाद भोग करावेंगी; इसी से आज महाबन्धन के स्वरूप जीव के सामने प्रकाशित किया। इसीसे आज महिषासुर महागज मूर्ति से आविर्भूत हुआ। क्षण भर के लिये मुक्ति का आस्वाद पाये बिना, क्या यथार्थ बद्धभाव का उपलब्धि होता है ?

बन्धन बन्धन बोलकर एक आर्तनाद जगत में बहुत दिन से उठ रहा है। आजकल ही नहीं, दार्शनिक युग के विषय आलोचना करने पर भी अच्छी तरह समझा जा सकता है, कि बन्धन ज्ञान इस देश में बहुत दिन से चला आता है। "हम बद्ध जीव हैं" ऐसी भावना करना भारत ने जिस दिन से सीखा है उसी दिन से माया का बन्धन नहीं मान लिया; बल्कि बाहिर के बन्धन भी भारतवासियों को जर्जरीभूत और अवसन्न करते रहते हैं। परन्तु वह दूसरी बात है।

अजी, हम कल्प वृक्ष के मूल पर बैठे हैं। यहां बैठ कर जो विचारेंगे, वही पावेंगे! वही सत्य होगा। सुनिये, एक कहानी कहते हैं। एक पथिक अत्यन्त थक कर मैदान में एक वृक्ष के नीचे विश्राम के लिये बैठ गया। जेठ मास की घोर दोपहरी, प्यास के मारे प्राण ओष्ठागत हो रहे हैं। वह विचारने लगा—आहा; इस समय यदि एक डाव (हरा) नारियल मिले तो प्राण बचें, नहीं तो आज प्यास से प्राण चले। ऐसी चिन्ता करते-करते ही बटोही ने देखा कि उसके सामने एक सुन्दर डाव-नारियल पड़ा है। उसे देख कर आनन्दित अवश्य हुआ, परन्तु उसे काटने को कोई अस्त्र पास न रहने के कारण हताश होकर अस्त्र का विषय चिन्ता करने लगा। तुरन्त सामने एक सुतीक्ष्ण कटारी पड़ी देख कर, आह्लाद से नारियल काट कर जल-पान किया और स्वस्थ हुआ। तब धीरे-धीरे नींद आने के लिये शय्या की आवश्यकता अनुभव की। त्योंही बगल में देखा कि एक पलंग पर शय्या बिछी हुई है। तब प्रफुल्ल चित्त से उस वृक्ष की छाया में शय्या पर शयन कर विचारने लगा कि यह मामला क्या है! जो विचारता हूं, वही मिल जाता है, यह तो बड़ा चमत्कार है! अच्छा है, इस समय यदि कोई स्त्री आकर मेरी पद सेवा करती तो बड़े ही आनन्द से सो जाता यह चिन्ता करते ही देखा कि—एक सुन्दरी रमणी पैरों को तरफ बैठी है और हाथ बढ़ा कर पद सेवा करने को तैयार है, पथिक के मन में विपरीत भावना हुई। क्यों ? यह क्या कोई भौतिक कार्य्य है ? जन हान, मैदान में, ये घटनायें भूत का कार्य्य होने के सिवाय और क्या हो सकती हैं! यह अवश्य ही स्त्री रूप में भूत (चुड़ैल) है! सर्वनाश, अब यह यदि मेरी गर्दन पकड़ कर मरोड़ दे, तो क्या हो ? ज्योंही यह विचारा त्योंही वह स्त्री चुड़ैल रूप से उसकी गर्दन तोड़ कर अदृश्य हो गई। पथिक नहीं जानता कि वह जिस वृक्ष के नीचे बैठा था, वह कल्पतरु है।

ठीक इसी तरह हम भी नित्य कल्पतरु के मूल पर बैठ कर विचारते हैं कि "हम बद्ध हैं" इसी से हमारा बन्धन किसी तरह दूर नहीं होता। प्रथम स्त्री पुत्रादि को बन्धन मानते हैं, फिर इस देह को बन्धन समझ लेते हैं, उनमें जो मन बुद्धि इन्द्रिय को बन्धन रूप समझ सके हैं वे तो शीर्ष स्थानीय हैं। जगत् में वे साधु महा पुरुष कहे जाते हैं। यद्यपि वर्तमान वेदान्त दर्शन ने इन बन्धनों को भी कल्पित, मिथ्या, भ्रान्ति बतला कर उड़ा देने की प्राणपन से चेष्टा की है, तथापि उनके हाथ से एक दम परित्राण नहीं पाया। वे कहते हैं—ज्ञान लाभ होने से, अर्थात् एक बार भ्रान्ति दूर होने पर भी भ्रान्ति का फल कुछ समय तक रहता है। जैसे रज्जु में सर्प भ्रान्ति होकर भय से भागना, दिल धड़कना आदि लक्षण प्रकाशित होने के बाद रज्जुज्ञान होने पर भी, सर्प भ्रान्ति होने पर भी, पूर्व प्राप्त भीति भाव-दिल की धड़कन आदि लक्षण कुछ देर तक रहते हैं; ठीक इसी तरह ब्रह्म ज्ञान के बाद भी कुछ समय तक माया का अभ्यास रहता है। बना रहे, जो माया को बन्धन कहते हैं, वे बन्धन देखें। हमारी तो माया भी मा है, अतएव माया का बन्धन हमारे निकट मा का स्नेहालिङ्गन ही है और कुछ नहीं। हम नित्य मुक्त हैं। हम मा की गोद में स्थित नग्न शिशु हैं; अतएव हम को बन्धन भी नहीं, मुक्ति भी नहीं। अजी, जगत् माया का अथवा मा का खेल है, यह ठीक ठीक जिस दिन समझ सकोगे उसी दिन देखोगे कि यह जगत् हमारा ही खेल है। फिर हामारा खेल जिस दिन ठीक ठीक समझ सकोगे, उसी दिन देखोगे कि खेल कहने को कहीं भी कुछ नहीं है। केवल "मैं" है। नहीं—तब मैं शब्द भी नहीं रहता जो रहता है, वह क्या कह कर समझावें? यदि "मैं" शब्द शून्य "मैं" वस्तु की धारणा कर सकोगे तब उसका कुछ आभास पाओगे। ओः वह कैसी मधुमय अवस्था है! वह स्वरूप कैसा आनन्दमय है। न जाने कोई-कोई साधक क्यों कहते हैं कि चीनी होने की अपेक्षा चीनी खाना अच्छा है!" शायद वे निर्विकल्प अवस्था को सुषुप्तिवत् मैं

बोधशून्य अन्धकारमय अवस्था समझते होंगे। अजी ऐसा नहीं है, वह परम ज्ञानमय, परम आनन्दमय, परम प्रेममय अवस्था है। भोग्य नहीं, भोक्ता नहीं, केवल आनन्द स्वरूप है! यहां चीनी हुए बिना चीनी का आस्वाद नहीं पाया जाता। यह भाषा में किस तरह प्रकाश करें? अस्तु उस अवस्था से उतर आने पर फिर जगत का खेल देखते हैं-वह तो हमारा ही खेल है! आ-मा' र ई खेल है जी! हमारी इच्छा होती है; इसीसे खेल करते हैं। "स्त्रियन्न-पानादि विचित्र भोगैः—स एवं जाग्रत् परितृप्तमेति"। हमारी इच्छा हुई कि स्त्री, अन्न, पानादि विचित्र भोगों का क्रीड़ा विलास करेंगे, इसी से हम सुखी होंगे, इसी से खेलते हैं। अब जिस दिन खेल अच्छा न लगेगा, जिस दिन यह जगत् स्वप्न देखने की इच्छा न होगी, उसी दिन सब छोड़ बिल्कुल नग्न हम इस खेल से पार चले जायंगे। इस समय एक वार "मैं को देखेंगे, फिर जगत के खेल में सहायक होंगे। इसमें बन्धन कहां और मुक्त भी कहां? योग शास्त्र कहता है—विषयासक्त चित्त ही बन्धन है, और निर्विषय चित्त ही मोक्ष है। जो विषय को "मैं" से पृथक एक सत्ता रूप देखते हैं, उनके चित्त विषयों पर आकृष्ट होंगे, विषयाशक्ति रहेगी, अतएव वे अवश्य ही बन्धन देखेंगे और प्राणपण से विषय से दूर अवस्थान करने की चेष्टा करेंगे। किन्तु जो देखते हैं—सब ही मैं है, सब ही मा है, उनका विषय पर न अनुराग है न विद्वेष है। त्याग नहीं, ग्रहण भी नहीं इसी से उनका बन्धन भी नहीं; मुक्ति भी नहीं! किन्तु इन अन्य बातों को लेकर हम प्रस्तावित विषय से कुछ दूर चले आये हैं।

महाराज वा महाबंधन ज्ञान से ही जीव का नीचे की ओर आकर्षण होता है। अपने को बद्ध मानने से ही, जीव की निम्न गति होती है। यही इस मन्त्र में आये हुए "चकर्ष" पद का तात्पर्य है। मा दया कर के जीव का वह नीचे की ओर का आकर्षण दूर

कर देते हैं । यही कर्षतस्तु करं देवी खड्गेन निरकृन्तत" रूप से व्यक्त हुआ है । जिन्होंने मातृचरणों में आत्म समर्पण किया है, वे कितने ही बन्धन ज्ञान के निकटवर्ती क्यों न हों, उससे उनकी निम्नगति सूचित नहीं होती । क्योंकि वे जानते हैं–"मैं" नित्य मुक्त हूँ । जिन्होंने सर्वावस्था में मा के चरण जकड़ कर पकड़ लिये हैं । आकर्षण उनका क्या करेगा ? नहीं, नहीं, उन्होंने मा नहीं पकड़ा बल्कि मा ने स्वय उनका हाथ पकड़ा है, अतएव महागज कितना ही आकर्षण क्यों न करे, किसी तरह नीचे नहीं गिरा सकता । अपने दुर्बल हाथों से मा को पकड़ें तो हाथ छूट जाने का भय है; किन्तु हमें तो मा सर्वभाव से पकड़े हुए है; अतएव वह हाथ से हमारा छूटना असम्भव है ।

अस्तु; इस तरह मा के खड्गाघात से महागजमूर्ति के दो खण्ड हो गये–विमल विज्ञान के प्रकाश से कल्पित बन्धन का स्वरूप दूर हो गया । तब असुर ने फिर महिषमूर्ति धारण की । सञ्चित कामना के बीज अनेक प्रकार की मूर्ति बदल कर भी जब कुछ नहीं कर सके, बल्कि प्रत्येक कपट वेश भी मा की तीक्ष्ण दृष्टि से पकड़ा जाने लगा, तब-विवश हो फिर उसी महिष मूर्ति से, प्रकाश्य कामना वासना के आकार से पूर्वोक्त स्मरण कीर्तनादि आठ प्रकार के अस्त्र प्रयोग करने लगा । उन आठ के सिवाय कामना का और कोई अस्त्र नहीं, इसी से मन्त्र में—"तथैव क्षोभयामास' कहा गया है । पहले भूतल और व्योम मण्डल विक्षोभित किया था अब तीन लोक व्यापी अत्याचार आरम्भ किया है । मूलाधार से मणिपुर पर्यन्त एक लोक, मणिपुर से विशुद्ध पर्य्यन्त दूसरा लोक, एवं विशुद्ध से आज्ञा चक्र तक तीसरा लोक है, सहस्त्रार लोकातीत है इसी से वहां असुर का अत्याचर नहीं पहुंचता । मणिपुर तक भूलोकीय वा पार्थिव अत्याचार, अर्थात् पुत्र धन,यश आदि की कामना है । विशुद्ध पर्य्यन्त भुव वा देवलोकीय अत्याचार, अर्थात् दया, क्षमा; उदारता

श्रद्धा, भक्ति, विश्वास आदि की कामना, और आज्ञाचक्र पर्यन्त सिद्धिशक्ति, सर्वज्ञता, सर्वभावाधिपत्य इत्यादि ऐश्वरिक शक्ति विषयक कामनाओं का अत्याचार है। इसी से मंत्र में कहा है कि महिषासुर ने प्रायः तीनों लोकों को क्षुब्ध कर डाला था। मन में रखिये—ये कामनायें आगन्तुक नहीं हैं—सञ्चित संस्कार मात्र हैं। असुर ने क्रम से ऊँचे-ऊँचे लोकों की कामनाओं के बीज उद्घाटित करके तुम्हारी आँखों के सामने रक्खे हैं। उद्देश्य—तुम्हारी अलक्ष्य दुर्बलता तुम्हें दिखाकर सदा के लिये आत्मराज्य से वञ्चित रक्खे। किन्तु भय नहीं—साधक, जब तुम मा की कृपा से इन उच्चस्तर की कामनाओं को असुर का अत्याचार रूप से ही समझ सके हो, तब फिर तुम्हें कुछ भय नहीं है। मा की कृपा से शीघ्र ही इस आत्याचार से तुम परित्राण पाओगे।

ततः क्रुद्धा जगन्माता चण्डिका पानमुत्तमम् ।
पपौ पुनः पुनश्चैव जहासारुण लोचना ॥३३॥

अनुवाद। अनन्तर क्रुद्धा जगन्माता बार बार उत्तम मधुपान और आरक्त नयन से हास्य करने लगीं।

व्याख्या। महिषासुर ने अनेक प्रकार से अपना रूप बदल कर सिंह को विमथित करने का प्रयास किया था; किन्तु मा के अस्त्र प्रभाव से वे सब चेष्टायें व्यर्थ हुईं; यह देख कर भी जब फिर पूर्ववत् अत्याचार करना बन्द नहीं किया, तब मा फिर चुप न रह सकी; अब अपने हाथ से उसका निधन करने के लिये बार-बार मधुपान करने लगीं। मधुपान रहस्य कुछ आगे वर्णित होगा। मा बार-बार मधुपानकर लाल नेत्रकर हँसी करने लगीं। यही महिषासुर निधन का पूर्वरूप है। साधक! क्या तुमने मा के उस हास्यमय आरक्त नयन की मुखभङ्गिमा देखी है? स्नेह और क्रोध, दया और निष्ठुरता; रक्षा और नाश, अभय और भीषण ये परस्पर अत्यन्त विरुद्धभाव एक साथ जिस मुख पर प्रकट हों, वह मुख, अजी वह

मुख ! मा के उस हास्य क्रोधमय मुखभङ्गिमा की बात स्मरण करने पर भी दिल कैसा होने लगता है ! मा हमसे कितना स्नेह करती है, वह मा की उस मुखभङ्गिमा से ही सम्यक् प्रकाशित हैं। इसीसे कहते हैं—मा के उस रक्तिम आनन (मुख) की अपूर्व भङ्गिमा यदि न देखी हो, तो अब भी अपने को यथार्थ पीड़ित नहीं समझ सके। अब भी विषय रस पान को ही परम पुरुषार्थ मान रक्खा है। इसीसे मा ने चण्डिका मूर्ति से अभी तक दर्शन नहीं दिये हैं। वह विषय रस ही असुर का अत्याचार है; और उस अत्याचार से तुम जर्जरीभूत हो। सैकड़ों पुरुषकार प्रयोग करके भी तुम उस अत्याचार से अपनी परित्राण होती न देख कर, जब "त्राहि मां शरणागतम्" कहते हुए एक बार मा की ओर देखोगे तब ही देखोगे—मा हमारी रण चण्डिका मूर्ति से आविर्भूत हुई है। आनन्द रूप मधुपान से मा के तीनों नेत्रों में लाली आ रही है। ओष्ठाधर में अपूर्व हास्य विकाश पाता है।

विपद में पड़ कर, रोग, शोक अभाव से पीड़ित हो कर अनेक समय मा के शरणागत होने की चेष्टा करते हैं। उस समय भी हम मा को नहीं चाहते, मा की कृपामात्र प्रार्थना करते हैं। उद्देश्य—विपद से मुक्त होना। अतएव मा—भी उस स्थान पर यथा योग्य कृपा मात्र वितरण करती हैं। आत्म स्वरूप प्रकाश नहीं करती। किन्तु जब हम इस जीवत्व को ही एक महा पीड़ा रूप समझ सकें, इस मन, बुद्धि, इन्द्रिय द्वारा प्रकाशित होने को ही आसुरी अत्याचार अनुभव कर सकेंगे तब ही मा असुर-दलनी चण्डिका मूर्ति से आत्म प्रकाश करने को बाध्य हों।

ननर्द चासुरः सोऽपि बलवीर्य्यमदोद्धतः।
विषाणाभ्याञ्च चिक्षेप चण्डिकां प्रति भूधरान् ॥३४॥

अनुवाद। बलवीर्य्य-मदगर्वित वह असुर भी भयानक गर्जन और सींगों से चण्डिका पर पर्वत फेंकने लगा।

व्याख्या—साधक! मा के प्रति ये पर्वत निक्षेप का मामला एक वार समझ लें, पर्वत प्रमाण दुर्लङ्घ्य कामनायें—हमारे अन्त-र्निहित अनेक जन्म सञ्चित वासनाओं के ढेर ही पर्वत आकार से मा के अङ्ग पर विक्षिप्त हो रहा है। अजी देखो—हमारी एक एक शैशव प्रार्थना (बालकों के भाँति मांग) पूर्ण करने में मा को कितना कष्ट, कितना दुःख पाना होता है। ज्ञान से, अज्ञान से जो चाहना कर चुके हैं उन्हें देने में उन वासनाओं को निर्मूल करने में स्थिरा, शान्तिमयी मा को कितना अस्थिर होना पड़ता है, कितनी अशान्ति भोगनी पड़ती है। जीव यह न समझे कि तुम्हारी तुच्छ वासनायें भी व्यर्थ होगा प्रत्येक वासना ही पर्वत हैं। वह महिष के सींगों के आघात से -रजोगुणकृत उद्दीपना के प्रभाव से उत्क्षिप्त हो कर मा के अङ्ग पर आघात कर रही हैं। अजी! मा का कमनीय वपु हमारी वासनाओं रूप भारी पर्वतों की चोट से क्षत-विक्षत हैं। तो भी मा हमारी ही है और किसी की नहीं, केवल हमारे ही मुख की ओर ताकती है कि कब हम एकवार अधिक नहीं केवल एक वार मा कह कर बुलावें! यह स्नेह किस भाषा में प्रकट हो? मा, अब कभी कुछ न चाहेंगे, किन्तु जो चाह चुके हैं उसके लिये तुम्हें कितनी व्यथा सहन करनी होती है। मा! इतनी दिन में समझ चुके हैं कि वासना का आघात जितनी हम को व्यथा देता है उससे हजार गुना अधिक तुम्हें आघात करता है। हम उद्दाम लालसा के वश होकर, कामिनी काञ्चन चाहते हैं, तब तुम हमारी मा तुम स्वयं उस कामिनी काञ्चन का रूप धारण कर हमारी प्रचण्ड वासनाग्नि में आत्माहुति देती हो। ऐसा कार्य एक दो दिन नहीं, अनेक जन्म-जन्मान्तर से चला आता है। जो तुम हरिहर ब्रह्मादि के भी ध्यान के अगम्य हो, सो ही तुम हमारी कामना पूर्ण करने के लिये कितना छोटा और स्थूल होकर प्रकट होती हो! कितने अज्ञात भावों में आकर हमारे इन्द्रिय भोग्य पदार्थ रूप से उपस्थित होती है! मा? हमने कभी विचार कर देखा नहीं। कभी सरल प्राण शिशु की तरह

मा कह कर बुलाया नहीं। इतनी अकृतज्ञता का भार कैसे वहन करूंगा मा? हमारा हृदय इतना कठोर है कि इस कृतघ्नता के भारी बोझ से भी वह विदीर्ण नहीं होता। छाती फट कर टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाती। मा हमारा हृदय क्या वज्र द्वारा बनाया गया था?

केवल इतन ही नहीं। यदि कभी सचमुच मा कह कर तुम्हारे सामने खड़े हों, यदि कभी तुम्हारे आगमन का कुछ भी आभास पावे, तो तुरन्त "हर पापं हर क्षोभं हराशुभम्" यह कह कर अपनी सब मलिनता, अपवित्रता, तुम्हारे उस विशुद्ध अङ्ग पर लपेट देवें। अजी! जो पुत्र हैं, जिन्होंने मा कह कर बुलाना सीखा है; वे कितनी श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, विश्वास की पुष्पाञ्जलि से तुम्हारे रातुल चरण सजा देते हैं। और हम ऐसे अधम अकृति सन्तान हैं कि तुम्हें बुला कर अकृतज्ञ की तरह, मूढ़ की तरह कहते हैं "लेव मा हमारे पाप ताप, आधि व्याधि और मलिनता और ग्रहण करो हमारे अनादि जन्म सञ्चित प्रकटित अप्रकटित वासना संस्कार।" मा! अब कब तक इस तरह तुम्हें कलुषित करते रहें? कब तक अपने कर्तृत्व भोक्तृत्व, अपने मलिन संस्कार राशी तुम में अर्पण कर तुम्हारा विशुद्ध चिन्मय देह कलङ्कित करेंगे मा?

सा च तान् प्रहितांस्तेन चूर्णयन्ती शरोत्करैः।
उवाच तं मदोद्धूत मुखरागाकुलाक्षरम् ॥३५॥

अनुवाद। देवी उस असुर के फेंके हुए पर्वतों को वाणों द्वारा चूर चूर करके गर्वित भाव से, आरक्त मुख से उससे कहने लगीं।

व्याख्या। अनेक जन्म-सञ्चित वासना के बीज जब रजः शक्ति के प्रभाव से फलोन्मुख होते हैं, तब मा उन्हें इकट्ठे कर वाणों के द्वारा चूर चूर कर डालती हैं। जिस तरह एक राशि पत्तों के ढेर को तले ऊपर सजाकर, एक शर तीर द्वारा उन पत्तों को एक साथ वेध दिया जा सकता है, उसी तरह मा ने अप्रकटित संस्कारों को प्रकट

करके, जन्म कर्म रूप तीर से विध्वस्त कर देते हैं। यहाँ जन्म कर्म रहस्य सम्बन्ध में कुछ आलोचना करने से विषय सहज ही समझ में आ जायगा।

बहु जन्म-सञ्चित वासनाओं के बीज लेकर तब जीव जन्म ग्रहण करता है। जिस जन्म में जीव मा के लिये रो उठता है, आत्म राज्य फिर लौटा लेने के लिये यत्नशील होता है, उसी जन्म में अनेक जन्म भोग्य कर्म संस्कार इकट्ठे होते हैं। जिन कर्मों का फल भोग करने में दश बीस जन्म धारण करने पड़ते, उनका भोग मा की कृपा से दो एक जन्म में ही शेष हो जाता है! यही मा को स्मरण करने (बुलाने) का फल है! नहीं तो मा को बुलाने की कोई आवश्यकता ही न थी। स्वाभाविक गतिवश एक दिन अवश्य ही तो जीव मा की-गोद में स्थान पावेगा! चाहे वह कितना ही बड़ा पापी, कितना ही बड़ा मूर्ख भी क्यों न हो। मा किसी दिन गोद में उठावेंगी ही। तब उन्हें बुलाने की आवश्यकता क्या? आवश्यकता है यह शरवेध की। अनेक जन्मों में भोग करके क्रम से अग्रसर होना पड़ता, वे दो एक जन्म में ही समाप्त हो जाते हैं। जब जीव भोग व्यतीत अथवा थोड़े ही भोग में, अनेक जन्म के संस्कार क्षीण करना चाहता है, तब ही जीव मा-मा कर रोने लगता है। जिन महाराज सुरथ की कथा के द्वारा यह देवी माहात्म्य वर्णित होता है उन्होंने भी लक्ष पशुओं का खड्गाघात, लक्ष जीवन में भोग न करके, मातृ कृपा से एक जीवन में ही भोग शेष किये थे। एवं ऐसा होता है इसी से भगवत्मुखी जीव अनेक स्थानों में सांसारिक जीवन में नाना प्रकार के रोग, शोक, असुख, अशान्ति, लाञ्छना, तिरस्कार इत्यादि भोग करते हैं। यह सब देख कर साधारण लोग शायद विचार करें—आहा! अमुक लोग ऐसा साधु प्रकृति, निष्ठा-वान् भक्त है, तो भी भगवान् उसके ऊपर न जाने क्यों अत्याचार करते हैं? किन्तु चक्षुष्मान् व्यक्ति देखते हैं कि वह अत्याचार वा

भगवान की निष्ठुरता नहीं है। निष्ठुरता से ढकी हुई असीम करुणा धारा है। दुष्ट फोड़े से शीघ्र आराम पाने के लिये अस्त्रोपचारकारी वैद्य की ही आवश्यकता है। रोगी की देह में अस्त्र प्रयोग करते समय निष्ठुरता प्रकाश करने पर भी वह उस रोगी का यथार्थ कल्याण कारी है, उसमें कुछ सन्देह नहीं।

अस्तु अबकी बार मा ने आनन्द से हर्षित होकर विह्वल कण्ठ से असुर से एक बात कही। अगले मन्त्र में वह कही जायगी। कोई चाहे कैसा ही अर्थ करे, परन्तु हम मदोद्भुत शब्द का आनन्द विह्वल अर्थ ही समझ लें। हर्ष अर्थ में ही मद्धातु का प्रयोग होता है।

देव्युवाच।

गर्ज गर्ज क्षणं मूढ़ मधु यावत् पिबाम्यहम्।
मया त्वयि हतेत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः ॥३६॥

अनुवाद। देवी ने कहा हे मूढ़! मैं जब तक मधुपान करूँ, तब तक तुम गर्जना करो। मेरे द्वारा तेरे निहत होने पर, देवतागण इस स्थान पर शीघ्र गर्जन करेंगे।

व्याख्या। मा ने महिषासुर को मूढ़ सम्बोधन किया। जिसके प्रकाश से समस्त अज्ञान-ग्रन्थि खुल जाती हैं, उस चिन्मयी मा ने आत्म प्रकाश किया है। जीव आज मा के चरणों में शरणागत हुआ है, भावातीता नित्यशुद्धा मा का सन्धान पाया है; तो भी महिषासुर जीव पर अत्याचार करने से बन्द नहीं हुआ है; इसी से वह मूढ़ है। मा कहती हैं—मैं महाप्राण रूपिणी, सृष्टि स्थिति प्रलयङ्करी, महाशक्ति हूँ, जीव मेरे ही स्नेह की सन्तान है, उसने पीड़ित होकर मुझे मा कह कर पुकारा है, मुझको ही एकान्त आश्रय समझ लिया है। अब भी अरे मूढ! तू सञ्चित संस्कारों के मोह से मेरी उस स्नेह की सन्तान को पीड़ित करता है? अब भी हमारी दुलारी सन्तान के वासना विजड़ित हृदय पर क्षुद्रता का मलिन अभिनय करता

है ? अब भी तुझे दूर हटाकर पूर्ण भाव से मेरी ओर दौड़कर नहीं आता है ? अब भी मेरी महती आकर्षणी शक्ति, तेरे अत्याचार की सीमा से सन्तान को वेग से आकर्षण कर मेरी छाती से नहीं लगाती ? इसी से गर्जता और उछलता है। तो सुन, जब तक मेरा मधुपान समाप्त न हो, तब तक ही तू गर्जता रह। किन्तु शीघ्र ही तू मेरे ही हाथ से निहत होगा, देवता प्रफुल्ल होंगे।

मधु शब्द का अर्थ है—आनन्द। आनन्द ही मा का स्वरूप है। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" जिन्होंने आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जाना है वे फिर किसी से नहीं डरते। निरञ्जन सर्वभावातीत ब्रह्म जब अपने को बहुधा विभक्त कर, परस्पर भोक्ता और भोग्य रूप से आनन्द लीला का अभिनय करते हैं, स्वयं आनन्द स्वरूप होकर भी जब वे लीलावश अपने में आनन्द का अभाव का कल्पना करके द्वैत भावापन्न होते हैं; तब से ही एक तरफ आनन्द का अन्वेषण चलता रहता है। आनन्द ही जिनका स्वरूप है, उनका नाम हुआ तब आनन्द का भोक्ता वा द्रष्टा। फिर दूसरी ओर स्वयं वही आनन्द का सौदा लेकर प्रकृति रूप में—विषय रूप में भोक्ता के साथ लुका चोरी सी खेलने लगे। इसीका नाम भोग्य वा दृश्य। यह जो भोक्ता भोग्य का मिलन और विरह है, यह जो आनन्द का अन्वेषण और उसके पाने का लीला रस है, यही मधु है। साधक धैर्य से प्रीतिपूर्वक ज्ञान चक्षु उन्मीलन कर देखिये—जगत्मय इसी तरह मा का निरन्तर मधुपान चलता रहता है। हम मा के मधु हैं, मा हमारी मधु है। हम मधुरूपिणी महामाया को पान करते हैं फिर मा भी हमको लेकर लीला-मधुपान करती है। प्रति परमाणु रूप जीवाणु से जीव श्रेष्ठ मानव और देवता वृन्द ज्ञान से वा अज्ञान से इस मधु को ढूँढते हैं। मधु ही जिनका स्वरूप है, वे जैसे मधुहारा हो कर मधु के अन्वेषण रूप लीला करने लगे। यही सृष्टि का मूल रहस्य है।

"कहां है मधु" यह कहते हुए एक दिन हम मधुमय अवस्था से उछल पड़े थे। तिल-तिल भर मधुपान करते-करते, किसी दिन फिर उस नित्य मधुमय स्वरूप पर ही पहुंच जायेंगे। यह जो मधु का अन्वेषण और समाप्ति है, यही सृष्टि और प्रलय है। यह जो देखते हो कि—कौड़ीहीन सौ रुपये की आशा करता है। सौ रुपये मिल जाने पर हजार रुपये की आशा करता है। हजार मिल जाने पर लाख रुपये की आशा करता है। ऐसा करते-करते किसी तरह उस आशा की निवृत्ति नहीं होती, उसका हेतु—यथार्थ मधु का अभाव बोध है। मधु का अभाव बोध रहता है इसीसे ही जीव जब तक आत्म मधु को नहीं पाता, तब तक पागल की तरह एक विषय से दूसरे विषय की ओर दौड़ा करता है। बड़े आदर से गुलाब का फूल छाती से लगाकर समझता है कि "मधु मिल गया।" किन्तु क्षण भर बाद दूसरे के लिए दौड़ना परता है तब फिर उस फूल में मधु नहीं पाता। इस तरह अनेक जन्म जन्मान्तर कट रहा है। जब तक इस मधु का केन्द्र तलाश न कर पाओगे, जब तक पूर्ण मधु चक्र न बन जायगा, तब तक जीव को यह मधुकर-वृत्ति, विषय से विषयान्तर की दौड़ धूप—लोक से लोकान्तर में गति की निवृत्ति न होगी।

यह मधु कहाँ है ? सर्वत्र है, अथवा कहीं भी नहीं है, मधुमयी को बाद देने से कहीं भी मधु नहीं है। केवल तृष्णा, केवल उत्कण्ठा है। और मधमयी को देख लेने पर सर्वत्र मधु ही विराजमान है। मधु का अभाव कहीं भी नहीं है, हम जो विषय भोग करके आनन्द पाते हैं वह आनन्द विषयका नहीं, वह हमारे ही अन्तर स्थित मधु-मधुमयी मा का ही मधु है! प्रथम खण्ड में यह बात एक बार कही गई है, तो भी फिर एक बार उस बात की आलोचना करेंगे। शास्त्रं सुचिन्तितमपि प्रतिचिन्तनीयम्" "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः।"

धीर पूर्वक सुनने और समझने की चेष्टा करो। केवल परमात्मा ही आनन्द वा मधु है। महत्तत्व वा बुद्धि ही परमात्मा की सब से प्रथम अभिव्यक्ति है। अर्थात् हमारी बुद्धि में ही परमात्मा का विशेष प्रकाश है। यह बुद्धि जब तक विषय को ढूंढनेवाली इन्द्रियों के केन्द्र स्वरूप मन के पीछे-पीछे दौड़ती हैं अर्थात् इन्द्रियों द्वारा लाये हुए विषयों को प्रकाश करने रूप कार्य में व्यस्त रहती है; तब तक जीव किसी तरह मधु का पता नहीं पाता। मन सदा एक के बाद दूसरा विषय इन्द्रियों की सहायता से लाकर बुद्धि के सामने रखता है और बुद्धि के प्रकाश से विषयों को प्रकाशित कर रहा है। जब तक आकांक्षित वस्तु प्राप्त न हो तब तक इन्द्रिय और मन को विश्राम नहीं; अतएव बुद्धि को भी अवकाश नहीं। किन्तु ज्योंही अभीष्ट वस्तु प्राप्त हुई, त्योंही क्षण भर के लिये मन विषय हरण से निरस्त हुआ है। सुतरां बुद्धि को भी थोड़ा विश्राम मिला। तब—उस घड़ी में बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित परमात्म स्वरूप का उपलब्धि कर लेती है; इसी का नाम जीव का मधुपान वा विषयानन्द लाभ है। साधारण जीव समझते हैं कि "हम विषय भोग करके—कामिनी काञ्चन का सम्भोग करके आनन्द पाते हैं। किन्तु वास्तविक विषय में आनन्द नहीं है, आनन्द हमारे ही अन्तर में है। कुत्ता जैसे सूखी हड्डी चबाते-चबाते अपना मुंह घायल कर लेता है और घाव से निकलने वाले रुधिर से लिप्त हड्डी को रसमय बोध करता है, ठीक उसी तरह जीव अपने अन्तरस्थित मधु को विषय से मल कर विषय भोग का आनन्द सम्भोग करता है! साधक! बार-बार ध्यान विचार और अनुशीलन द्वारा यह सत्य एक बार उपलब्धि कर लेने से तुम्हारा विषय पर से आसक्ति अवश्य ही तिरोहित हो जायगी।

देखो जीव! तुम्हारी भोग्य वस्तु में आनन्द नहीं है, आनन्द तुम्हारे अन्तर में ही है। विषय सम्भोग का आनन्द विषय में नहीं

है, वह तुम्हारे अन्तर में ही है। तुम्हारे अन्तर स्थित गुप्त मधु को उद्दीप्त प्रकाशित करने ही के लिये तुम्हारा यह विषयाहरण—यह जन्म मृत्यु है। विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग मन्थन जैसा है, बुद्धि वा अन्तर मानो क्षीर समुद्र है और इस मन्थन के फल से ऊपर आ जाता है—अमृत वा मधु। एक तरफ आत्मा की ओर से निवृत्तिमुखी आकर्षण और दूसरी ओर विषय की ओर से प्रवृत्तिमुखी विकर्षण। प्रति जीव में, प्रति क्षण यह समुद्र मन्थन चलता रहता है। न जाने कितने अनादि काल से यह मन्थन आरम्भ हुआ है, उसे कौन कह सकता है? वह वृहदारण्यक के ऋषि ने जगत्मय इस अमृत का पूर्ण आस्वाद पाकर ही ऊँचे स्वर से गाया है। "यह पृथिवी सब प्राणियों का मधु है, और सब प्राणी इस पृथिवी के मधु हैं। यह जल सब भूतों का मधु है, सब भूत इस जल के मधु हैं यह वायु सब भूतों का मध है, सब भूत इस वायु के मधु हैं। यह आकाश सब भूतों का मधु है, सब भूत इस आकाश के मधु हैं। यह प्राण सब भूतों का मधु है, सब भूत इस प्राण के मध हैं। यह आत्मा सब भूतों का मधु है, सर्व भूत आत्मा के मधु हैं।' अजी देखो; सब ही सब के मधु हैं। जिन्होंने विश्वमय इस मध का सन्धान पाया है वे आनन्द से गान करते हैं—"मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।"

साधक! अब कब तक अज्ञान से मधुपान करोगे? कभी जान बूझकर, यह मधुपान करो। एक वार नेत्र खोलकर देखो—तुम्हारा अर्थात् जीव का मधुपान करना वास्तविक कुछ नहीं है, सर्वत्र केवल मा का ही मधुपान चलता है। नित्यानन्दमयी नित्य मधुमयी सदा यह मधुपान करती है। मा जानती है—"सब ही मैं हे। सब भूतों में एकमात्र मैं ही निरन्तर विराजिता हूं, अतएव यह जगत हमारा ही मधुपान है।" इसी से कहती हैं—"रे मूढ़! जब तक मैं मधुपान करूं, तब तक तू गर्जना कर" जब तक जीव मातृ-चरण

में आत्म-समर्पण न करे, तब तक किसी तरह मा के इस वाक्य का तात्पर्य नहीं समझ सकता—तब तक किसी तरह मा का सर्वतोऽव्यापी यह मधुपान प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। मा आप ही जीव हृदय में वासना की अग्नि रूप से प्रज्वलित हो उठती है, फिर आप ही विषय रूप से उस आग में आत्माहुति प्रदान कर आत्म मधुपान की अपूर्व लीला सम्पादन करती है, यह तत्व सम्यक् हृदयङ्गम करने के लिये मा के चरणों में अत्यन्त आत्म-निवेदन आवश्यक है। जब तक मा के इस मधुपान की निवृत्ति न हो—जब तक मा इस बहुत्व लीला से विरत न हो, तब तक किसी तरह इस असुर गर्जना की निवृत्ति हो नहीं सकती।

अजी! तुम देखो, एक बार मा का मधुपान। तुम काञ्चन की आशा से दिन रात परिश्रम करते हो, वह मा का ही मधुपान मात्र है, तुम रोग की ज्वाला से नरक यातना भोग करते हो वह मा का मधुपान मात्र है। तुम प्रियजन के विरह से दुर्विसह शोक से गुह्यमान हो रहे हो, वह भी मा का ही मधुपान है। यह यदि समझ सको, तब हो तुम्हारा जीवन मधुमय हो जाय। दुःख, कष्ट, जन्म-मृत्यु, रोग-शोक कुछ भी न रहे।

किन्तु हम कहते हैं मा! तुम्हें अब यह लीला-मधु-पान करने का काज नहीं है। नित्या मधुमयी हमारी मा! तुम में क्या मधु का अभाव है, जो लीला करके विषय-इन्द्रिय रूप में परिणत होकर, अपने को खण्ड खण्ड करके, बिन्दु बिन्दु मधुपान कर रही हो? हे हमारी मधुसिन्धु! यह बिन्दु-बिन्दु मधुपान परित्याग करो। जहाँ पान करके मधु का आस्वाद न लेना पड़े, जहाँ मधु के सिवाय और कुछ नहीं, जहाँ भोक्त भोग्य नहीं, जहाँ केवल मधु है, वहाँ हमको ले चलो मा! अब तुम्हारे इस लीला मधुपान का ताण्डव नृत्य सहा नहीं जाता मा! यद्यपि यह तुम्हारे पक्ष में मधुपान है, तथापि हमारे पक्ष में अब यह असह्य होने लगा

है। यह बार-बार जन्म-मृत्यु, यह हंसना-रोना, यह मन बुद्धि यह विषय-इन्द्रिय, यह ध्यान धारणादि ये सब तुम्हारा मधुपान होने पर भी, हमारे लिये विषपान के समान हो रहे हैं। हमें इस विष के हाथ से रक्षा करो मा ! एक दिन विश्वेश्वर विश्व की रक्षा के लिये समुद्र मथनसे उत्पन्न विषपान कर अचेत हुए थे, उस समय तुमने उन्मादिनी की भांति शीघ्रता से आकर उनके नीलकण्ठ पर अपना मधुमय हाथ-स्पर्श कर मृत्युञ्जय का मृत्यु भय दूर कर दिया था। आज हम भी इस कराल विषय विष पान से जर्जरीभूत होते हैं; अतएव ठीक उसी तरह हमारी पगली मा की तरह, स्नेह की उन्मादना से दौड़कर आओ मा ! हमको विष की ज्वाला से बचाओ मा ! एक बार अपने उस अमृतमय हाथ से हमारा यह विष विदग्ध देह स्पर्श करो, हम को शान्ति मिले-अमर हो जावें। यह विषय विष नही हैं मधुमात्र हैं, मधु ही विषय के आकार प्रकाशित है, इस सत्य पर जगत को प्रतिष्ठत कर दो, जगत विष की ज्वाला भूल जायें और मधुपान कर मधुमय हों। अब यह दीन सन्तान जगत की सरल सत्य हंसी में हँसी मिलाकर आनन्द से भुजा उठाकर जय मा ! ध्वनि कर धन्य हो; परन्तु वह और बात है।

जब तक मा का मधुपान शेष न होगा, तब तक ही असुर का अत्याचार रहेगा। तब भी यह भरोसा है मा कहती है— 'मया- त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवता;'' ! "मैं तुम्हारी मैत्व को निहत करूंगी और देवता शीघ्र ही आनन्द से गर्जना करेंगे। एक "मैं" को छोड़, दूसरा "मैं" रूप से जो तुमको दीख पड़ता है, इसका विनाश कर दूँगी। तब देवतागण भी (इन्द्रयाधिष्ठित चैतन्य वर्ग भी) अन्तिम जय ध्वनि उच्चारण कर मुझ में मिल जायँगे। यह रहस्य शुम्भ बध में प्रकाशित होगा। शुम्भ बध न होने तक, यथार्थ मैत्व विलय नहीं होता। महिषासुर बध उसका पूर्व आयोजन मात्र है। कामना—विलय और अहंनाश, एक बात नहीं है। हां अहंनाश

होने से, कामना रहती नहीं, यह सत्य है, किन्तु मा प्रथम कामना विलय करके, तब अहंनाश करती हैं, यही मा की लीला का रहस्य है।

ऋषिरुवाच।

एवमुक्त्वा समुत्पत्य सारूढ़ा तं महासुरम्
पादेनाक्रम्य कण्ठे च शूलेनैनमताड़यत् ॥३७॥

अनुवाद। ऋषि कहते हैं—देवी ने ऐसा कह कर छलाँग मार उस महासुर के ऊपर आरोहण किया एवं पैर से आक्रमन कर उसके कंठ पर शूलाघात किया।

व्याख्या। कामना के ऊपर मा का अवस्थान ही महिष के ऊपर मा का आरोहण है। कामना का अर्थ यहां आप कोई पार्थिव फल कामना मात्र न समझिये; जिन्हें धन सन्तान विषयक फलाकाङ्क्षा है, वे अब भी चण्डी-तत्व में प्रवेश करने योग्य सामर्थ्य नहीं पा सके हैं। गीता के निष्काम कर्मयोग में अधिकारी होकर अर्थात् "सर्व धर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इस मन्त्र की साधना में सिद्ध होकर, तब चण्डीतत्त्व में प्रवेश करने होता हैं। यहां जो घटना हो, उसे साधना न समझ कर मातृ-लीला दर्शन मानना ही अच्छा है। इस लीला के प्रथम ही भविष्यत् कर्म-बीजों का विनाश होता है। उसके बाद सञ्चित कामना का मूल उखड़ता है। यहां कामना शब्द से इच्छा वा 'आरम्भ' समझना चाहिये। इससे पहले हमने जितनी बार कामना वासना आदि शब्दों का प्रयोग किया है, उसके प्राय सब ही स्थानों में उन शब्दों का आरम्भ अर्थ में ही प्रयोग किया है। आसक्तिपूर्वक अर्थात् इच्छापूर्वक कार्य करने को ही कामना कहते हैं। पञ्चदशीकार ने इस इच्छा का तीन प्रकार का स्वरूप कीर्तन किया है। आत्मेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा। उनमें से अपनी इच्छा से कार्य के प्रारम्भ को ही कामना वा महिष

समझिये। साधारण लोग जिस तरह प्रवृत्ति की ताड़ना से, फल के लोभ से कार्य में नियुक्त होते हैं, इस चण्डीतत्त्व के साधक उस भाव से कार्य कभी नहीं करते या कर नहीं सकते। किसी विशेष फलाफल की इच्छा न होने पर भी कार्य करने की प्रवृत्ति जागना ही चण्डी का कामनारूपी महिष है। साधारण लोग विचार सकते हैं कि ये भी शायद हमारी तरह प्रवृत्ति के दास हैं, नहीं तो कार्य में प्रवृत्ति क्यों हो? वास्तविक ऐसा नहीं है। वे कार्य मात्र करते हैं; क्यों करते हैं, इसके उत्तर शायद वे खुद भी नहीं दे सकते। परन्तु सब कार्यों के मूल में एक सिद्धान्त उनका स्थिर है, वह है मातृ-प्रीति। नित्य तृप्त मा की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही चण्डी तत्त्व में प्रविष्ट साधक का कर्मानुष्ठान है। आहार, निद्रा, भ्रमण आदि व्यवहारिक कर्म भी इस मातृ-प्रीति—साधन के उद्देश्य से ही किये जाते हैं। गीता के उस "तत्कुरुष्व मदर्पणम्" मन्त्र की यही सिद्धावस्था है। चाहे कोई भी कार्य आरम्भ किया जाय, वह मातृ-अर्पणमय होकर ही आरम्भ होता है। इस अवस्था का नाम-महिष के ऊपर मातृ-आरोहण है। इस तरह मा जब महिष मर्दिनी—मूर्ति से साधक के हृदय में आविर्भूत हो; तब उसके सञ्चित कर्माशय से चाहे जैसे कर्म की फुरना क्यों न हो, उसके ऊपरी भाग में मा का पादाक्रमण देख पाया जाता है। कार्य के आरम्भ रूप महिष का अत्याचार होता अवश्य है, किन्तु उसके ऊपर मा की सत्ता मौजूद रहती है। मा! स्वयं कामना के ऊपर अधिष्ठित है। पर द्वारा महिष विशेष भाव से आक्रान्त है; तो भी अत्याचार बंद नहीं करता है, यह देख कर मा ने उसके कण्ठ पर शूलाघात किया। शूल शब्द का अर्थ पूर्व ही किया गया है। कण्ठ-वाक्य स्थान। जिस द्वार से संस्कार वाक्य द्वारा भाषा के आकार में प्रकाशित होते हैं, उसी स्थान में संहरण शक्ति का प्रयोग किया। यही कण्ठ देश पर शूलाघात शब्द का तात्पर्य है। यदि किसी

प्रकार भाषा का द्वार रोक दिया जाय, तो फिर संस्कार अपनी शक्ति प्रकट कर स्थूल में आकर जीव को अत्याचार से पीड़ित न कर सकें। याद रखिये—मौनी होकर रहने से ही, भाषा का द्वार निरुद्ध नहीं होता। भावातीत स्वरूप का सन्धान पाये बिना यथार्थ मौनी नहीं हुआ जाता। यद्यपि भाषा ही भाव का शरीर है, तथापि भाषा शून्य भाव भी होता है, वह आयत्त होने से ही जीव मुक्ति का आस्वाद पाता है। जिस ध्यान में, जिस स्मरण में, जिस चिन्ता में किसी प्रकार के शब्द की सहायता नहीं लेनी होती, उस स्वरूप में उपस्थित होना ही जीव का चरम लक्ष्य है। जिन्होंने भावातीत स्वरूप का सन्धान नहीं पाया है, वे शब्द शून्य चिन्ता वा ध्यान की कल्पना भी नहीं कर सकते। किन्तु हम कह देते हैं कि किसी दिन सब साधक—साधक मात्र ही इस कथा की सत्यता अनुभव करेंगे। जो भावातीत, त्रिगुण रहित है, जिससे वाणी लौट आती है, उस स्थान पर उपस्थिति होने से जीव जैसी अनुभूति पाता है, वही शब्द शून्य अवस्था है। उसे ध्यान, समाधि वा स्मृति, जो चाहो, कह सकते हो; किन्तु वास्तव में वह इसका एक भी नहीं। जहाँ से मन के साथ वाक्य लौट आता है, उस स्थान में शब्द कैसे जायगा? अस्तु, यदि किसी तरह भाव की उद्बोधक भाषा का द्वार रोक दिया जाय, तो ही कामना रूपी महिष की शक्ति विलुप्त प्राय हो जाती है; इसी से महिषमर्दिनी ने महिष के कण्ठ स्थान पर शूलाघात किया। इस अवस्था में कामनायें पूर्ण मातृमय हो जाने से फिर कामना का उद्दीपक भाव वा भाषा तक नहीं रहती। प्राण प्रतिष्ठा का यही अपूर्व फल है। जगतमय प्रत्येक पदार्थ में, और अन्तर की प्रत्येक चिन्ता में, प्राण-रूपिणी-मातृ-दर्शन के अभ्यास से साधक का अन्तर बाहिर एक हो जाता है। उसने सर्वत्र अखण्ड प्राणमय सत्ता का पता पाया। उसे फिर जगत् की किसी वस्तु की कामना नहीं रही; अतएव साधारण जीवों की तरह बद्ध भाव भी न रहा।

तब उसका काम काञ्चन भी मा ! ध्यान धारणा भी मा ! मा को छोड़ और कुछ भी उसे नहीं दीख पड़ता। क्योंकि मा ने स्वयं ही महिष के ऊपर आरोहण किया है। खुलासा कहते हैं—आत्म-समर्पणकारी साधक की अपनी चेष्टा कुछ न रहने पर भी, कतृत्वाभिमान एकदम दूर नहीं होता है। उस जीव-कर्तृत्व लेकर जब तक सत्य और प्राण प्रतिष्ठा का अभ्यास करता है, तब तक कुछ त्रुटि रह जाती है, यथार्थ सत्य और प्राणे का स्वरूप हृदयङ्गम नहीं कर सकता। सत्य वस्तु को अनुष्ठान-साध्य बोलकर मानता है। फिर मा दया करके महिष-मर्दिनी मूर्ति से आविर्भूत होती है। अर्थात् रूप रसादि प्रत्येक विषय के छद्म वेश में छिपी हुई प्राणरूपिणी मा, विषय के भीतर से आत्मस्वरूप प्रकाश करती रहती है। साधक तब अन्तर बाहिर सर्वत्र मा का ऐसा आविर्भाव देख कर धन्य होते हैं। अजो रूप रसादि विषय भी तो कामना वा महिष की मूर्ति हैं इनको प्राण बोलकर समझ सकने से कामना वा महिष विमर्दित होता है, अर्थात् जड़त्व विलुप्तप्राय होकर चैतन्यमय स्वरूप प्रकाशित होने लगता है। यही महिष की पीठ पर मा का आरोहण वा महिष मर्दिनी मूर्ति से मा का आविर्भाव हैं। इस अवस्था में साधक महाप्राण समुद्र में निमज्जित रहने की चेष्टा करता हैं। प्राणमयी मा के सिवाय साधक की और कोई भाषा भी नहीं रहती। यही महिष के कण्ठ पर देवी का शूलाघात है।

ततः सोऽपि पदाक्रान्तस्तया निजमुखात्ततः
अर्द्ध निष्क्रान्त एवाति देव्या वीर्य्येण संवृतः ।।३८।

अनुवाद। अनन्तर वह असुर भी देवी के पद भार से आक्रान्त होकर अपने (महिष मूर्ति) मुख से आधा बाहिर होते ही, देवी के अत्यन्त पराक्रम के कारण रुक गया; अर्थात् उसके सब अङ्ग बाहिर न निकल सके।

व्याख्या। महिषासुर ने जब देखा कि इतने विभिन्न भावों से रूपान्तरित होने पर भी जीव की आत्माभिमुखी-गति किसी तरह नहीं रुक सकी, तब विवश हो अपनी मूर्ति से आविर्भूत हुआ—महिष के कण्ठ से असुर मूर्ति आधी बाहिर हुई। मा ने जब महिष-मर्दिनी मूर्ति से आत्म प्रकाश किया, अर्थात् रूप रसादि विषय भी प्राणमय-मातृमय होकर प्रकाश पाती है, रजोगुण के बाहिरी स्थूल भावों जब दूर हो जाता है, तब स्वयं रजोगुण पर ही लक्ष्य पड़ता है। कार्य-शक्ति विनाश होते ही कारण-शक्ति पर लक्ष्य पड़ता है। अब तक मूल रजोगुण रूपी कारण-शक्ति की ओर जीव का विशेष लक्ष्य नहीं था, केवल उसके अत्याचार वा काय लेकर ही व्यस्त थे। अब कामनायें मातृमय हुई हैं, मा ने महिष की पीठ पर आरोहण किया है, अतएव कार्यशक्ति वा अत्याचार भी प्रशमित हुआ है। अब साधक ने अत्याचार के मूल स्थान में पहुंचकर देखा कि एकमात्र रजोगुण ही उसका मूल हेतु है; वही महिषासुर की अपनी मूर्ति है। अब वह मूर्ति महिष के कण्ठ देश से आधी निकलते ही मा ने अपनी शक्ति के प्रयोग से उसका बाहिर निकलने का प्रयास व्यर्थ कर दिया।

पूर्व कहा है—आत्मेच्छा से कार्य का आरम्भ ही कामना है। आरम्भ मातृमय होने पर भी उसके आस-पास रजोगुण की उद्वेलन-शक्ति देखी पाई जाती है। साधक जब मातृ-स्नेह में इतना मुग्ध हो जाय कि केवल देह रक्षा के उपयोगी जितना आरम्भ आवश्यक है, उसके सिवाय और किसी कार्य का आरम्भ भी सहन नहीं कर सकता, जब आरम्भों को अतीव कष्टदायक समझ लेता है, तब उस आरम्भ के मूल पर साधक की दृष्टि आकर्षित होती है, तब वह समझ सकता है—बीज वा कारण रहने से, वह हर समय प्रकाशित होने के लिये चेष्टा करेगा ही। यही प्रकृति का शाश्वतिक नियम है। जहाँ कारण मौजूद रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न

हो, समझ लीजिये—वहाँ कोई भी प्रवल रुकावट है। प्रतिबन्धक रहने पर भी कारण अपना कार्य उत्पन्न करने में नहीं चूकता। यदि कभी कारण की कार्य उत्पन्न करने की चेष्टा का लोप हो जाय, तो फिर उसका कारणत्व ही नहीं रहता। उसी को कारण कहते हैं जो निरन्तर कार्य उत्पन्न करने की शक्ति प्रयोग करने में सचेष्ट है। मान लो कि, एक इस्पात के बहुत बड़े स्प्रिङ्ग को कौशल से संकुचित और गोल करके, उसके ऊपरी भाग पर एक बड़ा पत्थर रख कर दबा दें, तो इस्पात अपनी स्थिति स्थापकता शक्ति के प्रभाव से हर समय प्रसारित होकर पूर्व अवस्था पाने की चेष्टा करता है; किन्तु भारी पत्थर के प्रतिबन्ध के कारण उसकी वह चेष्टा सफल नहीं होती। ठीक उसी तरह मातृमय कामनाओं के दबाव में पड़कर विषयकामना रूप से परिणामयोग्य रजोगुण की क्रियाशक्ति की रुकावट होती है। बाहिर किसी तरह की क्रियाशक्ति न रहने पर भी, रजोगुण ठीक स्वप्रतिष्ठ ही रहता है। यदि कभी प्रतिबन्धक दूर हो जाय तो उसी समय उसकी कार्य करने की शक्ति बाहर प्रकट हो जाती है, अर्थात् रूप रसादि विषय कामना रूप से प्रकटित होकर पूर्वोक्त स्मरण, कीर्तन, केलि आदि आठ प्रकार का अत्याचार करने लगता है। मा की कृपा से इतने दिनों में जीव की दृष्टि ने इस मूलीभूत दोष को तलाश कर पाया है, जिसके अत्याचार से पूर्ण शत वर्ष व्यापी देवासुर संग्राम संघटित हुआ था। इतने दिनों में जीव ने उसको सर्व्वतो भाव से सहाय सामग्री रहित कर, अकेला पाया है। यह भी सम्पूर्ण नहीं, अर्द्ध निष्क्रान्त। अर्द्ध निष्क्रान्त शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि, प्रबल प्रतिबन्धक वश कारण[illegible]क्ति पूर्ण भाव से आत्मप्रकाश, अर्थात् कार्य जनन शक्ति की [illegible] नहीं कर सकते। खुलासा यह है कि पदार्थमात्र की जो स[illegible]वस्था है, उसका नाम कारण, और स्थूल वा प्रकाश अवस्था [illegible] कार्य है। जैसे वटबीज सूक्ष्म रूप से वटवृक्ष का

कारण हैं। जब तक बीज आकार में रहता है, तब तक वटवृक्ष अवश्य नहीं देखा पाया जाता; किन्तु उस सूक्ष्म बीज के भीतर ही अति बड़ा वट वृक्ष छिपा है, यह चक्षुष्मान् व्यक्ति प्रत्यक्ष कर सकते हैं। ठीक इसी तरह कामना के सूक्ष्म बीज रूपी महिषासुर, पूर्ण भाव से आत्मप्रकाश न कर सकने से आधा बाहर निकला; अर्थात् सञ्चित कर्म के संस्कारमात्र रूप में प्रतीति योग्य हुआ। किन्तु "देव्यावीर्य्येण संवृतः"— मा की शक्ति के प्रभाव से और बाहर न आ सका—अन्तर में ही बीजाकार से रह गया। सूक्ष्म बीज को मा ने फिर कार्यरूप में प्रकटित न होने दिया।

इस अवस्था में भीतर वासना के बीज रहते हैं, तो भी वासना के आकार में कार्यरूप से बाहिर प्रकाशित नहीं होते। कारण मातृ-स्नेह से मुग्ध साधक अन्तर बाहर सर्वत्र सत्य और प्राण प्रतिष्ठा के फल से निरन्तर मातृ-सत्ता मात्र देखने में अभ्यस्त हैं। यह जो अवस्था है इसी का नाम "अर्द्ध निष्क्रान्त एवाति देव्यावीर्य्येण संवृतः।" गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने जिसको मिथ्याचार कहा है; किन्तु यहाँ वह अवस्था नहीं है। वहां देखते हैं—कर्मेन्द्रियों को संयत करके मन ही मन विषयों की चिन्ता करना ही मिथ्याचार है। और यहां—क्या कर्मेन्द्रिय, क्या अन्तरेन्द्रिय, कहीं भी विषय का ग्रहण वा अनुचिन्तन नहीं है। यहां विषय प्राणमय—मातृमय हुए हैं; अतएव त्याग वा ग्रहण कहने को कुछ नहीं है। यहां विषय कामनायें "देव्यावीर्य्येण संवृतः", सब अवस्थाओं में साधक महाप्राण का विकासमात्र देखने में अभ्यस्त है। केवल कामनाओं के भविष्यत् उमगने की आशङ्का मौजूद है। यह मिथ्याचार नहीं है।

अर्द्ध निष्क्रान्त एवासौ युद्ध्यमानोमहासुरः।
तया महासिना देव्या शिरश्छित्त्वा निपातितः ॥३९॥

अनुवाद। वह महाऽसुर अर्द्ध निष्क्रान्त अवस्था में ही युद्ध करने लगा, किन्तु देवी की महा असि के आघात से विच्छिन्न शिर होकर धरती पर गिर गया।

व्याख्या। यद्यपि कामना के सब अवयव मातृमय हो गये हैं, तथापि उसके मूलीभूत रजोगुण का उबाल सहसा अव्यक्त में परिणत नहीं होना चाहता। वह हर घड़ी कार्य रूप में परिणत होने की चेष्टा करता है, और साधक जोर से प्राणप्रतिष्ठा करता है। सञ्चित संस्कार जिस घड़ी अपने बीज भाव को त्याग कर, कार्य रूप में प्रकाशित होने के लिये उन्मुख होते हैं, उसी क्षण साधक उन्हें प्राण रूप से दर्शन करता है। अतएव कामना के आकार से फिर बाहर प्रकाश नहीं पा सकते। इस तरह बार-बार रजोगुण के उद्वेलन और प्राण-प्रतिष्ठा के प्रयोग से उसकी निरोध-क्रिया चलती रहती है। यही अर्द्ध निष्क्रान्त असुर के साथ युद्ध है। यह युद्ध बाहर से दीखने का नहीं हैं, अति सूक्ष्मतम क्षेत्र में हुआ करता हैं। ज्ञान-चक्षु उन्मीलित होने पर साधक इस युद्ध का स्वरूप अनुभव कर सकते हैं। पूर्वोक्त इस्पात और पत्थर का दृष्टान्त याद कीजिये। वहाँ भी ये दो शक्तियाँ आपस में भयानक युद्ध करती हैं। तो भी बाहर वह युद्ध नहीं देख पाया जाता। यदि कोई वैज्ञानिक वहाँ मौजूद हो, तो वह अच्छी तरह देख सके कि इस्पात और पत्थर में एक दूसरे की शक्ति के पराभव करने रूप भयानक युद्ध चलता है। किन्तु साधारण लोग इतना ही देख पाते हैं कि—एक पत्थर से इस्पात दबा हुआ है। ठीक इसी तरह यह अर्द्ध निष्क्रान्त असुर का युद्ध केवल विज्ञानमय कोष में स्थित साधक ही लक्ष्य कर सकते हैं। एक एक संस्कार शिर उठाने की चेष्टा करते हैं, और मातृ-संस्कार आकर उसके सामने खड़े होकर उनको रोकते हैं। साधक। क्या एकबार वह युद्ध देखोगे? तो क्षणभर स्थिर भाव से बैठो। मा बोलकर आत्मप्राण में प्रवेश करो, फिर उसी को विश्व प्राण बोलकर समझने की चेष्टा करो। देखोगे—अन्तर में एक एक वैषयिक संस्कार

झांक रहा है और तुम्हारे चित्त को उस महाप्राण से विच्युत करने की चेष्टा करता है, किन्तु तुम प्राणमय मातृ-स्वरूप में मुग्ध हो उधर भ्रूक्षेप नहीं करते; अतएव संस्कार विफल मनोरथ होकर कभी तो अव्यक्त में मिल जाते हैं और फिर फूट उठने की चेष्टा करते हैं।

ऐसा युद्ध कुछ दिन चलने पर साधक उसको भी एक महान पीड़ा मानने लगता है। तब पर-वैराग्य ही उसका एकमात्र अभीष्ट हो जाता है। तब मा हमारी ! सन्तान की आशा पूर्ण करने के लिये, महा खड्ग के आघात से इस आधे निकले हुए महाऽसुर का शिर काट देती है; अर्थात् कारण रूपी रजोगुण की कार्य्य जनन शक्ति विलोप कर देती है। शिरच्छेद का अर्थ है—उत्तमाङ्ग-काटना। जिस वस्तु की जो शक्ति है, वह शक्ति ही उसका उत्तमाङ्ग है। शक्ति नाश ही उत्तमाङ्ग नाश। पूर्व कहा था—कारण का जब कार्य्य जनन शक्ति से रहित हो जाय तब फिर उसका कारणत्व ही नहीं रहता। अतएव सम्पूर्ण रूप से कार्य्य उत्पादिका शक्तिहीन होकर रजोगुण भी अब नित नित्य कामनाओं की सामग्री लेकर उपस्थित न हो सकेगा। यही महिषासुर बध है।

वेदान्त कहता है—"पूर्वोत्तरयोरश्लेष-विनाशौ। प्रारब्धस्य तु भोगादेव क्षयः।" ज्ञान लाभ होने से, पूर्व अर्थात् सञ्चित कर्मों का अश्लेष होता है (फल संयोग का अभाव)। उत्तर अर्थात् भविष्यत कर्म का विनाश होता है। रहा प्रारब्ध, उसका भोग के द्वारा क्षय होता है। भविष्यत् कर्म का विनाश प्रसंग हम प्रथम खण्ड के मधु-कैटभ बध में पाये है।

यह महिषासुर बध ही पूर्व कर्म्म का अश्लेष है। "अब नया कुछ नहीं चाहता" यह ज्ञान प्रथम चरित्र में स्थिर हुआ है। जो चाहा था, उसका भी फल भोग न करूँगा", यह स्थिर होता है—इस द्वितीय चरित्र में। यह ग्रन्थि ही सबसे कठोर है। नई कुछ चाहते नहीं, अतएव कुछ गोल योग भी नहीं। प्रारब्ध तो अवश्य

ही भोग करना होगा। किन्तु जो सब बीज इकट्ठे हो चुके हैं, अभी फलोन्मुख नहीं हुए, उनकी फल देने की सामर्थ्य का विनाश करना बड़ा ही कठोर है! यह ही विष्णुग्रन्थि है।

अनेक जन्मार्जित सुकृति के फल से, मा की कृपा से, श्रीगुरु के अमोघ आशीर्वाद से यह दुस्तर विष्णु ग्रन्थि विच्छिन्न होती है। विष्णु—स्थिति-शक्ति वा प्राण। सञ्चित संस्कार समूह ही व्यष्टि-प्राण को महाप्राण रूप में प्रकाशित नहीं होने देते। जीव की अनेक जन्म की संग्रहीत वासनाओं को जो पकड़ रखता है, साधारण बोलचाल में जिसको ममता वा "मेरा मेरा" भाव कहते हैं, पुराणादि शास्त्रों में जिसे विष्णु माया कहा है, वही स्थिति-शक्ति वा व्यष्टि प्राण, अतएव वही विष्णु है। प्रत्येक जीव में ही यह विष्णु सत्ता विद्यमान है। उसी का नाम विष्णु-ग्रन्थि है। और जिसने इस विराट ब्रह्माण्ड के अनादि सङ्कल्प को पकड़ रखा है; वही लीलामय महाविष्णु है। इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थिति प्रलय लीला विष्णु शक्ति में ही अवस्थित है। वह उस शक्ति में मुग्ध वा अभिमानाबद्ध नहीं है; इसीसे उनके पक्ष में वह ग्रन्थि वा अज्ञान नहीं है—लीला है। किन्तु जीव के पक्ष में वह सङ्कल्प ही बन्धन अर्थात् बार बार जन्म मृत्यु, अथवा स्वप्न जागरण और सुषुप्ति रूप से प्रकाश पाता है। जीव उसमें मुग्ध और अभिमानाबद्ध है, अतएव यही ग्रन्थि—अज्ञान वा बन्धन है। व्यष्टि भाव से प्रत्येक जीव में जो विष्णुग्रन्थि है, समष्टि भाव से वही परमेश्वर में विष्णु लीला है।

खुलाशा कहते है—साधक! अपने "प्राण" कहने से जो समझते हो उस प्राण को जब तक विश्व प्राण रूप से दर्शन न कर सकोगे, तब तक विष्णुग्रन्थि भेद न होगा। तुम्हारे जितने जीव भावीय संस्कार हैं, वे सब ही इन प्राण में अवस्थित हैं। उसको सङ्कीर्ण करके—छोटा बना रक्खा है, इसी से वे महाप्राण रूप में प्रकाशित नहीं हो सकते। इसी से तुम्हारी प्राणमय ग्रन्थि का उद्भेद नहीं

होता। अजी परमेश्वरी अपनी मा को कङ्कालिनी सजा रक्खा है। जीवत्व की कालोंछ से मुंह काला कर संस्कारों के फटे वस्त्र पहनाकर देह रूपी जीर्ण कुटीर में बैठा रक्खा है! फिर उसके ऊपर अपने अभाव अभियोगों का प्रतीकार होते न देखकर उसे कङ्कालिनी समझ कर अनेक विद्रूप वाक्य प्रयोग करते हो। अरे, अमुक कितने सुख में है, अमुक कितनी साधना करता है, अमुक ने कैसी सिद्धि शक्ति प्राप्त की है, अमुक ने कैसी प्रेम भक्ति प्राप्त की है, अमुक कैसा ज्ञानी हुआ है, अमुक कैसा सर्वस्व त्यागकर सन्यासी हो गया है, पर हमारा कुछ भी न हुआ। इस तरह चाहे जौनसा अभियोग लेकर जब दीर्घ श्वास छोड़कर क्षुब्ध हो तब एक बार कभी मा के मुखकी ओर निगाह की है क्या? उनके उस स्नेहपूर्ण आरक्तिम मुख पर कैसा मर्म पीड़ा का प्रतिबिम्ब फूट उठता है। वे सर्वेश्वरी होकर भी, उसी समय सन्तान का अभाव अभियोग दूर न कर सकने से उनकी आंखों में आंसू बहने लगते हैं, मा के पास वह दुःख रखने को स्थान नहीं। मा कभी तुम्हारे मुख की ओर देखती है और कभी अपनी अवस्था स्मरण कर आकुल प्राण से जो व्यथा सहन करती है उसे विचारने से पत्थर का दिल भी गड़बड़ा जाता है। विचार देखो—जो एक दिन राज-रानी थी, वह यदि भाग्य दोष से भिक्षुकी हो जाय और उस दुर्दिन में उसका शिशु पुत्र उत्तम आहार वस्त्र न पाकर, मा को लक्ष्य कर कटु वाक्य प्रयोग करता रहे; तब वह दुःख वहन करना मा के लिये कितना कठिन है।

अजी! जब देखते हैं कि रोग, शोक, अनाहार, अभावों और दुश्चिन्ता से पीड़ित होकर मनुष्य का हताश करते हैं, विषाद की कालिमा मुख पर लगाकर हताश प्राण से दिन काटते हैं, तब ही हमारी राजेश्वरी मा की कङ्कालिनी मूर्ति आंखों के आगे प्रकाशित होने लगती है। मा! मा! हमारी मा! तुम ही तो दीन मलीन मूर्ति से जीव को गोद में ले बैठी हो! जीव ने तुमको भिखारिनी

किया है। जीव की मनमानी कामनायें पूर्ण करने में ही आज तुम भिखारिनी हो। अपना सर्वस्व तुमने दे डाला है। मा! तुम्हारा वह करुणाश्रु लिप्त मुख देखने से वज्र भी फट जाय, पर हमको ऐसी धातु से बनाया है कि तुम्हारा वह दुःख अनुभव करना तो दूर रहा बल्कि ऊपर से तुमको ही कङ्गालिनी समझकर तिरस्कार करते हैं। मा! कब हम मनुष्य होंगे? कब हम अपने को मा की सन्तान समझ सकेंगे? मा! क्षमा करो! अकृतज्ञ, अधम शिशु पुत्र का यह अज्ञान-कृत-अपराध क्षमा करो; और कुछ कहना और विचारना नहीं है; मा! तुम क्षमा करो।

सुनो जीव! तुम्हारा यह कल्पित अभाव, कल्पित दीनता देख कर मा के प्राण रोने लगे हैं, वह पुत्र-स्नेह से आकुल होकर तुम्हारे सब अभाव अभियोगों का प्रतीकार करने को सचेष्ट हुई हैं। आज उनका जो आशीर्वाद, नहीं वर, जिस वर को लेकर काङ्गाल की भाँति द्वार द्वार फिरते हैं वही वर ग्रहण करो। जीव! तुम्हारे सब अभाव दूर होंगे। गीता में सुने हैं—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।" जिसको प्राप्त कर लेने से दूसरे कोई लाभ को अधिक बोलकर नहीं मानोगे। जिसमें अवस्थान करने से भयानक दुःख उपस्थित होने पर भी विचलित नहीं होना पड़ता, यह वही वस्तु है; यह वही वर है। आओ जीव! आदरपूर्वक ग्रहण करो।

प्राण प्रतिष्ठा। आत्म प्राण को मा बोलकर आदर करो। प्राण ही तो परमेश्वरी है, प्राण में ही तो सब प्रतिष्ठित है, प्राण ही इस जगत आकार से आकारित है, यह विश्वास करो, प्रत्यक्ष करो, अनुभव करो। जगतमय प्रत्येक पदार्थ को अपने प्राण की ही मूर्ति देखो; प्राण की घनीभूत अवस्था ही जड़ाकर से प्रतीत होती है, यह उपलब्धि कर सकने से ही, तुम्हारे प्राण विश्व-प्राण रूप से आत्म प्रकाश करेंगे; मा की कङ्गालिनी मूर्ति दूर हो जायेगी;

तुम्हारा सब अभाव अभियोग का रोना रुक जायगा। मा हमारी ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि देवताओं की अराध्या राजराजेश्वरी मूर्ति से प्रकाशित होंगी। तब तुम सचमुच ही अपने को धन्य और पूर्ण बोलकर समझ सकोगे। इसमें शाक्त, वैष्णवादि सम्प्रदाय भेद नहीं। हिन्दू मुसलमानादि जाति भेद नहीं। साकार निराकारादि का वितर्क नहीं। सब अपने अपने धर्म में निष्ठावान रहकर अपने अपने सम्प्रदायोचित आचार अनुष्ठान ज्यों के त्यों रख कर, अभीष्ट देवता के दर्शन कर धन्य हो सकेंगे। वह प्राण ही विशिष्ट मूर्ति से दर्शन देंगे। फिर वे ही अमूर्त, अन्तर्वाह्यव्यापी, अद्वय चित् स्वरूप से आत्म प्रकाश करेंगे। जीव! तुम्हारे हृदय का ग्रन्थि भेद होगा। सब संशय दूरीभूत होंगे।

परन्तु एक बात है, इस प्राणको मा बोलकर समझने के लिये—प्राण ढालने होगा। प्राण दिये बिना प्राण का सन्धान नहीं मिल सकता। किसी न किसी जगह तुमको आत्म-समर्पण करना होगा। इसके लिये मा ही हमारी भिखारी की तरह द्वार द्वार पर आकर, थोड़ा थोड़ा प्राण भिक्षा करती हैं। जीव! तुमने अपने नव द्वार बन्द कर रक्खे हैं। किसी भी प्रकार प्राण भिक्षा देना चाहते नहीं। इसीसे तो मा हमारी एक दिन गोपाल मूर्ति से वृन्दावन धाम में अवतीर्ण होकर, माखन चोरी वा प्राण चोरी की थी। आज फिर भिखारी होकर "अजी प्राण भिक्षा दो" कहती हुई द्वार द्वार फिरती हैं। देउ सन्तान! प्राण भिक्षा देउ—महा-प्राण मिलेगा। अमृत का पता पाओगे। नित्यानन्द में निवास करोगे। कितनी कातर प्रार्थना करती हैं—प्राण देउ! पुत्र! प्राण देउ! क्या सुनते नहीं? प्राण देउ। सारा प्राण नहीं दे सकते तो थोड़ा सा देउ। अरे। अपने बस इतने बड़े प्राण के एक कोने में मुझ को थोड़ा सा स्थान देउ; थोड़ा सा प्रेम करो। मैं तुम्हें महाप्राण का पता दूंगी। देखो—ब्रह्मा, विष्णु के भी ध्यान के अगम्या मा आज पुत्र-स्नेह से व्याकुल होकर, कङ्गा-

छिनी वेश में तुम्हारे द्वार पर उपस्थित है, तुम एक बार मा बोलकर पुकारो। थोड़ी सी प्राण भिक्षा देव।

ततो हाहाकृतं सर्वं दैत्यसैन्यं ननाश तत्।
प्रहर्षञ्च परं जग्मुः सकला देवतागणाः ॥ ४० ॥

अनुवाद। इस के बाद बचे हुए दैत्य सैन्यगण हा हा करते हुए अदृश्य हो गये। देवताओं को अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ।

व्यख्या। विक्षेप आवरण आदि प्रधान वृत्तियों और उनके आश्रय स्वरूप रजोगुण के विलय से, उसके अङ्गीभूत संस्कार राशि अदृश्य हो गये। पक्षान्तर में इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग महाप्राण के सम्भोग से अति हर्षित हुए। प्राण-प्रतिष्ठा के फलसे साधक सर्वत्र प्राणमय सत्ता दर्शन में अभ्यस्त हो जाने से आसुरिक वृत्तियां भी प्राणमय होने लगीं। बहुत्व के साँचे रहने पर भी भेद ज्ञान दूर हो गया। एक ही प्राण वा सच्चिदानन्द वस्तु संस्कार के साँचे में पड़ कर विभिन्न नाम रूप से प्रकाश पाती है, यह अच्छी तरह अनुभव हुआ। चीनी के खिलौनों का दृष्टान्त याद करो। चीनी का ज्ञान होने से, हाथी, घोड़ा, मठ सब चीनी मात्र ही तो हैं, यह समझने में फिर देर नहीं होती। फिर वे विभिन्न नाम रूप सामने उपस्थित होने पर भी उनका असली रूप अप्रकाशित नहीं रहता। इसी की शास्त्रीय परिभाषा—दग्ध बीजवत् संस्कार है।

भेद ज्ञान पुष्ट रहता इसीसे ही त्याग वा ग्रहण रहता है। भेद ज्ञान दूर हो जाने पर त्याग वा ग्रहण नहीं रहता। प्राणमय ग्रन्थि खुल जाने से, सञ्चित संस्कार भुने बीज की तरह वे कभी कर्म वा फल भोग के हेतु न होंगे, इस तरह सञ्चित संस्कारों का फल भोग न करके, जीव मातृ-अङ्क में आरोहण कर सकते हैं। विष्णु-ग्रन्थि भेद का यही विशेष फल है। इस अवस्था में साधक केवल प्रारब्ध-क्षय की अपेक्षा करते रहते हैं! वह रहस्य शुम्भवध में व्याख्यात होगा।

तुष्टुवुस्तां सुरा देवीं सहदिव्यैर्महर्षिभिः ।
जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणा ॥ ४१ ॥

इति श्री मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय उपाख्याने देवीमाहात्म्यवर्णने महिषासुर बधः ।

अनुवाद । तब देवतागण दिव्य महर्षि वृन्दों सहित एकत्र होकर, देवी का स्तव करने लगे । गन्धर्वपतीगण संगीत और अप्सरागण नृत्य करने लगे ।

व्याख्या । महिषासुर निहत हुआ—रजोगुण से उत्पन्न सञ्चित संस्कारों की फलोत्पादन शक्ति विलुप्त हुई । साधक का प्राणमय ग्रन्थि भेद हुआ । इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वर्ग ने जड़त्व की पीड़ा से परित्राण पाया । जिनकी कृपा से, जिनकी अमोघ इच्छा शक्ति के प्रभाव से, यह अघटन संगठन सम्भव हुआ, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश की इच्छा स्वभावतः ही उपस्थिति हुई । इसी से देवता और महर्षिगण समवेत कण्ठ से मा की स्तुतिमङ्गल कीर्तन करने में प्रवृत्त हुए । आगे के अध्याय में यह स्तुति व्याख्यात होगी ।

इतने दिन तक संस्कार राशि के कोलाहलसे दिव्य अनाहत नाद सुनाई नहीं दिया था । अब वह कोलाहल निवृत्त हुआ है, इसी से अनाहत से निकली हुई आकर्षणमय प्राणस्पर्शी मधुर प्रणवध्वनि सुनाई देने लगी । यही गन्धर्वों का सङ्गीत है । इस तरह अन्तर में अति मधुर अनाहत ध्वनि मुख से मातृस्तुति मंगल कीर्तन करते रहने से साधक के स्थूल शरीर में भी पुलक स्पन्दन विक्षप, आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं; यही अप्सराओं का नृत्य है ।

मा का विभोर आलिंगन ! मा की अचिन्तनीय विभूति का उपलब्धि ! मा के अतुलनीय महत्व की अनुभूति ! अफुरन्त मातृ-स्नेह का सम्भोग । अजी ! किस तरह समझावें—उस समय शरीर, मन और इन्द्रियों में क्या लक्षण प्रकाश होते हैं ? अजी, उस सुख की

तुलना नहीं, उस आनन्द का अन्त नहीं। उस आनन्द रस से शरीर का प्रत्येक परमाणु गलता हुआ सा जान पड़ता है, पैर के नखाग्र से लेकर शिर के केशाग्र पर्य्यन्त ऐसा कोई स्थान शेष नहीं रहता जो उस सुखमय स्पर्श से आकुल न हो जाय। तब फिर देह को जड़ मांस पिण्ड नहीं जान पड़ता। केवल सुखमय अनुभूति! केवल सुखमय अनुभूति! यह देह उस समय मधुमय अनुभूति स्वरूप हो जाती है। एक घन आनन्दमय बोध के सिवाय और कुछ भी नहीं रहता। "मैं आनन्दभोग करता हूँ," ऐसा बोध भी नहीं रहता। भोग्य भोक्ता एक हो जाते हैं। तो भी कैसा कुछ भेद रहता है, वह भाषा में प्रकाश कर कहा नहीं जाता। परन्तु वह और बात है।

अप्सराओं के नृत्य वा इस अंग विक्षेप सम्बन्ध में एक बात है। योग शास्त्र में उसको चित्त विक्षेप के सहभावी समाधि के अन्तराय (विघ्न) स्वरूप कहा है। यौगिक भाषा में उसका नाम अंगमेजयत्व है। स्थूल देह में विक्षेप देखते ही समझ लेते हैं मनोमय देह में भी विक्षेप चलता है; अतएव उसका निरोध ही निःसन्देह सर्वोत्तम अवस्था है। किन्तु इन अप्सराओं के नृत्यरूप अंग विक्षेप देवभाव का सूचक है। साधक! प्रथम वे देवभाव ही प्रकाश पावें, फिर भावातीत स्वरूप में—सम्पूर्ण निरुद्ध अवस्था में प्रवेश करें।

इति साधन-समर वा देवी माहात्म्य व्याख्या में महिषासुर वध।



द्वितीय खण्ड—विष्णुग्रन्थि भेद।

शक्रादि स्तुतिः।

ऋषिरुवाच

शक्रादयः सुरगणा निहतेऽतिवीर्य्ये
तस्मिन् दुरात्मनि सुरारिबले च देव्या।
तां तुष्टुबुः प्रणतिनम्र शिरोधरांशा
वाग्भि प्रहर्ष पुलकोद्गमचारुदेहाः ॥१॥

अनुवाद। ऋषि कहते हैं—देवी द्वारा वह अति बलशाली दुरात्मा महिषासुर, और उसकी सेना निहत होने पर, इन्द्रादि देवता वर्ग शिर और कन्धे झुकाकर प्रणाम करते हुए, वाक्य द्वारा उनका स्तव करने लगे। आनन्दवश पुलकायमान होने से, उस समय देवताओं का देह अति मनोहर हो गया था।

व्याख्या। इस अध्याय में देवताओं की स्तुति वर्णित होगी। महिषासुर-दुरात्मा-असत् प्रकृति। प्रकृति जब तक असत्प्रिय, परिच्छिन्नता में मुग्ध, खण्डज्ञान से तृप्त रहती है, तब तक ही उसको असत् स्वभाव वा दुरात्मा कहा जाता है। अमितवीर्य्य असत् स्वभाव महिषासुर सेना सहित निहत हुआ है। बहिर्मुख वृत्ति प्रवाह समन्वित रजोगुण उपशान्त हुआ है। अतएव सात्त्विक प्रकाश स्वरूप देवतावृन्द, अब स्थिर भाव से मातृस्वरुप दर्शन—उपलब्धि करते हैं। मा का वह विश्व विमोहन रुप प्रत्यक्ष होने से कोई भी चुप रह नहीं सकता। बाहिरी लक्षण ज्ञान भक्ति और कर्म तीनों एक साथ प्रकाश पाते रहते हैं। इसी से इन्द्रादि देवतावृन्द आनन्द से मातृ-महत्त्व कीर्तन रुप स्तव करने लगे।

इस स्तव में तीन विषय विशेष भाव से लक्ष्य करने होंगे। (१) प्रणति नम्र शिरोधरांसाः, (२) चारुदेहाः एवं (३) वाग्भिः। कायिक, मानसिक और वाचनिक, इस तीन प्रकार की स्तुति को लक्ष्य करके ही इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। हम क्रम से इन्हें समझने की चेष्टा करें। देवता ऐसे भाव से प्रणत हुए थे कि उनकी शिरोधारा (ग्रीवा) और अंशद्वय (स्कन्ध–वाहुमूल) बिलकुल अवनत हो पड़े थे। वाहुमूल एवं ग्रीवा नत होने से सारा शरीर ही अवनत हो पड़ता है, यही कायिक स्तुति वा साष्टाङ्ग प्रणाम है। मा का स्मरण करते ही उनके चरणों में सब अङ्ग इस तरह नत होना आवश्यक है। जो मा, जो अनन्त जन्म मरण में एकमात्र सारथि है, जिसका एक बार दर्शन करने के लिये लाखों जनम मरणों के असहनीय पेषण सहता आ रहा हूं, आज उनके सामने उपस्थित हूं; उनका स्नेह, उनका विराट कर्तृत्व, उनकी महती शक्ति याद आने पर सन्तान की देह अवश्य ही झुक पड़ेगी। आनन्द से देह पुलकायमान होगा, अश्रु पुलक कम्प इत्यादि सात्विक लक्षण प्रकाश होंगे। यही मानसिक स्तुति का लक्षण है। इन दोनों के साथ साथ वाक्य द्वारा मा का महत्त्व कीर्तन करने होता है। यही वाक्य की शुद्धि है। मा तुम अनिर्वचनीया हो—मन और वाणी का अगोचर हो; तो भी हम वाक्यों से तुम्हारी स्तुति करते हैं; इसके फल से वाणी विशुद्ध होगी; रसना की जड़ता दूर होगी सदा असद्भाषण से बिगड़ी हुई रसना की अपवित्रता दूर हो जायगी।

उच्च स्वर से जप और मन ही मन स्तुति दोनों ही शास्त्रनिषिद्ध है। मन में स्तोत्र पाठ करने से वह प्रायः निष्फल होता है। इसी से "वाग्भिः तुष्टुवुः"। साधक तुम भी जब मा के सामने पहुंचो (सत्य और प्राण प्रतिष्ठा के फल से, ऐसी उपस्थिति सुलभ है) तब इन तीन बातों पर विशेष लक्ष्य रहे। स्तुति के आरम्भ में ही मातृ चरणों में स्थूल देह सम्पूर्ण अवनत करो। मा के चरण स्पर्श से

देह पुलक कण्टकित होने लगे और ऊँचे स्वर से स्तव पाठ करते रहो, इससे बाहर के शब्द न सुनोगे और न चित्त में विक्षेप होगा। चित्त विक्षेप हुए बिना तुहारे शब्दों का अर्थ की ओर ही लक्ष्य रहेगा। साथ ही साथ अर्थानुसार भाव वा अनुभूति चित्त क्षेत्र में जाग्रत होती रहेगी। संक्षेप में इसी को मन्त्र चैतन्य कहा जाता है। (मन्त्र चैतन्य पहले खण्ड में व्याख्यात हुआ है।) मन्त्र समूह चैतन्य मय कर पाठ करने से, जो बाहिरी लक्षण प्रकट होते हैं; वे ही यहाँ संक्षेप में "पुलकोद्‌गमचारुदेहाः" पद से प्रकट हुए हैं। केवल स्तोत्र ही क्यो, कोई भी मन्त्र साध्य कार्य जैसे— जप, पूजा, होम आदि कार्य्य करते समय भी, इसकी ओर लक्ष्य रखना अत्तन्त आवश्यक है। चैतन्य मय मन्त्र युक्त वैध कर्म्म के अनुष्ठान से प्रसाद— चित्तप्रसन्नता, धन मातृ महत्त्वकी अनुभूति, एव भोजन— पञ्चकोषों की पुष्टि विधान, अनायास सिद्ध होता है। (प्रसाद, धन और भोजन क्या है—वह प्रथम खण्ड में व्याख्यात हुआ है।)

श्रीमद् भागवतकार ने भी कहा है कि—रसिक और भावुक हुए बिना भागवत् धर्म में अधिकार नहीं होता। इसीसे कहते हैं, साधक! अब जो करो, अपनी सामर्थ्यानुसार तब उस भाव में भावुक और रसिक होने की चेष्टा करो। ऐसा कर सकने से ही सब कर्म्म सफल होते हैं। अजी! उपासना तो भाव की ही होती है। भावातीत स्वरुप की क्या उपासना है? न होता है। पहले जगत् के भावों को—विषय रसों को भगवद्‌भाव से भावित और रसमय कर लेने होता है बाद में धीरे-धीरे उन्हीं की कृपा से भावातीत स्वरुप में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त होती है।

हमारे पूर्ववर्ती आचार्यों भी सामादि वेद पाठ करते थे, अग्नि, जल, वायु, आकाश, सूर्य्य, पर्वत, नदी आदि का स्तुति गान करते थे। वह उनके सरल प्राण का स्वाभाविक उच्छ्‌वास था। उसमें किसी तरह का कपटता नहीं था। सर्वत्र प्राणमय सत्ता दर्शन करके

सर्वत्र ब्रह्मसत्ता उपलब्धि करके उनका जड़त्व ज्ञान दूर हो गया था इसीसे सब जड़ पदार्थों के साथ वह चैतन्यवत व्यवहार किया करते थे। इस देश के लोग अब भी तुलसीदल चयन करते समय सरल प्राण से कहते हैं—"हे तुलसि! तुम अमर हो, केशव की प्रिय हो, केशव की पूजा के लिये ही तुम्हारे पत्र चयन करते हैं। तुम कुछ विचार न कीजिये। हमें क्षमा करो।" केवल तुलसीदल लेने के समय ही नहीं बल्कि दैनिक अधिकांश कार्य्यों में साधारण की दृष्टि में जो जड़ वस्तुयें हैं उनके साथ भी चैतन्यवत् व्यवहार देखा जाता है। धन्य उस देश के लोग, जो स्नान के समय बदन से मिट्टी लेपन करते-करते "मृत्तिके हरमे पापं यन्मयादुष्कृतं कृतम्" बोल सकते हैं, जो पीपल के वृक्ष पर जल चढ़ाते समय "अश्वत्थ रुपी भगवान प्रीयतां मे जनार्दनः" कह सकते हैं, जो शिलाखण्ड को प्रत्यक्ष भगवन् रुप में देख सकते हैं। परन्तु वह और बात है :—

स्तवादि सम्बन्ध में और एक बात यहाँ बतलाये देते हैं—आधुनिक किसी मनुष्य के बताये हुए स्तोत्रादि की अपेक्षा ऋषियों के प्रवर्तित मन्त्र वा स्तव की शक्ति बहुत अधिक है। बहुकाल तक गुरु परम्परा-क्रम से महापुरुषगण जिस मन्त्र वा स्तोत्रादि का पाठ करते आते हैं, उसकी शक्ति अधिक है इसका कहना ही क्या है। अवश्य आधुनिक लोगों के बनाये हुए स्तव वा सङ्गीत भाव और रस की उद्दीपना नहीं कर सकते, यह हम नहीं कहते। परन्तु ऋषि-प्रवर्तित शब्दों की शक्ति इससे और भी अधिक है, यह अनेक स्थानों में परीक्षा करके भी देखा गया है। कुछ तत्व का आस्वाद पा लेने पर फिर ऊपरी आभास के रसयुक्त संगीत, अथवा आधुनिक स्तुतियों में उतना सौन्दर्य्य नहीं रहता। वैदिक शब्द मानो प्राण से गठित हैं। उनके उच्चारण से शरीर के प्रत्येक अणुपरमाणु में एक पवित्रता का, सात्विकता का स्पन्दन अनुभूत होता है। अस्तु, स्तव पाठ करते अथवा मन्त्र साध्य कोई भी अनुष्टान करते समय, सब को ही पूर्वोक्त तीन विषयों पर विशेष लक्ष्य रखना आवश्यक

है कि काय, मन और वाक्य तीनों एक सुर में बजने लगें; वैधकर्म्म जिससे कुछ शब्द उच्चारण मात्र में ही पर्यवासित न हो। अर्थहीन भावहीन, मन्त्र का उच्चारण, अथवा किसी बहुत दूर स्थित सत्ता के उद्देश्य से अनुष्ठित कर्म्म प्रायः निष्फल होते हैं। अतएव इस विषय पर साधकों का विशेष जानकारी होना आवश्यक है।

इसके सिवाय उक्त प्रणति, पुलक और पाठ, इन तीन विषयों की ओर लक्ष्य रखने से ही, ज्ञान, भक्ति और कर्म का एक साथ अनुशीलन होता रहता है। पूर्व कहा है—ज्ञान के मानी उनको जानना, भक्ति के मानी उनसे प्रेम, और कर्म के मानी उनके उद्देश्य से कुछ करना। जिनको जानते नहीं उनसे प्रेम नहीं कर सकते। अतएव उनके उद्देश्य से विशेष कुछ कर्म भी नहीं किया जाता है। साधक! मा का स्वरुप जितना जानोगे, मा का महत्व जितना उपलब्धि करोगे, उतना ही तुम्हारा जीव भाव अवनत हो जायगा। यही ज्ञान का फल है, उसी का बाहिरी लक्षण है—प्रणति। और परम प्रेममयी मा का स्वरूप समझ सकने से, प्राण में अपने आप कुछ प्रेम भाव सञ्चित होगा। यही भक्ति है और उसी के बाहरी लक्षण पुलक, अश्रु, कम्प इत्यादि हैं। फिर जितना भक्तिभाव पुष्ट होता जाता है, उतना ही उनके उद्देश्य से-उनको प्रीतिसाधन के लिये वैधकर्मों का अनुष्ठान आरम्भ होता है। वही बाहर से जप, पूजा, स्तोत्र, परोपकार अथवा विश्वहित आदि रूप से प्रकाशित होता है।

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निःशेषदेवगणशक्तिसमूह मूर्त्या।
तामम्बिका मखिलदेव महर्षि पूज्यां
भक्त्यानताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥२॥

अनुवाद। सब देवशक्ति सम्भवा जो देवी, जिनकी आत्मशक्ति द्वारा यह समुदय परिव्याप्त हो रही है, देव और महर्षियों की

पूजनीया उन माता अम्बिका देवी को हम भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं। वह हमारा कल्याण विधान करें।

व्याख्या। मा तुम देवी—द्योतनशीला, नित्य प्रकाशमयी हो। जगत की सब वस्तुओं को प्रकाश करने के लिये दूसरी किसी प्रकाशक वस्तु की आवश्यकता होती है, किन्तु तुम स्वप्रकाशस्वरूपा हो, तुम्हारे प्रकाश के लिये दूसरे किसी प्रकाशक की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो कहते हैं अज्ञान की सहायता से ही ज्ञान प्रकाश होता है अर्थात अज्ञान वा माया नामक प्रकाश्य वस्तु है तभी तो ब्रह्म वा ज्ञान प्रकाशमय है। प्रकाश्य वस्तु के अभाव में प्रकाश बोलकर कुछ रह नहीं सकता, जैसे यह पृथ्वी न रहे तो सूर्य का प्रकाश स्वरूप रहकर भी नहीं है, यह कहा जाय; वैसे ही प्रकाश्य वस्तु वा अज्ञान समीप में न रहे तो ज्ञान के प्रकाश स्वरूपत्व का उपलब्धि नहीं होता है। मा! इतनी युक्ति द्वारा जो तुम्हारे स्वप्रकाश का निराकरण करना चाहते हैं, वे प्रमाण की रसी कमर में बांध कर प्रमाणातीता तुम्हारा स्पर्श करना चाहते हैं। युक्ति और अनुमान की सहायता से तो तुमको पकड़ा नहीं जाता; सब प्रकाश्य वस्तुओं को सम्यक रूप से संहरण करके केवल तुम ही स्वप्रकाश स्वरूप से नित्य विराजमान हो इसे वे समझ नहीं सकते। अथवा तुम उनके भीतर यही तक प्रकाशित हुई हो, इसी से प्रमाणातीत तुम्हें पकड़ नहीं सकते। अब किसी दिन मा! तुम ही जब गुरु रूप से आवविर्भूत होकर, अपनी उस शिष्य मूर्ति की दृष्टि प्रसारित कर दोगी, तब वे भी कहने लगेंगे—"तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति।"

"ततमिदं जगदात्मशक्त्या।"—मा! तुम आत्मशक्ति द्वारा इस जगतमय परिव्याप्त हो रही हो। आत्मा तुम जब शक्ति रूप से प्रकाशित होती हो, तब ही तो यह जगत् प्रकट हो जाता है। मा! तुम्हारे इस आत्म-शक्ति शब्द को लेकर जगत में न जाने कितने मतभेद चलते हैं! आत्मा और शक्ति, आत्मा की शक्ति,

आत्मा के साथ शक्ति, जो आत्मा, वही शक्ति इत्यादि अनेक विभिन्न मत; विभिन्न बाद प्रतिष्ठित हैं दूसरे का मत खण्डन और स्वमत प्रतिष्ठा करने की चेष्टा में, कितने युक्ति और तर्क के अवतारणा करते हैं। जब तक तुमको देख नहीं पाते, जब तक तुम को बहुत दूर रखते हैं, तब तक ही आत्मा और शक्ति विषय पर बाद, वितण्डा और विचार चलते हैं। मा! धन्य तुम्हारी लीला। अपने को व्यक्त करने के लिये अपनी अज्ञानता का भाण आप दूर करने के लिये कितनी लीला कर रही हो? यहाँ फिर और एक लीला आरम्भ की है। इसका भी परिणाम क्या? वह तुम ही जानो। अस्तु, एक बार तुम्हारी ओर दृष्टि पड़ जाने से देख पाते हैं आत्मा और शक्ति में शब्द मात्र भेद है—वास्तव में कुछ भी भेद नहीं।

मा! तुम आत्मा, एकमात्र तुम ही तो यथार्थ मैं का स्वरूप हो! वह एक मैं ही तो प्रति जीव में प्रति परमाणु में, सदा प्रतिध्वनित है। वह एक मैं ही तो जीव रूपी अनेक आधारों के भीतर होकर अनेक मैं का स्वांग करते हैं, उस एक मैं का नाम आत्मा है और बहु के भीतर प्रकाश होना ही शक्ति है। यह जो आत्मा और शक्ति इसको एक दो वा विशिष्ट एक चाहे कुछ भी क्यों न कहो उससे तुम्हारा स्वरूप का कुछ हानी लाभ नहीं। ऐसा विचार करते करते ही किसी दिन तुम्हारा यथार्थ स्वरूप जीव को उपलब्धि होने लगेगा वह जन्म सञ्चित अज्ञान अन्धकार दूर हो जायगा।

अच्छा एक बार तुम्हारा इस आत्मशक्ति शब्दका स्वरूपको समझनेमें कुछ हानि नहीं। "हम देखते हैं" इसमें दो वस्तुएँ पाईं; मैं और दर्शन शक्ति। यह एक है या दो, उसकी मीमांसा अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार प्रत्येक कर सकता है। परन्तु एक बात यह है कि ब्रह्म माया, पुरुष प्रकृति, शिव दुर्गा, कृष्ण राधा आदि शब्द द्वारा शक्ति और शक्तिमानगत (वस्तुत: अभिन्न होने पर भी) भेद का

उपचार करना होता है। जब तक साधना है, जब तक देह है, जब तक जगत है तब तक वह अद्वैत होने पर भी द्वैत रूप में ही प्रतीत होता है भाषासे समझने और समझाने में द्वैत भाव ही फुट उठता है। जब तक भाषा चिन्ता वा साधना है तब तक तोता मैना का विवाद चलेगा ही। तोता कहता है—हमारे कृष्ण ने गिरिवर उठाया था"। मैना कहती है "हमारी राधा शक्ति सञ्चार न करती तो कैसे उठा सकते"। मा हमारी लीलामयी है, जब तक लीला करेगी, तब तक अभेद में भेदोपचार कल्पित होगा ही।

अस्तु, मा! तुम्हारी आत्म-शक्ति द्वारा ही समग्र जगत् परिव्याप्त हो रही हो। ततमिदं जगदात्मशक्त्या"। सर्वत्र ही देखते हैं—एक मैं है और उसका नाना भावसे प्रकाश है। प्रत्येक जीवमें प्रत्येक जीवाणु में वह आत्म शक्ति वह हरगौरी मूर्ति! वह राधा कृष्ण की युगलमूर्ति! यही तुम्हारी जगद्व्यापिनी आत्म-शक्ति है। मा! अपनी इन बहुमूर्तियों—जीव सन्तानों से कहदो—हे जीव! तुम अपने में जो मैं का मौजूद होना अनुभव करते हो, वहीं वह अनुभव ही आत्मा–मा है, और उस मैं के जितने प्रकार के कार्य वा प्रकाश देखते हो, वही शक्ति है। इस तरह एकाग्र मन से देखना आरम्भ करने पर, जन्म जीवन सार्थक होगा, भय मृत्यु विषाद सदा को दूर हो जायँगे।

"निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या"-मा आत्मशक्ति रूप से तुम जगतमय परिव्याप्त हो रही हो, यह तुम्हारी साधारण मूर्ति है; उस मूर्ति को हम देखने पर भी नहीं देखते, समझकर भी नहीं समझना चाहते। इसी से तुम सन्तान स्नेह से विह्वल होकर कभी कभी असाधारण मूर्ति से स्व स्व इष्ट मूर्ति से आविर्भूत होने को वाध्य हो। वह सब देवों की शक्ति समष्टि द्वारा रचित महिषासुर-निधन उद्देश्य से ऐसी विशिष्ट मूर्ति से आत्म प्रकाश किये हो।

ओ मा! जब तक जीव शक्ति बोध रहता है; तब तक अज्ञान है

उसके बाद दैव शक्ति बोध होता उसका नाम ज्ञान है। और जब आत्म शक्ति बोध ही प्रकाशित होता है तब वह ज्ञान अज्ञान से अतीत अनिर्व्वाचनीय है। बोध इन तीन स्तरों में ही विचरण करता है। पहले जीव को शक्ति का बोध होता है। अर्ज्जन रक्षण व्यय भोग, पाप, पुण्य, ख्याति, प्रतिष्ठा ये सब जैसे मैंने किया, ऐसा जीव भावीय अभिमान सब शक्तियोंको आत्मसात करना चाहता है। फिर बार बार दैव प्रतिकूलता द्वारा वह अहङ्कार वा अज्ञान चूर्ण होता रहता है। तब धीरे धीरे देवशक्ति पर विश्वास आरम्भ होता है। क्रम से समझ सकते हैं—शक्तिमात्र ही देवता है। इसका नाम ज्ञान है। यह बोध का द्वितीय स्तर है। अन्त में वह देवशक्ति जब समष्टि भावापन्न होकर अखण्ड भाव से प्रकाशित होती है, तब जीव उसमें पूर्ण भाव से आत्म-दर्शन करके, आत्मशक्ति का पता पाता है। ओः वह क्या आनन्द! कैसी परितृप्ति! मा में आत्म-हारा होने से; साधक देख पाते हैं—जगद्रूप से मैं ही प्रकट हूं। यह चन्द्र, सूर्य ज्योतिष्क मण्डली, सदा मेरी ही आरति करती हैं। मेरे ही भय से ग्रह अपनी अपनी कक्ष से बिन्दुमात्र भी विचलित हुए बिना अनादि काल से विचरते हैं। यह वायु हमारे ही भय से सदा प्रवाहित होती है। यह नदी प्रतिदिन हमारा ही अङ्ग प्रक्षालित करती है। ये फूल हमारी ही पूजा के लिये खिल रहे हैं। अजी! कहाँ तक कहे; सब ही तो मैं हूं। मैं के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है! सब ही आत्मा है! सब ही शक्ति है! सब ही मा है!

वह जो हमारा मैं—अखिल देव और महर्षियों की पूजनीय मा! वह जो हमारा तुम, वह जो हमारा वह है, उन को, तुम को मैं को "भक्तयानताःस्मः"। भक्ति पूर्वक प्रणाम करते हैं। भक्ति कहा पावें मा। वह भी तो तूम हो। तूम को आत्मारूप न समझ सकने से—आत्मदान न करने से, प्राण रूप में आदर न करने से, तुम भक्ति रूप से आत्म प्रकाश नहीं करती मा! जो "भक्त्या नताः" हो सके हैं, वे तो जबरदस्ती तुम्हारी

गोद में बैठ सकेंगे, किन्तु हमलोग तो मा "अभक्त्यानताः" हैं; भक्ति किस को कहते हैं वह जानते भी नहीं; कैसे प्रेम करना होता है, किस तरह तुम्हारे चरणों में अपने प्राण ढाल देने होता है, वह भी नहीं जानते मा। हमको क्या गोद में न लोगी मा! हमारी आशा! हमारा भरोसा है। केवल तुम्हारे मुख की ओर देखते हुए कितने जन्म मृत्यु के घात प्रतिघात सहते आते हैं। मा! कब तक तू भक्ति रूप में इस पत्थर के हृदय में खिल उठेगी, हम भी "भक्त्यानताःस्मः" कह कर जीवत्व के पार चले जायेंगे। प्रभु, पिता, माता, सखा, सुहृद्, बन्धु, स्वामी, गुरु सब ही तुम हो। एक आधार में हमारा सब प्रेम सब आकर्षण तुम हरण कर बैठी हो। जगत के अपने लोग हमारे मुख की ओर देख कर हमसे प्यार करते हैं। हम यदि उनकी इच्छानुसार चल सकें तो ही जगत् के अपने लोगों के प्रेम के पात्र हों। किन्तु तुम अपने ही प्राण के खिंचाव से हमसे स्नेह करती हो। तुम आत्मा हो! तुम प्राण हो! तुम्हारा वह अलौकिक स्नेह हम कब समझ सकेंगे? मा! कब हम भक्तिरूपिणी तुम्हारा आविर्भाव देख कर धन्य होंगे?

मा! भक्ति नहीं है। तो भी तुम को प्रणाम करते हैं। "अभक्त्यानताःस्मः—नमोनमस्तेऽस्तु सहस्र कृत्वः पुनश्चभूयोऽपिनमो नमस्ते! नमः पुरस्ताद अथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व लेउ मा। भक्तिहीन कङ्गाल सन्तान का प्रणाम लो।

"विदधातु शुभानि सा नः"—हमारा मङ्गल विधान करो। हमारा अकेले का नहीं, हम सब का इन विश्व वासी सब का मंगल विधान करो मा! विश्वमय सब ही तुम्हारा मंगल आशीर्वाद पावें, विश्व का अमंगल दूर हो। विश्व प्रसविनी मा हमारी! आशीर्वाद दो, वर दो, तुम्हारी सब सन्तानें सत्य और प्रेम रूप यथार्थ मंगल प्राप्त कर अमंगल के हाथ से चिर परित्राण लाभ करें। मा! मा। मा। हमारी।

यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो,
ब्रह्माहरश्च नहि वक्तुमलं बलञ्च ।
सा चण्डिकाखिल जगत् परिपालनाय,
नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु ॥३॥

अनुवाद । जिनका अतुलनीय प्रभाव और बल का विषय वर्णन करने में भगवान् अनन्त, ब्रह्मा और महेश्वर तक असमर्थ हैं; वह देवी चण्डिका जगत् परिपालन और अशुभ भय विनाश के लिए मति करें ।

व्याख्या । मा । सहस्रशीर्ष अनन्तदेव चतुरानन ब्रह्मा, और पञ्चानन हर, ये भी तुम्हारे अतुलनीय प्रभाव और बलका विषय वाक्य द्वारा निर्द्देष नहीं कर सकते । यद्यपि ये सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् परमेश्वर हैं, तथापि तुम्हारा प्रभाव प्रकाश करने मे असमर्थ क्यों ? मा ! तुम्हारे प्रभाव और बल का विषय सम्यक रूप से जानने के लिये तुम में ही मिल जाना होता है । तुम में जब तक पूर्ण भाव से न मिला जा सके, तब तक किसी तरह तुम्हारा महत्व उपलब्धि नहीं होता और वाक्य और मन रहने तक तुम में मिला नहीं जाता । अथवा तुम में मिलित होने से—वाक्य सहित मन निवर्तित होता है फिर जब वाक्य और मनके राज्यमें लौट आते हैं, तब तुम्हारे अतुलनीय महत्वसे बहुत दूर हो जाते हैं अतएव कोई भी तुम्हारा प्रभाव जान नहीं सकता, तुम्हारा स्वरूप निर्णय कर नहीं सकता निर्णय नहीं कर सकता । मा ! तुम मन वाणी के अगोचर हो ।

मा ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र होने से तुम्हारा प्रभाव, महत्व उपलब्धि करने के योग्य पात्र हैं । इसीसे वे तुम्हारा अचिन्तनिय महत्त्व अनुभव करके, वर्णन करने से विमुख होकर मौन हो रहे हैं । किन्तु हम बिलकुल अर्वाचीन, तुम्हारे सर्व कनिष्ठ पुत्र हैं, हमारी क्षुद्र वुद्धि में तुम्हारे महत्व के जितने अंश का प्रति-

बिम्ब पड़ा है उसे समझे या न समझे, उसे बिना विचारे लोगों से गाते फिरेंगे। शिशु पुत्र, मा का महत्व कुछ भी नहीं जानते, तो भी सबसे अपनी मा की गौरव कहानी कहते फिरते हैं। हम भी मा! वैसे ही तुम्हारी प्रभाव कहानी घाट बाट में बिना विचारे गाते फिरेंगे। और कुछ न हो—असद् वाक्य उच्चारण जनित विदुष्ठ रसना पवित्र होगी ही।

सुनो साधक! हमारी मा का प्रभाव। यह जो सूर्य देख पाते हो, वह हमारे रहने की भूमि वसुन्धरा से चौदह लाख गुना बड़ा है। इस पृथिवी की तरह इसकी अपेक्षा छोटे-बड़े और भी कुछ ग्रह (मङ्गल, बुध, शुक्र आदि) उस सूर्य के आकर्षण से आकृष्ट होकर; उसके चारों ओर हमेशा परिक्रमा करते हैं। प्रत्येक ग्रह के साथ कुछ उपग्रह हैं। यह सभी ग्रह और उपग्रहों समन्वित सूर्य का नाम सौर जगत् है। फिर रात के समय आकाश में जो अगणित नक्षत्र देखते हो, इनमें से एक-एक नक्षत्र भी एक-एक बहुत बड़ा सौर जगत् है। यह अगणित सौर जगत् किस अनादिकाल से, किस अलक्ष्य केन्द्र लक्ष्य पर निरन्तर तेजी से दौड़ते हैं। वह जो महाशून्य है, जहां से इस असंख्य सौर जगत् की निरन्तर द्रुतगति सिद्ध होकर भी अभी कितने और शेष रहे हैं, जिनकी संख्या नहीं, वह जो महाशून्य है, जिसने इतने विराट ब्रह्माण्ड को छाती पर धारण कर रक्खा है, यही हमारी मा है। हमारी मा के वक्ष पर ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अनादिकाल से निरन्तर बड़े वेग से धावित रहे हैं। देखो साधक! हमारी मा को देखो।

फिर इस तरह अचिन्तनीय, अतुलनीय प्रभाव समन्वित होकर भी, किसी एक क्षुद्र पृथिवी के किसी अति दूर प्रान्तस्थित एक क्षुद्रतम परमाणु किस भाव से स्थित होने से, अति शीघ्र मा के अङ्क में सदा के लिए मिलित हो सकें, उसकी सुव्यवस्था कर रही हैं। कहीं किस क्षुद्रतम कीटाणु के हृदय में, कुछ मातृ-सम्वेदन खिल

उठने से, कहां किस कीटाणु के कुछ निःश्वास गिरने से ये वस्तुएं जिन्हें स्थिर दृष्टि से देख रही हैं, और बड़ी तत्परता के साथ स्वयं उसका यथोचित विधान कर रही हैं—वे ही हमारी मा।

फिर जब उनकी इच्छा होगी, ठीक उसी क्षण, इतना बड़ा अचिन्तनीय व्यापार, इन्द्रजाल की भांति कहीं—किस अव्यक्त क्षेत्र में अदृश्य हो जायगा। इतने बड़े ब्रह्माण्ड की सृष्टि-स्थिति-प्रलय जिनकी चक्षु के पल भर में सिद्ध होता है, वही हमारी मा है! इसके सिवाय मा का और भी एक अचिन्तनीय प्रभाव देखा जाता है—आज जो दुराचार मूढ़ है, कुछ दिन बाद ही वह पुण्यवान् ज्ञानी हो गया। जो ऐसा कर सकती हैं उनके लिये अनन्त ब्रह्माण्ड का सृष्टि-स्थिति-प्रलय करना क्या अति तुच्छ कार्य नहीं है?

अस्तु, "सा चण्डिका"—वह चण्डिका मा तुम हो। जिनके प्रभाव से ब्रह्मत्व-विष्णुत्व शिवत्व तक पल भर में प्रलय के अतल गहर में छिप जाते हैं, वह चण्डिका मा तुम हो। एकबार "अखिल जगत् परिपालनाय अशुभभयस्यनाशाय च मतिं करोतु।" इस अखिल जगत् का परिपालन और अशुभ भय विनाश के उपयोगिनी बुद्धि की अनुप्रेरणा करो। अखिल जगत परिपालन करने के लिये अशुभ भय का विनाश करने होता है। अशुभ शब्द का अर्थ मृत्यु; उससे उत्पन्न जो भय उसीको अशुभ भय कहते हैं। ओ मा! देखो—यह जगत् सर्वदा मृत्युभय से भीत है। देखो मा! प्रत्येक प्राणी के हृदय में मृत्युभय किस तरह आधिपत्य करता है। मृत्युभय रूप महा पिशाच, जीव के हृदय के रक्त प्रतिपल किस तरह शोषण कर रही हैं। जगत्मय जितने कोलाहल सुनते हो, वे उस महा पिचास की तीव्र चिल्लाहत जिससे सुनाई न पड़े, उसी के लिये हैं। अर्जन रक्षण, आहार, निद्रा भोग विलास जो कुछ हैं वे सभी मृत्युभय को दबाकर, क्षणिक सूखी हँसी के आयोजन मात्र हैं। मा! जगत्

में जो मृत्यु की कराल छाया पड़ रही है, इसे दूर करने योग्य बुद्धि को अनुप्रेरणा करो। हमारी अभया मा। जगत् का मृत्युभय दूर करो। अमृतमयी मा हमारी जगत् का मृत्युभव दूर करो। मा तुम ही तो अभय अमृत सत्य परमात्मा हो। मृत्यु और अमृत, दोनों ही तो तुम्हारे हाथ के खिलौने हैं। इसी से तुम सत्य और अभय हो। मा। जगत् में एक बार इस अभय सत्य मूर्ति से खड़ी हो। जगत् परिपालन करो। अमृत धारा से मृत्युभय दूर हो जाय। जीव जगत् तुम्हारी सत्य मूर्ति देख कर अभय हो जावे। ज्ञानामृत पान कर अमर हों। अजी। मृत्युभय नाम से भी कोई वस्तु है यह बात जगत्के सारे लोग भूल जायें। तुम सब के प्राण-प्राण में कह दो— "मृत्यु बोलकर कुछ नहीं है"। जीव। तुम अमृत की सन्तान हो। अमृतमय मा के वक्ष पर तुम्हारा अवस्थान है। तुम्हारा यह मृत्यु बोध अज्ञान कल्पित, मिथ्या है। मैं तुम्हारी अभया मा हूँ, तुम भी नित्य निर्भय स्वाधीन सन्तान हो! मा। प्रति जीवों के हृदय में—रोम-रोम में यह वाणी ध्वनित कर दो। सभी समझ लें— हम अभय हैं, हम अमृत हैं। मा। अब इस जगत के शोक दुःख का हाहाकार कातर चीतकार नही सुना जाता।

हमारी बुद्धि प्रतिनियत बहुत्व द्वारा स्पन्दित है, इसी से हम सदा मृत्यु भय से शङ्कित, शोक दुःख से पीड़ित हैं। हमारी बुद्धि में नानात्व दर्शन होने से ही हम केवल मृत्यु से मृत्यु के ग्रास में आत्माहुति देते हैं। बुद्धि में जो एकमात्र अमृतस्वरूपिणी तुम ही प्रतिबिम्बित हो रही हो यह न समझकर हम तुम्हारी ओर न देख कर बहुत्व के पीछे दौड़ते हैं, इसी से बार-बार मृत्यु यातना भोगते हैं। किन्तु अब ऐसा करो जिससे हमारी भक्ति तुम में ही सदा मुग्ध रहे।

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्व लक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।

श्रद्धा सतां कुलजन प्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताःस्म परिपालय देवि विश्वम् ॥४॥

अनुवाद। जो स्वयं सुकृतिशाली जनोंके भवनमें श्री, पापात्माओं के भवन में अलक्ष्मी, विवेकियों के हृदय में बुद्धि, सज्जनों के हृदय में श्रद्धा, और सत्कुल सम्भुत जनों के हृदय में लज्जा रूपसे विराजमान है। उस तुमको हम प्रणाम करते हैं। हे देवि। तुम इस विश्व का परिपालन करो।

व्याख्या। जो सुकृतीशाली हैं उनके भवन में तुम श्री अर्थात् ऐश्वर्य रूप से विराजती हो। केवल धन, रत्नादि को ही ऐश्वर्य नहीं कहते, इच्छा का अनभिघात ही यथार्थ ऐश्वर्य है। यह बुद्धि सत्त्व की निर्मलता का बाहरी लक्षण है। इस देश की तान्त्रिक पूजा में ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, वैराग्य, अवैराग्य, धर्म्म, अधर्म्म, ज्ञान और अज्ञान इन आठ पीठ देवताओं की पूजा का विधान देखा जाता है। ये आठ बुद्धि के धर्म हैं। बुद्धि ही यथार्थ मा का पीठ है। बुद्धि तत्त्व में ही मा का अधिष्ठान है। पूजा, अर्चना, आराधना, उपासना जो कुछ है वह सब इस बुद्धि तक है। इसी से पूर्व मन्त्र में कहा है—"मतिं करोतु"। बुद्धि निर्मल होने से ही जीव सुकृतिशाली होता है, सुकृतिशाली होने से श्री वा ऐश्वर्य्य लाभ होता है—अर्थात् इच्छा का अनभिघात होता है! उसके फल से वैराग्य, धर्म्म और ज्ञान लाभ होता है, जीव मोक्ष पदवी लाभ करता है। मा। इस तरह तुम्हारी श्री मूर्ति का प्रकाश सुकृतीशाली के भवन में ही दीख पड़ता है।

मा। और जो पापात्मा—पापबुद्धि हैं, उनके भवन में तुम ही अलक्ष्मी रूप से विराजती हो। अलक्ष्मी—अनैश्वर्य्य, अर्थात् इच्छा का अविघात (पूर्ण न होना)। जब तक जीव की वासना अपूर्ण रहे तब तक समझ ले कि उसकी बुद्धि में पाप है। पाप शब्द का

अर्थ है, सङ्कोच। बुद्धि जब तक केवल रूप रसादि विषयोंके प्रकाश करने ही में ही प्रसन्न रहे, तब तक वह रजोगुण, तमोगुण द्वारा मलिन होने से संकुचित है, इसी से पाप है। बुद्धि मलीन रहने से ही अलक्ष्मी वा अनैश्वर्य्य का राज्य है। अनैश्वर्य्य से ही अधर्म्म, अवैराग्य और अज्ञान आता है।

पाप पुण्य ये बुद्धि तक ही हैं। इस के ऊपर फिर पाप पुण्य नहीं। धर्म्माधर्म्म ज्ञानाज्ञान, वैराग्य भोग, सिद्धि असिद्धि, सब ही इस बुद्धि तक हैं। जगत में जो पाप पुण्य नाम से परिचित है वह केवल आपेक्षिक है। एक के लिये जो पाप है, दूसरे के लिये शायद वही पुण्य हो। एक अवस्था में जो पाप है, दूसरी अवस्था में शायद वही पुण्य हो। अतएव जगत के पाप पुण्य के विचार में स्वास्थ्य और समाज स्थिति की ओर ही प्रधान भावसे परिलक्षित होता है। अध्यात्मिक मार्ग के कांटे दूर कर देना ही पाप पुण्य—विचार के प्रधान उद्देश्य हैं। अस्तु, ऐसा विचार करते करते एक दिन जीव बुद्धि सत्व पर पहुंचता है। तब पाप पुण्य सम्बन्ध में जो ज्ञान लाभ होता है, वह आपेक्षिक नहीं है—सब देशों में, सब काल में, सब अवस्थाओं में प्रयोग करने योग्य है।

बुद्धि में दो प्रकार का प्रकाश विद्यमान है एक इन्द्रियों द्वारा लाये हुए विषयों का प्रकाश, दूसरा परमात्मा का प्रकाश। इनमें पहला पाप दूसरा पुण्य है। वैषयिक प्रकाश से बुद्धि में संकोच होता है किन्तु परमात्मा के प्रकाश से उसका प्रसार होता है। इसी से बोला था पाप संकोच है, पुण्य प्रसार है, फूल रूप में फल ग्रहण करने से बुद्धि का संकोच होता है; किन्तु उसको मा बोलकर प्राण बोल कर ग्रहण करने से, बुद्धि का प्रसार होता है। व्यवहारिक पाप पुण्य भी इस बुद्धि के संकोच प्रसार के ऊपर ही अधिकांश व्यवस्थित है। बुद्धि के संकोच का नाम ही अज्ञान है, अज्ञान से अनैश्वर्य होता है—कामना अपूर्ण रहती है, कामना पूर्ण हुए बिना

वैराग्य आ नहीं सकता। इसी से देखते हैं कि बुद्धि के एक तरफ श्री दूसरीं ओर अलक्ष्मी है। एक ओर ज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य और वैराग्य दूसरी ओर अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य और अवैराग्य है।

मा ! इन दोनों ही रूप में तुम विराजमान हो, इसे जो समझ सके हैं वे ही कृतधी होता हैं। इसीसे तुम "कृतधियाँ हृदयेषुबुद्धिः" इसी से ब्राह्मण लोग तीन सन्ध्याओं में "धियोयोनः प्रचोदयात्" कहते हुए विशुद्ध बुद्धि रूप से प्रकाशित होने के लिये कातर प्राण से प्रार्थना करते हैं। मा ! बुद्धि में पहुँच सकने से ही जीव को सब लाभ होता है, सब अभाव हमेशा के लिये दूरीभूत होता हैं; इसी से तो सब जीव जगत् का बुद्धिसत्व प्रकाश करने के लिये तुम्हारे रातुल चरणों में यह प्रार्थना है—"धियोयोनः प्रचोदयात्"।

"श्रद्धासतां"—जिन्होंने सत् का सन्धान पाया है, उनके हृदय में "श्रद्धा रूप से गुरु वेदान्त वाक्य में दृढ़ विश्वास रूप से, मा ! तुम हो मा नित्य अधिष्ठित हो। जिन्होंने इन सदा परिवर्तनशील विनश्वर वहु वस्तुओं में भी एक अखण्ड अपरिणामी नित्य सत्ता का सन्धान पाया है, वे ही यथार्थ सज्जन हैं। उपर कही रीति से कृतधी होने से ही जीव सत् का सन्धान पाता है। जिस उपाय से वह होता वहीं श्रद्धा - गुरुवाक्य और शास्त्रवाक्य में पर्वत की तरह अटल विश्वास। मा ! जिनको तुम सत् करती हो उनके हृदय में तुम ही श्रद्धा रूप में अवस्थान करके असत् से पार ले जाते हो। यही तुम्हारा मातृत्व है।

"कुलजन प्रभवस्य लज्जा" सत् कुल में उत्पन्न जनों के हृदय में मा तुम लज्जा रूप से अवस्थिता हो। अकर्म से विमुख रहने का नाम ही लज्जा है। इस जगत में सज्जनों निन्दित कर्म करने में जो लज्जा बोध करती है, उस लज्जा रूप से उनके हृदय में मा तुम ही नित्य रहती हो। फिर पक्षान्तर में जिन्होंने सत् का सन्धान पाया है, जिन्होंने विषयरूप कुल में विचरते हुए भी अकुल का

सन्धान पाया है, एक मात्र अखण्ड सत्ता उपलब्धि की है; वे तुम्हें सब कर्मों से अतीत समझ सके हैं, इसी से सर्वतः निर्लिप्त तुम में किसी तरह का कर्तृत्व अर्पण करने में संकुचित होते हैं। यही उनका अकार्य्यवैमुख्य रूप लज्जा है।

"तां त्वां नताः स्म" उस तुमको हम प्रणाम करते हैं। मा! तुम हमारे हृदय में श्री अलक्ष्मी बुद्धि और लज्जा रूपसे प्रतिनियत आत्म प्रकाश करती रहो। तुम अदृश्या, अस्पृश्या, अग्राह्या होकर भी उन रूपों से सदा ही हमारे हृदय में आविर्भूत होती रहो मां। ओ मा तुम्हारे चरणों में हम प्रणत होते हैं। केवल मुख से नहीं कायमन से भी तुम्हारे चरण में सर्व्वतो भाव से अवनत होते हैं।

"परिपालय देवि विश्वम्"—तुम इस विश्व का परिपालन करती हो। मा! तुम इस विश्व का यथार्थ ही परिपालन करती हो विश्ववासी जीव मात्र ही तुम्हारी स्नेहमय गोद में अवस्थित हैं यह विश्वास, यह ध्रुवज्ञान हमारे हृदय में—प्रति जीव के हृदय में उद्दीपित करो। तुम्हारे स्नेह की सन्तानें जो त्रिताप की ज्वाला से जर्जरीभूत। दुर्भिक्ष महामारी अकाल मृत्यु की कठोर सम्पेषन से छिन्न मर्म्म हैं। अभी वे नित्यानन्दमयी की गोद में पालित हो कर भी विषाद से, भय से म्रियमान हो रहे हैं, तुम यह दूर करो। तुम गुरु रूप से हर एक जीव के हृदय में आविर्भूत होकर जीवों का अज्ञान दूर कर दो। जीव अनेक दिनों के अज्ञान-कल्पित दुःख के पेषन से परित्रान पावे। यही तो तुम्हारा यथार्थ जगत् परिपालन है, नहीं तो जगत् परिपालन करने बोलने की और सार्थकता क्या? तुम ही जगदाकारसे आकारित, फिर तुम ही जगत् की सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्री हो; अतएव तुम जगत परिपालन करती हो और करोगी यह कहना ही बाहुल्य है।

मा। हम सत्य ही निराश्रय नहीं हैं, यह हम को समझा दो। हम दुःख से, भय से, प्रबल के अत्याचार से पीड़ित होकर अपने

को बिलकुल निराश्रय समझ कर एकान्त अपषाद ग्रस्त हो जाते हैं, हमारा यह भाव दूर करो मा। सत्य ही तुमने विश्वपालन कर्त्री रूप से सदा हमको वक्ष पर धारण कर रक्खा है। यह हमारे मर्म्म मर्म्म में यथार्थ रूप से उपलब्धि करने की सामथर्य दो।

किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्
किञ्चाति वीर्य्यमसुरक्षयकारि भूरि
किञ्चाहवेषु चरितानि तवातियानि
सर्वेषु देव्यसुरदेवगणादिकेषु ॥५॥

अनुवाद। हे देवी! तुम्हारे अचिन्तनीय रूप का विषय क्या वर्णन करें? अगणित असुर क्षयकारी तुम्हारा प्रचुरवीर्य, रण क्षेत्रमें प्रकटित तुम्हारा अलौकिक चरित्र इन्होंने असुरों और देवताओं को अतिक्रम किया है।

व्याख्या। मा। तुम्हारा रूप अवर्णनीय और अचिन्तनीय यथार्थ ही तुम्हारे रूप को हम वाक्य द्वारा वर्णन अथवा मन द्वारा धारणा नहीं कर सकते। दृश्यमान पदार्थ मात्र का ही एक रूप है, यह हम समझ सकते हैं किन्तु वह रूप वस्तु क्या है उसे भाषा में प्रकट नहीं कर सकते, मन ही मन चिन्ता भी नहीं कर सकते। हम जिसको रूप कहते वा समझते हैं, वह तो वास्तविक रूप नहीं आकृति मात्र है। गोलाकार, चौकोर, तिकोना, लाल, नीला, श्वेत कोमल, कठिन, तरल, ऊँचा, नीचा इत्यादि अनेक प्रकार के शब्दों द्वारा हम रूप वस्तु को समझने और कहने का प्रयास करते अवश्य हैं परन्तु वास्तव में उसमें रूप का कुछ भी व्यक्त नहीं होता, आकार वा गठन का कुछ अंश मात्र व्यक्त होता है। रूप शब्द समझने के लिये हम जो सुन्दर और कुत्सित ये दो शब्द प्रयोग करते हैं इन दो शब्दों का भी आकृत को लक्ष्य कर ही प्रयोग होता है। वास्तविक रूप रूप ही है। उसमें सुन्दर कुत्सित कुछ भी नहीं। रूप एक के

सिवाय दो नहीं हैं। यह विश्व रूप सागर में ही भासता है। इस रूप का स्वरूप क्या है, वह किस तरह प्रकाश करें सो भाषा में प्रकाश नहीं किया जाता, वह चिन्ता के भी अतीत है। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि रूप नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि हम सदा रूप ही देखते हैं; किन्तु जो देखते हैं, वह रूप नहीं है—आकार है। एक अखंड रूप सागर में कुछ नाम और आकार फूट रहे हैं। आकार जो रूप के सिवाय और कुछ नहीं है, यह मानो समझ कर भी नहीं समझते। ये आकार ही वेदान्त प्रतिपाद्य नाम और रूप हैं। वास्तव में जब हम रूप की ओर लक्ष्य करें, तब ही सब इन्द्रियागम्य एक महासत्य क्षेत्र पर पहुँचे। वह क्या है, वह यथार्थ ही वाक्य और चिन्ता के अतीत है।

मा। पक्षान्तर में हम यही धारणा करलें कि हम जिसको सौन्दर्य समझते हैं वहीं तुम्हारा रूप है; तो भी वह चिन्ता के अतीत हो जाता है। चन्द्र में, कमल में, कामिनी के कामनीय मुख मण्डल में, बालक बालिकाओं की अर्द्ध स्फुट बाणी के सौन्दर्य बिन्दु देख कर हम मुग्ध होते हैं; जिस सौन्दर्य-सिन्धु की एक बिन्दु इतनी मोहित करने वाली है, न जाने उस रूप की सिन्धु तुम कितनी प्राणाराम कितनी सुखकरी हो। मा। यह व्यष्टि रूप, यह विनश्वर रूप ही यदि हमको अन्ध कर रख सकता है - तुम्हारी ओर ताकने नहीं देता है। तब समष्टि रूपमयी तुम में जो मुग्ध है वे इस जगत के रूप को तुच्छ समझ कर त्याग करेंगे, उसमें फिर विचित्रता ही क्या ? मा। तुम ही तो "साक्षात् मन्मथ मन्मथः।" जो तुम्हारे इस अपरूप रूप सागरमें डुबकी लगा सके हैं, आत्महारा हो सके हैं, वे जानते हैं— कुत्सित, निन्दित कहने को कुछ नहीं है, सब ही रूपमय सब ही सुन्दर है। मा। मा। वह कैसी लोभनीय अवस्था है।

मा। किस तरह तुम्हारे उस रूपातीत रूप सागर में अवगाहन किया जा सकता है, यहाँ उसका भी आभास दिया जाता है।

रूप की पांच अवस्था हैं। पहला स्थूल रूप अर्थात् आकार। दूसरा चक्षु अर्थात् देखने की शक्ति। चक्षु से ही रूप जगत का सूक्ष्म प्रकाश है। तीसरा रूप तन्मात्र, यह रूप का सूक्ष्मतर प्रकाश है। चौथी अस्मिता, अर्थात् रूप का बोध स्वरूप। यहरूप का सूक्ष्मतम प्रकाश है। यहां पहुँचने पर यह उपलब्धि होता है कि रूप एक प्रकार बोध के सिवाय और कुछ नहीं है। इनके सिवाय रूप की एक और भी अवस्था है, यह पुरुषार्थ है। पुरुष अर्थात् विशुद्ध बोध स्वरूप परमात्मा का भोग सम्पादन करते हैं बोलकर ही इसका नाम पुरु-षार्थ है। यही रूप की पांचवीं अवस्था वा अति सूक्ष्मतम स्वरूप है।

प्रथम सत्यबोध से स्थूल रूप को अर्थात् किसी पदार्थ की आकृति को मा बोलकर पकड़ लेने पर रूप का द्वितीय स्वरूप दृक् शक्ति भासने लगती है। विश्वमय एक दृक् वा दर्शन शक्ति ही यथार्थ रूप का स्वरूप है, वह बोध होता रहता है। उसके बाद इसमें फिर सत्य बोध करके मा! मा! कहते हुए केन्द्र की ओर आगे बढ़ते रहने से ही; रूपतन्मात्र पर पहुँच जा सकते हैं। वह अति सूक्ष्म—ज्ञानमय रूप आकाशीयभाव होने पर भी अति लोभ-नीय, अतिशय प्राणाराम है। फिर और भी मा। मा। कहते हुए आगे बढ़ते जाने पर मा ऐसे स्थान पर पहुँचा देती है, जहाँ हमारा मैं ही रूपमय वोलकर बोध होता रहता है। मैंस्वरूप के सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसा उपलब्धि जब आता रहता है, तब मैं क्या हो जाता है वह भाषा में किस तरह व्यक्त हो। वह जो अरूप का रूपमय स्वरूप है! वहां से फिर मा मा कहते हुए रोने लगने से तब इस रूपमय मैं का जो यथार्थ द्रष्टा है, जिसकी करुण दृष्टि से मैं रूप खिल उठता है, चकित की नाई उस स्वरूप का आभास पाया जाता है। उसके बाद फिर स्थूल रूप में उतर आकर साधक का क्या होता है? उसकी रूप की पिपासा, सौन्दर्य की आकांक्षा

सदा को मिट जाती है। फिर "रूपं देहि" कह कर मा से कातर प्रार्थना नहीं करनी होती। "रूपं देही" मन्त्रकी यही सिद्धावस्था है।

मा। अपनी प्रियतम सन्तानों से कह दो कि केवल "रूपं देही" कहते हुए स्थूल रूप से, सत्यप्रतिष्ठा मार्ग में आगे बढने से, कितने सहज में अनायास रूप-समुद्र में अवगाहन कर, रूपातीत स्वरूप का सन्धान पाया जाता है।*

"किञ्चाति वीर्य्य"—मा। अगणित असुरवीर्य्य क्षयकारी तुम्हारा अतुलनीय वीर्य भी हमारे चिन्ता के अतित है। मा, असुर रूप से भी तुम हो, फिर असुर वीर्य्य क्षयकारी वीर्य्य रूप से भी तुम हो। क्षय शब्द के दो अर्थ हैं—विनाश और निवास। 'क्षि' धातु का निवास अर्थ में भी प्रयोग होता है। अतएव असुर क्षयकारी वीर्य्य कहने में दोनों ही समझे जाते हैं। जो वीर्य्य असुर रूप से आत्म प्रकाश करता है वह भी तुम। और जो उस असुर वीर्य्य का विनाश करता है वह भी तुम। एकाधार पर ऐसे परस्पर अत्यन्त विरोधी भाव तुममें ही सम्भव हैं। असुर और सुर, दोनों ही तुम्हारा तुल्य प्रकाश हैं। कहीं भी न्यूनाधिकता नहीं है, इसी से मन्त्र में भी देखते हैं "असुर देवगणादिकेषु।

मा। तुम्हारा ब्रह्माण्ड-सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर्त्तत्व रूप महावीर्य्य प्रकाश पाने से पूर्व ही तो हमारे निकट यह असुर वीर्य्य प्रकट होता है, हम तुम्हारा यह अतुलनीय वीर्य्य देखकर ही विस्मित और स्तम्भित होते है। जब देखते हैं कि तुम काम क्रोध, लोभ, मोह आदि असुर रूप से प्रकाशित होती हो तब निष्काम, अक्रोध निर्लोभ आदि देव वीर्य कितने निर्जित हो गये। फिर जब देव-वीर्य प्रबल होता है, तब असुर वीर्य कितना निर्जित हो पड़ता है।

*अर्गला व्याख्या में रूप शब्द का परमात्मातक अर्थ किया गया हैं एवं रूप के जिन स्तरों को भेदकर परमात्म स्वरूप पर आते हैं उनका भी आभास दिया गया है।

इस तरह मां ! हमारे हृदयक्षेत्र में अहर्निश तुम्हारा ही विचित्र प्रभाव अनुभव होता रहता है। फिर इस तरह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध वीर्य्य प्रकाश के समय जो युद्ध उपस्थित होता है, उस युद्ध में तुम्हारा कैसा अभूतपूर्व लोकोत्तर वीर्य्य प्रकाशित होता है। मां ! जब असुर वीर्य्य की उत्पीड़न आरम्भ होती है, तब चित्त क्षेत्र में कैसा लोक निन्दित लीला का अभिनय होता रहता है। फिर घड़ी भर बाद अगले मुहूर्त में ही असुर वीर्य हत पराक्रम, और सुर वीर्य प्रबल होकर चित्तक्षेत्र में स्वर्गीय शान्ति की निर्मल धारा प्रवाहित कर देता है।

इसके सिवाय मा ! तुम्हारा और एकवीर्य्य प्रभाव परिलक्षित होता है, जो सुरासुर दोनों के ही अतीत है। अजी ! जहां सब वीर्य पराभूत है, वह उस अभय अमृतमय वीर्य है। जिनके भय से सूर्य का उदय, जिनके भय से वायु का प्रवाह, जिनके भय से पर्जन्य का वर्षण, मृत्यु को भी भीति उपस्थित होती है, यह वही वीर्य है। उस सर्व वीर्यातीत वीर्यमयी हमारी मा ! तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणिपात, मा। कोटि प्रणिपात।

हेतुः समस्त जगतां त्रिगुणापि दोषै,
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा ।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत—
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥ ६ ॥

अनुवाद। तुम समस्त जगत के हेतु। त्रिगुण स्वरूपा होकर भी दोष के कारण तुम अज्ञेया हो, अतएव हरिहरादि के भी ध्यान में अगम्या हो। तुम सर्वाश्रया हो। यह अखिल जगत तुम्हारा ही अंश मात्र है। तुम ही अव्याकृता आद्या परमा— प्रकृति हो।

व्याख्या। हे मा। केवल तुम ही सब जगत् का हेतु हो केवल जिस जगत में हम रहते हैं, यही एक जगत् नहीं; समस्त

जगत्-अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-इस अनादि सृष्टि चक्र के जहां जितने कुछ परिवर्तनशील पदार्थ हैं, उन सब का हेतु एकमात्र तुम ही हो। हेतु दो प्रकार का है—निमित्त और उपादान। ये दोनों हेतु ही तुम हो। हम स्वप्न के दृष्टान्त से यह कुछ कुछ समझ सकते हैं। स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों का निमित्त अर्थात् कर्त्ता और उपादान दोनों जैसे मन के सिवाय और कुछ नहीं है उसी तरह इस जाग्रत अवस्था में परिदृश्यमान और अनुभूत होने वाले जगत प्रपन्च का निमित्त और उपादान, दोनों ही तुम हो। आत्मा मां, हमारी तुम ही अपने को वहुधाविभक्त कर द्रष्टा और दृश्य रूप से प्रकाशित होती हो।

मा। कदाचित कोई तुम्हारी ज्ञानवृद्ध सन्तान कहे कि आत्मा जगत कारण नहीं है, आत्मा निर्गुण निष्क्रिय है उसमें किसी तरह की कारणता रह नहीं सकती। जगत का उपादान कारण जड़ प्रकृति है। चैतन्य स्वरूप आत्मा की समीपतावश इस जड प्रकृति का परिणाम होता है, वह यही जगत है। फिर निमित्त कारणता भी आत्मा में नहीं है; क्योंकि प्रकृति का जगत रूप से जो परिणाम होता है, यह दर्शन करना भी आत्मा का धर्म नहीं है। उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं। स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा की समीपतावश प्रकृति में चैतन्य धर्म अवभासित होता है, एवं उसका परिणाम यह जगत् है। जो ऐसा कहते हैं, उनके साथ हमारा कुछ विरोध नहीं। हम उनका सिद्धान्त भी सत्य ज्ञान से स्वीकार करलें। किन्तु मा, तुमने तो हमारे निकट केवल ऐसे भाव से आत्म प्रकाश किया नहीं। गुरु रूप से आविर्भूत होकर हमको विशेष भाव से दिखाई दी है—वह जो जड़ा प्रकृति है, वह भी तुम्हीं हो—आत्मा मा हमारी। इसी से मन्त्र में भी कहा है "त्रिगुणा" त्रिगुणात्मिका प्रकृति रूप से जगत का उपादान मां तुम ही हो और कोई नहीं।

परमात्मा मा हमारी। तुम चैतन्य स्वरूप हो और तुम्हारी प्रकृति जड़ अचेतन हो यह कैसे मानलें। चेतन आत्मा की प्रकृति अचेतन हो नहीं सकती। बल्कि अचेतनाकार में चेतन का अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। यदि देखते कि त्रिगुणा प्रकृति आत्मा के सिवाय और कहीं भी रह सकती है, तब ही जड़ सत्ता मान लेते। जब सूर्य किरणों की नाईं प्रकृति और आत्मा का अविनाभाव है, तब फिर उसे जड़ कैसे कहें। अजी तबतक तुम्हारी आलोचना, जब तक मैं है तब तक ही तुम त्रिगुणा प्रकृति हो। मुंह से कहते हैं—"हमारी प्रकृति"। किन्तु वास्तव में "मै ही प्रकृति है"। जिस तरह "राहु का शिर" कहने से राहु से शिर को जैसे अलग समझ लें, यह भी वैसे ही बात है; पुरुष प्रकृति, ब्रह्म माया, आत्मा शक्ति इत्यादि युग्म वाचक शब्द प्रयोग करने पर भी वास्तव में वे बिलकुल अभिन्न हैं। आत्मा जब प्रकृति रूप से, माया रूप से वा शक्ति रूप से प्रकाशित होते है तब ही वह प्रकृति माया वा शक्ति नाम से अभिहित होता है।

आशङ्का हो सकती है—विशुद्ध बोध वा 'ज्ञ' स्वरूप आत्मा किस तरह जड़ प्रकृति रूप में अर्थात त्रिगुणाकार में आकारित हो सकता है ? उसका उत्तर यह है कि वह जो 'ज्ञ' वस्तु है, उसी में ही ज्ञातृ, ज्ञेय और ज्ञान रूप विशिष्ट भावत्रय प्रकाशित होते हैं ! निर्गुण अवस्था में वह अव्यक्त रहता है, इसी से प्रकृति का दूसरा नाम अव्यक्त है। 'ज्ञ' से ही ज्ञातृ ज्ञेयादि धर्म्म प्रकाशित होते हैं। वही त्रिगुण ! ज्ञान—सत्वगुण, ज्ञाता—रजोगुण, और ज्ञेय—तमोगुण, ये तीन वस्तुएं कहीं दूसरी जगह से नहीं आतीं। उस 'ज्ञ' वस्तु से ही प्रकाश पाती हैं। इसी से देखते हैं कि जीव ईश्वर और ब्रह्म, तीनों अवस्था में ही 'ज्ञ' वा आत्म वस्तु अक्षत रहती है। और उस आत्मा में ही ज्ञातृ ज्ञेयादि धर्म्म प्रकाशित होकर नाम रूपात्मक जगत प्रतिभात होता है। इसी से तो मा जिधर देखते हैं

उधर ही तुम्हारा विचित्र विकाश देख कर मुग्ध होते हैं। इसी से जहाँ मा कह कर पुकारा, वहीं तुम्हारा उत्तर पाकर, तुम्हारे स्नेहादर का गर्व अनुभव करते हैं। इसी से मा देवता तुम्हारा स्तव करते समय "हेतुः समस्त जगतां त्रिगुणा" कह कर प्रकृति रूपिणी तुम्हारे रक्त चरणों में अवनत हो पड़े हैं।

मा ! तुम त्रिगुणामूर्ति से जगत् रूप में प्रत्यक्ष हो, यह यदि इतना सत्य है, तो देवताओं की तरह हम भी जगत् देखकर तुमको क्यों न देखें ? घट, सकोरा देखते ही मिट्टी का दर्शन जैसे होता है, कुण्डल दर्शन के साथ ही साथ जैसे सुवर्ण दर्शन होता है, उसी तरह जगत दर्शन के साथ ही साथ मा तुम्हारा दर्शन क्यों नहीं होता ? चिन्मयी ! तुम ही यदि जगत् हो, तुम ही यदि नाम रूप हो तो तुमको क्यों नहीं देख पाते ?

"दोषैर्नज्ञाय से"—दोषों के कारण तुम परिज्ञात नहीं होते। दोष क्या ? पहला दोष देखना चाहते नहीं। दूसरा दोष संशय और अविश्वास। हम केवल नाम रूप ही देखना चाहते हैं। हम सदा नियत परिवर्तनशील जड़ जगत् रूपमें ही इसको देखनेके अभिलाषी हैं। इसी से तुम को नहीं देख पाते। फिर यदि कभी बिजली की चमक की तरह क्षण स्थायी मा के दर्शन की इच्छा की क्षीण रेखा जागे भी, त्योंही सन्देह और अविश्वास आकर उपनेत्र रूप से आँखों के सामने आ जाते हैं। वे कह देते हैं—सो क्या होता है यह जड़ माटी क्या मा हो सकता है ? जी ? यह जड़ जल क्या चिन्मयी "मा हो सकता है ?" इस तरह सर्वत्र हमको वंचित करते हैं। वे ही तो तुम्हारी इस प्रकट विश्व मूर्ति में जड़त्व का आवरण डाल देते हैं, इसी से क्षीण आकांक्षा की रेखा भी चकित में मिल जाती है।

हाय मा! कब तक अब इस तरह त्रिताप दग्ध जीव कुल को वञ्चित करोगी ? मा ! तुम ही तो दोष की सृष्टि करती हो। तुमने ही तो अपने अवयव दोष से ढक रक्खे हैं। इसी से तुम पकड़ाई

नहीं देतीं, हमारे चक्षुओं तुम्हारे दोषमयी मूर्ति देखने का बहुत दिन से अभ्यस्त है, इसी से गुणमयी तुमको देख नहीं पाते। यदि दोषों को भी मा बोलकर समझ सकते, यदि माया को भी मा बोलकर स्वीकार करते, यदि प्रकृति को भी पुरुष बोलकर ग्रहण करते, यदि मन को भी प्राण बोलकर आदर से आलिङ्गन करते, यदि विषय को भी भोक्ता रूप से भोग करते, यदि दृश्य मात्र को भी द्रष्टा के स्वरूप से दर्शन करते, यदि जड़ को भी चेतन रूप में उपलब्धि करते, तो अवश्य ही मा तुम्हारा दोषावरण दूर हो जाता। अजी, तुम्हारे सिवाय और जो कुछ है वह सब ही तो दोष है। चेतन छोड़कर आत्मा छोड़कर जो कुछ है सबही तो दोष है सर्वरूप में एक तुम ही हो, यह समझ सकने पर फिर दोष कहां ? जब तक दोष बोलकर तुमसे पृथक कोई वस्तु रहेंगे, तब तक ही तुम "न ज्ञायसे"। जिन्होंने इन दोषों को मिथ्या भ्रान्ति अध्यास तुच्छ वा कल्पनामात्र समझ कर केवल तुम्हारी ओर दृष्टि पसारने की चेष्टा की है, उनमें भी कुछ न कुछ दोष रह गया है। मिथ्या कहो, चाहे भ्रान्ति कहो, दोष का दर्शन तो होता है! इसी से कहते हैं कि जब तक दोष को तुमसे भिन्न अर्थात् तुम्हारा आवरण रूप से दीख पड़े, तब तक ही तुम "न ज्ञायसे"। तब तक ही तुम आवृता हो।

मा, गीता में तुम ही ने तो कहा है कि जिस तरह धुएं से आग ढकी रहती है, जैसे धूल गर्द से दर्पण आवृत रहता है, जैसे झिल्लि से अर्थात गर्भ वेष्टन चर्म द्वारा भ्रूण आवृत रहता है, ठिक उसी तरह अज्ञान से ज्ञान आवृत रहता है। अज्ञान ही दोष है। अज्ञान रहने तक ज्ञान प्रकाश नहीं पाता, यह सत्य है, किन्तु धूम्र जैसे अग्नि का सहजात दोष है, मल जैसे दर्पण का अवश्यम्भावी आगन्तुक दोष है, उल्व जैसे भ्रूण का संरक्षक सहजात चर्मावरण दोष है, ठीक उसी तरह अज्ञान ज्ञान का सहजात अवश्यम्भावी दोष है। अज्ञान भी ज्ञानमात्र है, यह समझ लेने से ही दोष दूर होता

है; ज्ञान का उदय होता है। तब फिर तुम 'न ज्ञायसे' नहीं; 'ज्ञायसे' हो। अथवा तब तुम ज्ञान रूप से ही आत्म प्रकाश करती हो।

"हरिहरादिभिरप्यपारा"-मा ! हम किस तरह तुमको जानें ? तुम केवल हमारी ही अज्ञेया नहीं हो, शिव, विष्णु और ब्रह्मा के भी ध्यान के अगम्या हो। जब तक ध्याता, ध्यान और ध्येय रहता है तब तक तो तुम्हारा यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता नहीं, जब तक हरिहरादि विशिष्ट बोध रहे तब तक किस तरह तुम्हारा परमात्म-स्वरूप प्रकाश पावे। अजी ! मैं रहने तक तुम न आओगी, मैं के चले जाने पर तब तुम आओगी। अपार चित समुद्र में जब तक विशिष्ट मैं को एक दम डुबा न दिया जाय, तब तक किसी तरह तुम आत्मारूप से प्रकट नहीं होती। इसी से तुम "हरिहरादि-भिरप्यपारा" हो।

सर्वाश्रया मा ! इतनी दुर्ज्ञेया होने पर भी हमारे हताश होने का कारण नहीं; क्योंकि तुम सर्वाश्रया हो। तुम सबका आश्रय हो। हम तुम्हारे आश्रित है। साधारण बोलचाल में कहते हैं-तुमने हमको गोद में ले रक्खा है। तुमको जानने समझने न सकने पर भी, हम सर्वतोभाव से तुम्हारे ही आश्रित, तुम्हारी ही अंक-स्थित ही हैं, इतना समझ सकने से हमें पर्याप्त लाभ होता है। हम निराश्रय अनाथ नहीं, हम तुममें ही हैं। जन्म, मृत्यु, शोक, दुःख, अभाव, उत्पीड़न, कुछ भी क्यों न आवे, अवस्था का विपर्य्यय कितनी ही तरह का उपस्थित क्यों न हो, सर्वाश्रया मा ! तुमने सब अवस्थाओं में सर्वतोभाव से हमें धारण कर रक्खा है। हमें क्षण भर के लिये भी तुम को छोड़ कर नहीं है। इससे अधिक आश्वासन की बाणी और क्या हो सकती है ? मा ! धन्य हम तुम्हारी सन्तान ! तुम्हारी वक्षलग्न नग्न शिशु। मा ! मा ! मा !

"अखिलमिदं जगदंशभूतम्"—तुम सर्वाश्रया हो वह कैसे समझें ? यह अखिल जगत् तुम्हारे ही अंश से उत्पन्न है। अपने

अङ्ग, प्रत्यङ्ग को आप जैसे सर्वतो भाव से जान सकते हैं अवयवी जैसे अवयव का आश्रय है, वृक्ष जैसे फल का आश्रय, अग्नि जैसे धुम के आश्रय ठीक उसी तरह यह समग्र जगत् तुम्हारा ही अंश भूत होने से तुम सर्वाश्रया हो। तुम्हारा ही एक अंश जगत आकार से प्रकट है। श्रुति भी कहती है-पादोऽस्य विश्वाभूतानि" । मा! तुम्हारे एक पाद यह जगत् हैं, और तीन पाद स्वप्रकाश हैं— वहाँ जगत नहीं है कल्याणी श्रुति ने हम जैसे अल्प बुद्धि जीवों को सहज में समझने के लिये ही अपरिच्छिन्न अनंश पूर्ण स्वरूप तुम्हारे अंश कल्पना किये हैं। तुम्हारे सर्वाश्रया होने में यदि कोई सन्देह करे कि इस ब्रह्माण्ड को आश्रय देने में जितना परिमाण आवश्यक है तुम्हारी सीमा केवल उतनी ही हैं; इस आशंका को दूर करने के लिये कहा है—वह विशाल ब्रह्माण्ड तुम्हारे अति अल्प अंश में ही प्रकाशित हो रहा है। और अधिकांश स्वयं प्रकाश-नित्यपूर्ण अपरिच्छिन्न स्वरूप है। तुमने स्वयं कहा है-"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्त-मेकांशेन स्थितो जगत्"(गी० १०।४२) यह जगत जब तुम्हारा अंश है, अंशी तुम इसका एकान्त आश्रय हो, इसमें कहना ही क्या। इसी से तुम सर्वाश्रया हो।

"अव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या"—इस परिदृश्यमान जगत् की चचलता और नियत परिणाम देख कर हमारे मन में आशंका हो सकती है कि इस जगत् अंश में तुम भी चञ्चला और परिणामिनी हो; इसी से देवताओं ने स्तुति करते समय तुमको अव्याकृता परमा आद्या प्रकृति कहा है। मा! तुमने ऐसेअनेक नामों से, अनेक रूपों से व्याकृत (विशेष रूप से आकार प्राप्त) होकर भी अपना अव्याकृतत्व अखण्ड रक्खा है। बर्फ का टुकड़ा बन जाने पर भी जल के परमाणुओं में कुछ विकार नहीं होता। वस्त्र रूप में व्याकृत होने पर भी रूईपन अव्याकृत ही रहता है। वन्हि रेखा रूप से प्रतीत होने पर भी लकड़ी के सिरे पर जली

हुई अग्नि विन्दु में कुछ विकार नहीं होता। बोध वस्तु कितनी ही व्याकृत क्यों न हो, किसी अवस्था में उसके बोधत्व के बिन्दु-मात्र भी विकार नहीं होता। इसी से तुम जगत् रूप से व्याकृत होकर भी स्वरूपतः अव्याकृत ही रहती हो। अतएव तुम निर्विकार नित्य स्थिर हो। किसी तरह की चञ्चलता अथवा परिणाम तुममें नहीं है। "जायते अस्ति वर्द्धते" आदि षड्भाव विकार तुम्हारे ऊपर से चले जाते हैं; किन्तु तुम सदा अव्याकृता हो। केवल चित् शक्ति रूपिणी होने से ही; ये अत्यन्त विरूद्ध घटनायें तुम में हो सकती हैं। इसी से तुम परमा आद्या प्रकृति हो। सांख्य जिसको पुरूष कहते है, वेदान्त जिनको ब्रह्म कहता है, उपनिषद् जिनको आत्मा कहते हैं, भक्तिशास्त्र, जिनको भगवान कहते हैं, वह यही आद्यापरमा प्रकृति है। और त्रिगुणात्मिका जो प्रकृति जगत् रूप से परिणाम प्राप्त होते है, वह अनाद्या है! मा। विशुद्ध बोध स्वरूपा परमा प्रकृति तुम जब ज्ञाताज्ञेयज्ञान रूपा सत्वरजस्तमोगुणात्मिका अनाद्या प्रकृति रूप से प्रकाशित हो, तब भी स्वरूपतः तुम अव्याकृत ही रह जाती हो। अतएव तुम्हारा प्रभाव यथार्थ ही अचिन्तनीय है। यथार्थ ही तुम अघटन-घटनपटीयसी चिन्मयी जननी हो।

यस्याः समस्तसुरता समुदीरणेन
तृप्तिं प्रयाति सकलेषु मखेषु देवि।
स्वाहासि वै पितृगणस्य च तृप्तिहेतु-
रुच्चार्य्यसे त्वमत एव जनैः स्वधा च ॥ ७ ॥

अनुवाद! हे देवि सर्व प्रकार यज्ञ में देवतागण जिनके उच्चारण से तृप्त होते हैं, वह स्वाहा मन्त्र तुम हो। फिर पित्रों की तृप्ति के लिए तुम ही स्वधा मन्त्र रूप से लोगों के द्वारा उच्चारित होती हो।

व्याख्या। मा! जगत् में जो यथाशास्त्र दैव और पैत्र कार्य का अनुश्ठान करते हैं, वे इस दुःख सुलभ संसार-अरण्य में निवास करके भी सुख शान्ति से समय व्यतीत करते हुए परम श्रेयो लाभ कर सकते हैं। इसी से गीता में तुमने कहा है— "हे जीव! तुम यज्ञादि द्वारा देवताओं की पुष्टि का विधान करोगे और देवता भी अन्नादि रूप से तुम्हें पुष्ट करेंगे। इस तरह आपस में एक दूसरे की मङ्गल चिन्ता में नियुक्त रहकर, तुम परम श्रेय लाभ करने योग्य होंगे। जो देवताओं को यज्ञ भाग अर्पण न करके स्वयं भोग करते हैं, वे चोर या पापान्न भोजी हैं इत्यादि" सत्य ही मा! हमारी इन्द्रियों द्वारा लाये हुए रूप रसादि विषय सामग्री यदि इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य रूपी देवताओं के उद्देश्य से अर्पित न हो, तो हवि के अभाव से अर्थात ठीक ठीक अनुशीलन के अभाव से देवता शीर्ण हो जायें, उन उन विशिष्ट चैतन्य की विकाश शक्ति क्षीणता प्राप्त होते है। और उसी के फल से रोग, शोक, अकाल, मृत्यु आदि होती हैं। विशेष बात यह है कि अज्ञान का आवरण दूर नहीं होता। दैव और पैत्र्य कार्य में इतना गूढ़ रहस्य छिपा है, उसे आधुनिक वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। यह जो मा तुम्हारे महत्व की इतनी आलोचना करके भी तुम्हारी धारणा नहीं कर सकते: इसका हेतु भी उन देवताओं की शक्ति हीनता है। हम सदा इन्द्रिय द्वार से विषय आहरण करते हैं, अन्त:करण की सहायता से विषय भोग करते हैं, जिस देव शक्ति की सहायता से ये भोग सिद्ध होते हैं, उनके उद्देश्य से कभी तो विषयरूप हविः अर्पण नहीं करते। इसी से हमारी इन्द्रिय शक्ति शिथिल, मन बुद्धि चित्तादि की सामर्थ्य अति अल्प है। कुछ सूक्ष्म विषय चिन्ता अथवा धारणा करने की सामर्थ्य नहीं। कुछ अतीन्द्रिय पदार्थ की धारणा करने को, हमारा चित्त अथवा बुद्धि असमर्थता प्रकट करते हैं। इसका एकमात्र हेतु हमने उन्हें ठीक ठीक तरह से पुष्ट नहीं किया है।

स्वाहा अर्थात देव कार्य्य द्वारा और स्वधा अर्थात पितृकार्य श्राद्ध तर्पणादि द्वारा हमारे अन्तःकरण और वाह्यकरण के अधिष्ठात्री देवतागण परिपुष्ट और प्रसन्न होते हैं और उन्हीं के फल से दुर्विज्ञेया मा तुम भी विज्ञात—प्रकाशित होती हो। इसके सिवाय और भी एक तत्त्व है—प्रत्येक देवता की पृथक् पृथक् भाव से तृप्ति करने की चेष्टा न कर, यदि केवल प्राण रूपिणी मा तुम्हारे उद्देश्य से सब स्वाहा स्वधा अर्पण किया जाय, इन्द्रियों के द्वारा लाये हुए विषय रूप हविः सम्भार यदि महाप्राण रूपिणी मातृ-अग्नि में आहुति दी जाय, तो देवताओं की अपार परितृप्ति होती है और उसके फल से इन्द्रियाधिष्ठित चेतन वर्ग परिपुष्ट होता है! वृक्ष के मूल में जल सींचने से, वह रस प्रवाह द्वारा शाखा, डाली, पत्ते, फूल, फल सब ही परिपुष्ट होते हैं। उत्तमाङ्ग (शिर) पर शीतल स्निग्ध जल धारा वर्षाने से सब अवयव स्निग्ध शीतल होते हैं। मा! तुम्हारी तृप्ति होने से सबकी तृप्ति हो जाती है। "तस्मिन् तुष्टे जगत्तुष्ट प्रीणिते प्रीणितं जगत्" तुम्हारी तृप्ति होने से त्रिजगत्-देवलोक पितृलोक सब ही तृप्त हो जाते हैं।

मा। तुम नित्य तृप्ता हो, फिर तुम्हारा तृप्ति विधान क्या? हम सदा कुछ अतृप्तिभोग करते हैं, इसी से तुममें भी तृप्ति का अभाव कल्पना कर नित्य तृप्ता तुम्हारा तृप्ति विधान करने को अग्रसर होते हैं। और तुम भी तो मो अतृप्ता की तरह हमारे द्वार पर आकर सदा कहती हो—"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः"। मानो तुम हमारे दिये फल फूल पत्तों की भिखारिन हो! उनके पाये बिना तुम तृप्त नहीं होतीं। इसी से तुमने कहा है-"अरे मुग्ध सन्तान! दे अर्पण करो जो हो सके कम से कम थोड़ा जल वह ही दे, मैं बड़ी आदर से आहार करूं। वस्तु की ओर, परिमाण की

ओर लक्ष्य मत रख, केवल भक्ति पूर्वक देने की चेष्टा कर; उसी से मेरी पूर्ण परितृप्ति होगी।" अरे बिचारने पर भी दिल काँप जाता है— एक दिन तुम त्वद्गत प्राणा द्रौपदी से एक कणा शाकान्न मांगकर परितृप्त हुए थे! मा! तेरे प्राण में इतनी दया। हमारे दिल में भरी अतृप्ति दूर करने के लिये तुमको भी अतृप्ता होना पड़ता है। अन्नपूर्णा नित्यतृप्ता हमारी मा! तुम हमारी अतृप्ति दूर करने के लिये स्वयं अतृप्त मूर्ति से प्रकटित होकर जीव के द्वार द्वार पर भिक्षा करते हो धन्य हैं वे जीव।

मनुष्य को वैध कार्थ में—दैव पैत्र कार्य में तुम ही नियुक्त कराती हो। उद्देश्य-कुछ दिन इस तरह स्वाहा स्वधा के अनुष्ठान से तुम्हारी तृप्ति का विधान करने का प्रयास कर सकने से ही मनुष्य किसी दिन शुभ मुहूर्त में तुम्हारे मुख की ओर चाह करेंगे तब ठीक ठीक समझ सकेंगे कि तुम नित्यतृप्ता, नित्यस्थिरा, निर्विकल्पा मा हो। तब धीरे धीरे कर्म सन्यास का अधिकार आवेगा। जीव नष्कर्म्म प्राप्त करेंगे। यही तो मा तुम्हारे देव और पितृ कार्य का यथार्थ स्वरूप है।

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता च—
अभ्यस्यसे सु नियतेन्द्रियतत्त्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्त समस्त दोषै—
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी ॥८॥

अनुवाद। जिनकी इन्द्रियां सुसंयत हैं, जिन्होंने एकमात्र परम तत्त्व को ही सार रूप समझा है, ऐसे मोक्षार्थी मुनि मुक्ति हेतुभूता अचिन्तनीया महाव्रत स्वरूपा जिनका अभ्यास अर्थात् ध्यान करते हैं; हे देवि। वह भगवती परमाविद्या रूपिणी तुम हो।

व्याख्या। मा। पूर्वोक्त रूप दैव पैत्र कार्य्य का अनुष्ठान करते करते जब आत्मतृप्ति आजाती है, अर्थात् मा की तृप्ति को पहचान लेते हैं, तब जीव की इन्द्रियां सुसंयत होती हैं—फिर विषय के लोभ में नहीं दौड़तीं। उस अवस्था में केवल आत्मा ही परमतत्व बोध होता रहता है; अतएव जीव आत्माको पाने वा मुक्ति की आशा में जाग्रत होता है। इसी का नाम मुमुक्षु अवस्था है। तब केवल आत्मा की ओर ही लक्ष्य स्थिर रहने से वाग् यन्त्र रुक कर—मौनावलम्बन करता—मुनि होता है। ऐसा मुनि होने से ही मल, विक्षेप और आवरणादि दोष क्षीण होते रहते हैं। उस समय वे मननशील मुनिजन जिनका अभ्यास अर्थात् निदिध्यासन करते हैं, वह तुम हो, अजी वही तुम हो।

इस अभ्यास का स्वरूप क्या है? "अभिअस्यसे"। असु-निक्षेप अस् धातु का अर्थ निक्षेप है! उपनिषद् कहते हैं—"प्रणव धनु पर जीवात्म बोध रूप बाण चढ़ा कर ब्रह्मके उद्देश्यसे अप्रमत्तभावसे बार बार बाण छोड़ो।" "यही अभ्यस्यसे" कहने का यथार्थ तात्पर्य्य हैं। कोई कार्य्य बार बार अनुष्ठान करनेका नाम अभ्यास है। यहाँ भी ब्रह्म के उद्देश्य से बार बार जीवात्म शर छोड़ने को ही "अभ्यास" कहा है। इसे निदिध्यासन वा ध्यान कहने में भी कुछ हानि नहीं है।

मा। जीव जब इस तरह अभ्यास तत्पर होता है, तब ही तुम अचिन्तनीय महाव्रत स्वरूप में अपना प्रकाश करती हो कारण "अभ्यास" रूप महाव्रत यथार्थ ही अचिन्तनीय है। जीव जब बुद्धि के परपार अवस्थित अवाङ्‌ मनसगोचर परमात्मस्वरूप का आभास पाता रहता है, तब ही उसके उद्देश्य से जीवात्म बोध रूप शर छोड़ सकता है। अतएव इस व्रत का स्वरूप भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा करने पर भी, वह वास्तव में अचिन्तनीय है। लिखने, बोलने, अथवा विचार करने से उसका यथार्थ स्वरूप

अनुभव नहीं होता। क्योंकि जिसके उद्देश्य से शर-वाण छोड़ा जाय वह "भावातीत निरञ्जनम्" है। और ऐसा अभ्यास व्रत ही महाव्रत है, वह भी स्थिर सिद्धान्त हैं। क्योंकि इस व्रत का अनुष्ठान ही चरम अनुष्ठान हैं, इसके बाद फिर व्रत और अनुष्ठान कुछ न रहेगा। यही मुक्ति का हेतु है।

मा। इस मुक्ति हेतु भूता अचिन्त्य महा व्रत स्वरूपा जो तुम हो तुम्हारा और एक नाम है विद्या। "विद्या यया तदक्षरमधिगम्यते"। जिसके द्वारा अक्षर परमात्म स्वरूप प्राप्त हो वही विद्या है। सर्व कर्म, अनुष्ठान भी गौणभाव से परमात्मा को पाने में हेतु हैं, इसी से उनको अविद्या वा विद्या का स्वल्प प्रकाश कहा गया है किन्तु यह अभ्यास रूप जो महाव्रत है; यह साक्षात मुक्ति का हेतु होने से, इसको परमाविद्या कहा जाता है। हे देवि! हे मा! तुम ही तो भगवती—भगवत् शक्ति स्वरूपा परमाविद्या रूप से आत्म प्रकाश करके, जीव का अज्ञान कल्पित बन्धनभय सदा के लिये दूर कर देती हो। मा! विद्या भी तुम; अविद्या भी तुम; बन्धन भी तुम मुक्ति भी तुम! और बन्धन मुक्ति के अतीत भी तुम।

मा। कब तक इन दीन सन्तानों के हृदय में, इस तरह भगवती विद्या स्वरूप से आविर्भूत होकर अज्ञान अन्धकार दूर कर दोगी? कितने दिनों में मा तुम विद्या मूर्ति से हमको गोद में लेकर अविश्रान्त ज्ञानामृत धारा पान कराओगी। अभी हम कब तक तुम्हारी अविद्या मूर्ति की गोद में बैठे होने पर भी तुमको न देख कर विषय की ओर ही देखते रहेंगे? हम तेरी अविद्या मूर्ति की गोद में रहते हैं बोलकर ही हमारी इन्द्रियां सयत नहीं हैं; इसी से तुम्हारी इस महाव्रत स्वरूपा मूर्ति का आभास भी नहीं पाते। मा कब तक हमारा कातर आह्वान तुम्हारे कानों तक पहुँचेगा?

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीतरम्यपदपाठवताञ्च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भव भावनाय-
वार्ता च सर्व जगतां परमार्तिहन्त्री ॥९॥

अनुवाद। मा! तुम शब्द रूपा हो। अतएव तुम ही अत्यन्त निर्मल ऋक् यजु एवं उच्च स्वर से गाये हुए रमणीय पदपाठ समन्वित सामवेद के एकमात्र निधान हो। इस संसार की स्थिति रखने के लिये तुम ही देवी भगवती त्रयी मूर्ति से विराजती हो। फिर वार्ता अर्थात जीविका रूप में भी तुम ही सब जगत् की आर्ति हरण करती हो। इसी से मा तुम परमाश्रेष्ठा हो!

व्याख्या। मा! देवताओं ने तुम्हारा स्तव करने से पूर्व तुम्हारा मुक्ति के हेतुभूता पराविद्या रूप से दर्शन किया था। अब उस पराविद्या का साधन भूता अपराविद्या भी एकमात्र तुम हो अर्थात ऋक् यजुः आदि वेद विद्या रूप से भी तुम ही प्रकटित हो, यह प्रकट करते हुए, प्रथम ही बोले—"शब्दात्मिका"। मा तुम शब्दरूपा हो। परा, पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी वाणी रूपसे तुम ही प्रति जीव में आत्म प्रकाश कर रही हो। प्रणव ही आदिम वाणी वा मूल नाद है। विभिन्न देशकाल और पात्र संयोग से वह एक ही नाद बहुधा विभिन्न रूप से सुनाई दे रहा है। वेद उस प्रणव के ही विशेष विशेष प्रकाश मात्र हैं। महर्षि जैमिनि ने कहा है—'तेषामृक यत्रार्थवसने पादव्यवस्थितिः। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्द इति॥" जिनका सहज में अर्थ बोध हो; ऐसे सुविन्यस्त भाव से जिन मन्त्रों की पद व्यवस्था है, उसका नाम— ऋक् है। जो सङ्गीत रूप से रमणीय सुर तान सहित ऊँचे सुर से गान किया जाय, उसका नाम उद्गीय साम है। इनसे जो अवसिष्ट है—जिसमें गान अथवा पद व्यवस्था नहीं है अर्थात् जो प्रायः गद्य

की तरह उच्चारित होता है, उसको यजुः कहते हैं। यही मा! तुम्हारी त्रयी मूर्ति है। अथर्ववेद और शिक्षा कल्प व्याकरणादि वेदाङ्ग उस त्रयी के अन्तर्गत हैं। वेद त्रिगुणात्मक होने से उनका नाम त्रयी है। ज्ञान भक्ति और कर्म्म रूप त्रिविध भाव के प्रकाशक होने से अपराविद्या को त्रयी कहा गया है। भगवान ने भी कहा है—"त्रैगुण्य विषया वेदा:"। उपनिषद् अर्थात् वेदान्त में यद्यपि गुणातीत स्वरूप का उपदेश है, तथापि वे भी त्रयी के अन्तर्गत हैं; क्योंकि ब्रह्मविद्या का उपदेश, आत्मा का महत्व वर्णन आत्मा का स्वरूप निर्णय, ये सब जब तक रहें, तब तक भी वह निगुर्ण के अन्तर्गत ही है।

अस्तु "भवभावनाय" अर्थात् लोक स्थिति के लिये ही मा! तुम्हारी इस त्रयी मूर्ति का विकाश है। जीव जिससे उन्मार्गगामी न हों, उच्छृङ्खल गति पर न चल कर संयत रहें। इसके लिये तुम सब देशों में शास्त्रोपदेश रूप से, वेद विधि रूप से, त्रयी मूर्ति से विराजते रही हो। मा! तुम्हारी महिमा भी अचिन्तनीय है। तुम्हारी ये त्रयीमूर्तिमें भी भगवती—अनन्त ऐश्वर्य्यमयी है। जो ईश्वर शक्ति केवल शास्त्रोपदेश रूप से सारे ब्रह्माण्ड की गति को संयत कर रख सकती हैं, उसे देवी भगवती के सिवाय और क्या कहा जा सकता है?

फिर आध्यात्मिक दृष्टिसे देखा जाता है कि जब तक किसी मन्त्र (शब्द) की सहायता से आत्मानुभूति लाभ करने होता है तब तक उसका नाम होता है ऋक्। श्रुति ने भी वाक को ही ऋक् कहा है। क्रम से वह अनुभूति जब कुछ विशेष भाव से प्रकाश पाती है, सर्व शरीर व्यापी कुछ आनन्दमय बोध का उच्छ्वास बहता रहता है, तब वह ऋक् ही यजुः रूप में परिणत होता है। उस अवस्था में फिर मन्त्रादि का छन्दोबद्ध रूप में उच्चारण नहीं होता, अर्थात छन्दः यति आदि विषय पर विशेष लक्ष्य नहीं रहता, सुर-हीन,

तान-हीन कुछ शब्द मात्र उच्चारित होते रहते हैं उस अवस्थाका नाम यजुः है। क्रमसे जब भाव राज्य पर अधिकार हो जाय, उल्लास घट जाय, प्रशान्त भावसे अनुभूति प्रकाश पाती रहे, तब धीरे-शान्त भावसे सुर तानकी सहायता से शब्द उच्चारित होते रहें। इसी का नाम साम है। कुछ धीर भाव से लक्ष्य करने पर दैनिक उपासना में भी इस त्रयीमूर्ति का विकाश देखा पाया जाता है। कीर्तनादि में भी अनेक स्थलों में उस त्रयी का विकाश विशेष भाव से देखा जाता है। केवल कीर्तन ही क्यों, सब देशों और सब सम्प्रदायों की उपासना में भी नादमयी महती शक्ति की इस त्रयीमूर्ति का अभूतपूर्व विकाश चक्षुष्मान व्यक्ति के निकट प्रतिभात होता है।

ऋग यजुः साम ये वेद हैं। वेदन वा अनुभूति का नाम ही वेद है। अन्तर में जो आत्मानुभूति होता है वह अनुभूति जब शब्द के आकार से बाहिर प्रकाश पावे, तब ही उसे वेद कहते हैं। वह सत्य स्वरूप आत्म सम्वेदन से आते हैं उसी का नाम वेद है। वह किसी मनुष्य के मस्तिष्क श्रम से उत्पन्न कुछ शब्द विन्यास नहीं है। यह सत्यानुभूति वा अभ्रान्त वेदन से आविर्भूत हैं, इसी लिये वेद को अपौरुषेय कहा है। यह थोड़ा बहुत सब देशों में ही हैं।

मा। केवल त्रयी मूर्ति से— केवल शास्त्र विधान रूप से ज्ञान विज्ञान रूपसे ही संस्कार का स्थिति रखती हैं सो नहीं बल्कि वार्ता रूप से भी जगत की आर्त-सब दुःख दूर करती हो। वार्ता-जीव स्थूल देह रक्षा के उपयोगी जीविका रूपसे-आहार रूपसे सब जीवों में सब देशों में सर्वकाल में तुम ही विराजती हो। मा। तुम ही हमारी वार्ता हो, तुम ही हमारी जीविका हो, इस सत्य ज्ञान से विच्युत होने ही के कारण तो आज हम पर यह जीवनसङ्कट काल उपस्थित हुआ है। किस तरह जीविका निर्वाह हो इस चिन्ता में देशवासी आज व्याकुल हो रहे हैं। मा। जिन्होंने जिविका रूपसे भी तुम्हारी अव्यय मूर्ति का विकाश देख लिया है उन्हें कभी जीविका

के अभाव से कष्ट नहीं पाते, यह बात कब इस देश के लोग फिर मर्म मर्म में अनुभव करेंगे? कब इस देश के लोग जीविका के लिये झूठी-ठगी परपदलेहन आदि नीच कर्म से निवृत होकर जीविका रूपिणी तुमको मा समझ कर आदर करेंगे और अन्न चिन्ता से परित्राण पावेंगे? परन्तु वह दूसरी बात हैं।

महाभारत में वार्त्ता शब्द का अर्थ दूसरी तरह देखा जाता है. एक दिन छद्मवेशी धर्म ने महाराजा युधिष्ठिर से जिज्ञासा की थी—वार्ता क्या है? इसके उत्तर में कहा था—"मासतुर्दर्व्वीपरिवर्तनेन, सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन। अस्मिन् महामोहमये कटाहे भूतानि-कालः पचतीति वार्ता"। मास ऋतु अर्थात् काल के कल्पित परिच्छेद रूप दर्वी (करछुली) परिवर्तन करके, सूर्य रूपी अग्नि द्वारा, दिन रात रूपी इन्धन की सहायता से, इस महा मोहमय संसार रूप कटाह में, भूतों को स्वयं काल पकाता हैं। यही वार्ता है। मा। तुम काल रूप से सदा इस भुत संघ को पकाती हो। जन्म स्थिति लय "जायते अस्ति वर्द्धते" आदि षड्भाव परिणाम के आकार से प्रति जीव में तुम ही वार्ता रूप से आत्मप्रकाश कर रही हो। जीविका उन षड्भाव विकारों के ही अन्तर्भुक्त है। मा! जो तुम्हारी इस सदा प्रकाशमान वार्ता मूर्ति पर लक्ष्य रखकर भक्ति पुष्पाञ्जलि अर्पण करते हैं, वे कभी तुम्हारे इस सदा परिवर्तन-शील मूर्ति पर मुग्ध नहीं होते। फिर उन्हें जीविका के लिये कोई चिन्ता भी नहीं रहती। तब तुम स्वयं योग क्षेम वहन कारिणी स्नेहमयी मातृ मूर्ति से प्रकाशित होकर, उन्हें अंक में धारण कर बैठती हो। तब उनकी दृष्टि प्रधान भाव से तुम्हारी उस परम स्नेहमय एक अखण्ड सत्ता की ओर ही लगी रहती है। अतएव अवश्यम्भावी सब परिवर्तन, उनके ऊपर से प्राय अज्ञात में ही चले आते हैं।

मा! धन्य तुम्हारा स्नेह! जब तक हम संसार स्थिति को ही परम पुरुषार्थ रूप मानते रहेंगे, तब तक तुम अपना वह अव्यय

स्वरूप अप्रकट रखकर हममें वार्ता रूप से ही आत्मप्रकाश करोगी। हम भी तब तक जीविका के लिये विषयों के द्वार पर भिक्षुक की तरह उपस्थित होते रहेंगे। फिर जब इस संसार स्थिति को ही यथार्थ कष्टकर समझ सकेंगे, वार्ता रूप में भी तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है; यह जब उपलब्धि हो जायगा, तब ही हमारी जीविका की चिन्ता बिलकुल दूर हो जायगी, और फिर तुम भी मा, सर्वनाशी मूर्ति से आविर्भूत होकर हमारे सब भावों को विनष्ट कर, एका अद्वितीया मूर्ति से—आर्ति हरा स्वरूप से आत्मप्रकाश करोगी। मा! तब ही तुम्हारा 'परमा' नाम सार्थक होगा। तुम यथार्थ हो श्रेष्ठा हो, तुम सचमुच पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मादि की भी 'मा' हो, तब ही उसे समझ सकेंगे। मा! जब तक तुम इस तरह आर्ति हन्त्री मूर्ति से खड़ी न होगी, तब तक हम किसी तरह इस आर्ति के हाथ से न छूट सकेंगे। इसी से मा कातर होकर प्रार्थना करते हैं—एक बार दुःख हन्त्री मूर्ति से सन्तान के हृदय में आविर्भूत हो! यह दुख से तपता हुआ वक्ष शीतल हो। अभी तुम मा हो, आर्ति हन्त्री परमा हो, तुम परमार्ति हन्त्री परम दुखः नाशिनी मा हो।

मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागर नौरसंगा।
श्रीः कैटभारिहृदयैक कृताधि वासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥१०॥

अनुवाद। हे देवि! तुम सब शास्त्रों का अर्थ धारणावती मेधा हो। तुम दुर्गा, तुम ही दुस्तर भवसागर में असंगा तरणी हो। कैटभारि के हृदय विहारिणी कमला, और चन्द्रशेखर (शिव) के अङ्क विहारिणी गौरी भी तुम हो।

व्याख्या। मा ! पूर्व कहा है— वेद रूपिणी तुम हो। अब देखते हैं—वेदार्थ धारणावती धी वा मेधा रूप में भी तुम हो। तुम ही मेधा रूपिणी होकर सब शास्त्रार्थ ज्ञान धारण कर रक्खा है, इसी से आशा है—किसी न किसी दिन हम तुमको अवश्य ही पावेंगे—समझ सकेंगे। हम जो कुछ सीखते, इन्द्रियों की सहायता से जो कुछ ग्रहण करते हैं, यदि एक एक मृत्यु के साथ उन सबको भूल जाते तो फिर कभी हमारा यह बन्धन दूर नहीं होता। किन्तु मा ! तुमने मेधा रूप से हमारा वह बिन्दु बिन्दु ज्ञान धारण कर रक्खा है; इसी से प्रति जन्म में हमारा ज्ञान भी बढ़ता रहता है। एक जीवन में हम जो ज्ञान सञ्चय करते हैं अगले जन्म में फिर ठीक वही ज्ञान सञ्चय करने के लिये विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जिस शक्ति के प्रभाव से हमारा यह अनेक जन्म सञ्चित ज्ञान राशि परिधृत रहती है, वही—मेधा है।

इस मेधा की चरम अवस्था वा श्रेष्ठ स्वरूप "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसी स्मृति है। आचार्य शङ्कर ने भी कहा है—"ब्रह्माहमस्मि इति स्मृतिरेव मेधा" किसी दिन हमारे हृदय में इस मेधा रूप से तुम खिल उठोगी, तब हम "मैं ब्रह्म हूँ" इस स्मृति में उद्‌बुद्ध होकर जीवत्व का दृढ़ बन्धन दूर फेंककर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होंगे। तुम मेधा रूप से आत्म प्रकाश करती हो तब ही तो हम तुम्हें वा मैं को पहचान सकते हैं। वही अखिल शास्त्र का सार, सब शास्त्रों का सार मर्म्म—आत्म स्वरूपावगति है। मैं कौन हूं ? उसे समझ सकने से ही सब शास्त्रों की आवश्यकता दूर हो जाती है। मा ! वही तुम्हारा विदिता स्वरूप है। जब जीव अपना स्वरूप समझ सकता है, तब ही तुम "विदिता" मूर्ति से आविर्भूत होते हो। तुम्हारे इस विदिता स्वरूप को लक्ष्य करके ही, सब शास्त्रार्थ का रहस्य व्याख्यात होता है। आपात दृष्टि से शास्त्रों के वाक्य समूह परस्पर विरुद्ध अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु मा, जब तुम

विदिता स्वरूप से जीव-हृदय में आत्म प्रकाश करती हो तब फिर शास्त्र वाक्यों का यह परस्पर अत्यन्त विरूद्ध भाव नहीं रहता। सब शास्त्र उस एक की ही प्रतिध्वनि करते हैं; यह खूब स्पष्ट भाव से समझा जा सकता है।

महाभारत में कहा है—"वेदाः विभिन्नाः स्मृतयोर्विभिन्नाः नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्। धर्म्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।" यद्यपि यह श्लोक शास्त्र भेद और मत भेद के पक्ष में परिपोषक प्रमाण रूप से ग्रहण किया जाता है; तथापि हमने उसका जैसा अर्थ समझा है, यहां उसका उल्लेख भी अप्रासङ्गिक न होगा। इस श्लोक के दूसरे पाद का प्रथम "न" कार प्रथम पाद के साथ अन्वय करने से उसका अर्थ दूसरा ही हो जाता है। जैसे—वेद विभिन्न नहीं हैं, स्मृतियाँ विभिन्न नहीं हैं; अर्थात् सब ही एकार्थ लक्ष्य पर अभिव्यक्त हैं। वे ही यथार्थ मुनि हैं जिनके मत विभिन्न नहीं है। अर्थात् जो भेददर्शी नहीं हैं, वे ही मुनि पद वाच्य हैं। धर्म का तत्त्व गुहा में—हृदय में निहित है। (उपनिषद के अनेक स्थानों में गुहा शब्द से हृदय को ही लक्ष्य किया है।) महाजन—साधु महापुरुष जिस मार्ग से गये हैं—जिस हृदय गुहा-मार्ग से चल कर आत्म-ज्ञान लाभ किया है, "स पन्था" वही यथार्थ मार्ग है। इस मार्ग पर चल सकने से ही धर्म का तत्त्व ज्ञात हो जाता है।

अस्तु, कहा था—मा! तुम्हारा वह "विदिता" स्वरूप ही सब शास्त्रों का सार है। तुमको जानने के लिये ही सब शास्त्रों की अवतारणा है। किन्तु मा! जब तक तुम कृपा करके स्वयं विदिता रूप से प्रकाशित न हो, तब तक कोई शास्त्र तुम्हें प्रकाश नहीं कर सकता। फिर जब तुम स्वयं विदिता होती हो, तब साधक को शास्त्रों की कुछ आवश्यकता नहीं रहती। मा! तुम उस विदिता स्वरूप से—बोध स्वरूप से प्रति जीव में ही सर्वदा प्रकाशमान रहती

हो तो भी कोई तुमको समझ-बूझ नहीं सकता; इसी से तुम दुर्गा-दुर्ज्ञेया-दुरधिगम्या हो।

फिर दूसरी ओर देखते हैं—तुम मेधा रूप से हमारे अनेक जन्म सञ्चित ज्ञान राशि धारण कर रखते हो इसी से ही, इस दुर्गम भव सागर में तुम ही एक मात्र तरणी हो। जीवगण मेधारूप नौका पर आरोहण कर 'ब्रह्माहमस्मि" बोलकर अनायास इस दुर्गम भव सागर से पार हो जाते हैं। पार्थिव तरणी पर कर्णधार की आवश्यकता होती है। कर्णधार न रहे तो जगत् की नाव चल नहीं सकती किन्तु मा, तुम हमारी असङ्गा तरणी हो! दूसरे किसी की भी सहायता आवश्यक नहीं होता है। तरणी भी तुम, और चलाने वाली भी तुम। मेधा रूपिणी हमारी मा, यथार्थ ही तुम असङ्गा—संग रहिता-निर्लिप्ता हो। यद्यपि हमारी बिन्दु-बिन्दु ज्ञान राशि मेधा रूप से धारण कर रक्खी है और परिच्छिन्न मलिन ज्ञान राशि को अनादि काल से वक्ष पर धारण कर रक्खा है, यद्यपि सत् असत् सब संस्कार ही मेधा रूपिणी तुम्हारे अङ्ग में विजड़ित हैं, तो भी उनके संस्पर्श में आकर तुम परिच्छिन्न या मलिन नहीं हुई। तुम जैसी नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपा असङ्गा मा हमारी थीं, ठीक तैसी ही हो। इतने बहुभाव वक्ष पर धारण करके भी तुमको बहुत्व के संलेप बिलकुल स्पर्श नहीं किया, इसी से देवताओं ने तुम्हें "दुर्गा-भवसागर नौरसङ्गा" कह कर स्तुति कर रही है।

मा! तुम कैटभारि—बहुत्व विनाशकारी विष्णु के हृदय विहारिणी श्री हो। फिर शशिमौलि चन्द्रशेखर महेश्वर की अर्द्धाङ्ग रूपिणी गौरी हो। विष्णुत्व और शिवत्य तुम्हारे ही विभिन्न प्रकाश मात्र हैं। इसी से देखते हैं—एक ओर तुम विष्णु और शिव की प्रसुति होकर भी दूसरी ओर में वैष्णवी और शिवानी रूप से आत्म प्रकाश करती हो। यह जो जगद्भाव, यह जो बहुत्व, यह जो हमारा जीवत्व है, इसे जो शक्ति—जो मेधा में परिभूत रहता

है, वही वैष्णयी शक्ति वा श्री है। फिर यही शक्ति, यह मेधा ही जब असंगा रूप से आत्म प्रकाश करती है—और किसी भी भाव को धारण कर्त्री रूप से प्रकटित नहीं होती, तब ही सब भावों की संहारक शक्ति रूप से परिचित होती है; अतएव तुम्हारा मेधा और विदिता स्वरूप ही मा हमारे निकट श्री और गौरी मूर्ति से प्रकट होता है।

ईषत्सहासममलं परिपूर्णचन्द्र—
विम्बानुकारि कनकोत्तम कान्तिकान्तम्।
अत्यद्भुतम् प्रहृतमात्तरुषा तथापि,
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण ॥११॥

अनुवाद। मा, तुम्हारी ईषत् हास्य युक्त निर्म्मल पूर्णचन्द्र की तरह मनोहर, उत्तम सुवर्ण की नाईं कमनीय मुख कान्ति देख कर भी महिषासुर ने क्रोधवश होकर जो तुमको प्रहार किया था यह वास्तव में अति अद्भूत है।

व्याख्या। जिनके श्री मुखमण्डल की कान्ति से त्रिजगत् मुग्ध होता है, उनका वह लोकातीत सौन्दर्य प्रत्यक्ष करके भी जो रजोगुण की बहिर्मुखी चंचलता रहता है—फिर अत्यन्त अकिञ्चित कर रूप रसादि परिग्रह की वासना रहती है, यही आश्चर्य है। अजी "यं लब्ध्वा चापरंलाभं मन्यतेनाधिकं ततः" जिनको लाभ करने से फिर किसी भी वस्तु लाभ की इच्छा नहीं जागती, उन्हें देख कर—प्रत्यक्ष कर, फिर चित्त किस तरह विषय लोलुप होता है सो भावना करके भी नहीं ठीक किया जा सकता। क्या यथार्थ ही यह वास्तव में अति अद्भुत नहीं है!

मा! जगत् का सब सौन्दर्य एकत्र होने पर भी, तुम्हारे उस लोकातीव सौन्दर्य सिन्धु के बिन्दु परिमाण भी नहीं होता। तथापि हम उसकी ओर लक्ष्य न कर के; जगत् के दुःख मिले हुए विषयों

के सौन्दर्य पर ही आकृष्ट होते हैं। तुम्हारी उस अलौकिक सुषमा की बात भूल जाते हैं। क्षण स्थायी अकिञ्चित कर सौन्दर्य भोग की लालसा से तुम्हारी सुषमा को आच्छादित कर डालती है। इससे अधिक आश्चर्य्य का विषय और क्या है मा !

साधक ! आत्मस्वरूप कभी-कभी उपलब्धि योग्य होने पर भी रजोगुण की क्रियाशीलता बिलकुल तिरोहित नहीं हो जाती। इसी से बारम्बार उस अनुपम सुषमामय परमात्म स्वरूप को आच्छन्न करके विषय विक्षोभ आ जाती है। यही मा का अनुपम सौन्दर्य देख कर भी मा के अङ्ग पर महिषासुर का अस्त्र प्रहार है। जिस तरह चञ्चल जल में स्थित चन्द्रमा की परछाईं स्पष्ट दिखाई नहीं देती, जिस तरह वायु प्रवाह परिचालित कृष्णवर्ण मेघमाला अन्तराल स्थित सुर्य्य बिम्ब स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता, ठीक उसी तरह—रजोगुण की विक्षोभ जनित चित्त की चंचलता मा के उस अतुलनीय सौन्दर्य्य सम्भोग में विघ्न स्वरूप होती है। इस विघ्न का नाम ही महिषासुर का प्रहार।

मा ! जिस बैषयिक सौन्दर्य्य पर मुग्ध होकर हम तुम्हारे इस लोकातीत सौन्दर्य्य की उपेक्षा करते हैं, उस विषय सुषमा रूप में भी तुम ही नित्य सुप्रतिभात होती हो, यह बात हम कब तक मर्म मर्म में उपलब्धि कर सकेंगे। मा! इस जगत् में जो कुछ है, वह सब ही तुम्हारे सौन्दर्य से आच्छादित है, तुम्हारा हीं रूप प्रत्येक पदार्थ के प्रति अवयव में प्रकाशित है, इस सत्यज्ञान से, इस सरल उपलब्धि से जब तक हमारे प्राण परिपूर्ण न होंगे, तब तक हम क्या यथार्थ ही तुम्हारे उस अतुलनीय सौन्दर्य का पता पा सकेंगे।

दृष्ट्वा तु देवि ? कुपितं भ्रुकुटी कराल।
मुद्यच्छशाङ्क सदृशच्छवि यन्न सद्यः ॥

प्राणान् मुमोच महिषस्तदतीव चित्रं ।
कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन ॥१२॥

अनुवाद । हे देवि ! क्रोधवश भ्रुकुटी भीषण, होने पर भी उदय होते हुए पूर्ण चन्द्र की नाईं कमनीय, तुम्हारे मुखमण्डल का दर्शन कर, महिसासुर ने तत्क्षणात जो प्राण त्याग नहीं किये यह बड़े विचित्र है । कुपित अन्तक को देखकर कोन जीवित रह सकता है ?

व्याख्या । मा ! तुम्हारी भ्रुकुटी भीषण कुपित मुखच्छवि देख कर महिषासुर ने जो प्राणत्याग नहीं किया यही आश्चर्य है । तुम्हारा जब कोप प्रकाश होता है—जब तुम प्रलयङ्करी मूर्ति से खड़ी होती हो; तब ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तक अदृश्य हो जाते हैं; तब महिषासुर तो अति तुच्छ हैं । मा ! देवतागण तुम्हारी भ्रुकुटी कराल कुपित मुख का स्वरूप वर्णन करते समय कहते हैं "उद्यत् शशाङ्क सदृशच्छवि" । जब पूर्ण चन्द्र का उदय होता है, तब रात का अन्धकार जैसे अदृश्य हो जाता है, ठीक उसी तरह मा ! तुम्हारे प्रलय कराल मुखकान्ति देखने से अज्ञान अन्धकार और द्वैत भाव बिलकुल विलय हो जाते हैं, यही अबाधित नियम है । किन्तु इस क्षेत्र में हमें उससे विपरीत जान पड़ता है कि महिषासुर तुम्हारे कराल मुख की छवि देखकर भी जीवित रहा, तुम्हारे साथ युद्ध किया, सिंह, गज, अर्द्ध निष्क्रान्त पुरुष, आदि अनेक मूर्तियों से तुम पर आक्रमण करने लगा, यह अवश्य ही विस्मय की बात है । क्यों ऐसा हुआ ?

मा ! तुमने जो अम्बिका मूर्ति से कोप प्रकाश किया था— "कोपं चक्रे ततोऽम्बिका" । अम्बिका मूर्ति—मातृ-मूर्ति । मा का भ्रुकुटी कराल मुख सन्तान को भीत सन्त्रस्त कर सकता है किन्तु विनष्ट नहीं कर सकता । मा ! तुमने आप ही तो मधुपान करने के लिये महिषासुर को गर्जने का अवसर दिया था । इसी से वह

तुरन्त मरा नहीं, युद्ध करके मरा है। मा! हम जिसको अत्यन्त असम्भव घटना समझते हैं, अघटन घटन पटीयसी तुम्हारी इच्छा से, वह अति सहज भाव में संघटित हो जाती है। यह हम थोड़ा विचार करने पर रोज के जीवन में ही लक्ष्य कर सकते हैं। तो भी तुम्हारी सर्व शक्ति मत्ता के सर्वमय अखण्ड कर्तृत्व पर विश्वास करके आत्म-समर्पण नहीं कर सकते, अहं कर्तृत्व के मिथ्या अभिमान को तुम्हारे चरणों में अर्पण करके यावतीय चिन्ताओं के भार से नहीं परित्राण पाते, यही तो हमारा दुर्भाग्य है।

मा, महिषासुर के वध-कार्य में तुम्हारे इस स्वाभाविक नियम के अन्यथा देखकर देवता बोले—"कैर्जीव्यते हि कुपितान्तक दर्शनेन" प्रकुपित अन्तक के दर्शन करने पर कौन जीवित रह सकता है? सचमुच मा कुपित अन्तक को देखने पर कोई नहीं बचता; किन्तु कुपित मा को देख कर सन्तान क्यों न बचेगी? जब तक तुम स्वयं अन्तकारिणी रूप से सम्यक आत्म प्रकाश न करो तब तक तुम्हारे भ्रुकुटी कराल कुपित मुख मण्डल के भीतर से भी मातृत्व का गौरव मय स्नेहपूर्ण करुणा दृष्टि प्रकाशित होता रहता है, उदित-चन्द्रमा-सदृश मुख-कान्ति का विकाश होता है; इसी से तो महिषासुर ने तुरन्त मृत्युमुख में न पड़कर युद्ध करके तुम्हें मधुपान का सुयोग दिया था। धन्य मा तुम्हारी अनिर्वचनीय लीला! जब तुम हमारे मुख से मा शब्द सुनने के लिये उत्कण्ठित हो रही हो, जब देखते हैं कि हमारे मुख से मा शब्द सुनकर तुम्हारा हृदय सचमुच मातृत्व के गौरव से फूल उठता है, तब हमारा दुःख दीन हृदय भी पुत्रत्व के अपूर्व गौरव से उत्फुल्ल होने लगता है। मा! तुम हमको यह गौरव अनुभव करने का सुयोग प्रदान करो।

देवि! प्रसीद परमा भवती भवाय
सद्यो विनाशयसि कोपवती कुलानि।

विज्ञात मेतदधुनैव यदस्तमेत—
न्नीतं बल सुविपुलं महिषासुरस्य ॥१३॥

अनुवाद। देवि! प्रसन्न हो तुम श्रेष्ठा पूजनीया हो तुम्हारी प्रसन्नता ही में हमारा मङ्गल है। तुम्हारे कुपित होने से सब कुल शीघ्र ही विनाश हो जाता है! इसे हम अभी ही समझ सके हैं। क्योंकि महिषासुर की यह विपुल वाहिनी एकदम विध्वस्त हो गई।

व्याख्या। मा! तुम परमा-श्रेष्ठा हो। तुम पर की अर्थात् परमेश्वर की भी मा हो। जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर नाम से परिचित होते हैं वे भी तुमसे ही उत्पन्न हैं, तुममें ही स्थित हैं, इसी से तुम परमा हो। तुम प्रसन्न हो, तब ही हम भव अर्थात् मङ्गल लाभ कर सकेंगे। अथवा दूसरी ओर देखते हैं कि तुम्हारी प्रसन्नता और क्रोध दोनों ही जीव के लिये परम हितकर हैं। तुम प्रसन्न होने से – जीव ऐहिक पारत्रिक सब तरह का मङ्गल पाते हैं। और कुपित होने से जीव का सब कुल विनाश प्राप्त होता है। यह भी जीव के पक्ष में परम मङ्गल है। कुल विनष्ट हुए बिना अकुल का पता पाया नहीं जाता। मा! कितने जन्म जन्मान्तर से कुल कुल में विचरण कर— रूप रसादि विषय भोग करके ही यह जीव जीवन व्यतीत होता है। हम किसी तरह कुल का त्याग नहीं कर सकते। एक कुल छोड़ते हैं दूसरा कुल पकड़ लेते हैं। एक दो दिन नहीं, न जाने कितने अनादिकाल से ऐसे कुलों में विचरना आरम्भ हुआ है। उसे कौन कह सकता? मा, तुम कुपित होने से हमारे वे कुल ध्वस हो जाँय तब हम अकुल समुद्र में अवगाहन कर अपने को अकुल में मिला लें। इस दुःख मिले हुए परिच्छिन्न सुख के हाथ से सदा के लिये परित्राण पावें। हमारा कुल कुल में विचरना सदा के लिये रुक जाय। इसी से कहते हैं मा! तुम्हारी प्रसन्नता और क्रोध, दोनों ही हमारे मंगलदायक हैं।

मा ! जो केवल तुम्हारी प्रसन्नता ही चाहते हैं। जो केवल तुम्हारी हास्यमयी मुख श्री ही देखना चाहते हैं, समझ लो कि अभी वे तुमको मा बोलकर पहचान नहीं सके हैं जिन्होंने समझा है—तुम मा हो, हम सन्तान हैं, वे तुम्हारी भृकुटी-कराल कुपित-मुख श्री देख कर भी बिलकुल नहीं डरते। जो सन्तान है वह मा के कोप और प्रसन्नता में, तुल्य भाव से मा का स्नेह ही देख पाती है ! मातृ स्नेह में जो मुग्ध हो सके हैं, वे मा की क्रोधमयी मूर्ति से – संसार की सैकड़ो विघ्न बाधाओं से, हजारों अमंगल में भी बिन्दुमात्र अमंगल के चिन्ह नहीं देख पाते। इसी से वे निर्भीक पुरुष की तरह—बिलकुल नग्न शिशु की तरह, तुम्हारी प्रलयङ्करी मूर्ति के सामने खड़े होकर ऊँचे स्वर से मा। कहते हुए तुम्हारी ही गोद में जा बैठते हैं।

यदि समझते कि—तुम्हें छोड़ कर हमारा और कोई भी आश्रय है तो तुम्हारी क्रोधमयी मूर्ति देख कर, डरते हुए तुम्हें छोड़ कर, दूसरे आश्रय की ओर चल देते, किन्तु जब समझ लिया है कि आश्रय एक मात्र तुम ही हो, जन्म-मृत्यु, हँसना-रोना, सुख-दुःख, क्रोध, प्रसन्नता कुछ भी क्यों न हो, सब अवस्था में जब एक मात्र तुम ही हमारी एकान्त आश्रय हो, तब फिर तुम्हारी क्रोधमयी मूर्ति देख कर क्यों भीत होकर पीछे हटेगें ? जानते हैं—तुम कुपित होने से हमको अशेष निर्यातन भोगने पड़ते हैं रोग, शोक, अपमान, अत्याचार, अभाव, उत्पीड़न चारों ओर से आक्रमण करते हैं; तथापि उन्हीं में जब तुम्हारा स्नेह करुणामय मुख मन में याद आ जाता है, तब हे चण्डि। घड़ी भर में हमारे सब दुर्भाग्य दूर हो जाते हैं। और हम अपने को परम सौभाग्यवान समझ कर धन्य ही होते हैं।

मा। तुम इस तरह कुपित मूर्ति से प्रति जीव के हृदय में आविर्भूत होकर महिषासुर की विपुल वाहिनी विनाश कर दो—

इन्द्रिय ग्राह्य तुच्छ रूप रसादि विषय रूप कुल की जड़ मिटा दो। हम विषय रूप कुल परित्याग कर, हे अकुल की तरणी हमारी मा, आओ, तुम्हारी स्नेह मय गोद में सर्वतो भाव से उछल बैठें। एक दिन तुमने यमुना तट पर कदम्ब मूल में खड़े होकर मोहन मुरली ध्वनि से गोपिकाओं का कुल छुड़ा कर, अपनी ओर आकर्षित करके कृष्ण नाम सार्थक किया था। फिर एक बार उसी तरह इस युग सन्धि के महाक्षण में स्वरूप में आविर्भूत होकर— अपनी उस मधुमय सत्य की महाआकर्षण ध्वनि से हमारी भी मूल छुड़ा दो, कूल छुरा दो, हम भी अकुल में तैरने लगें। अजी बहुत दिन से कूल कूल में रह कर, कितने लहरों के आघात सहे हैं, अनेक आघातों से छाती का पञ्जर टूट गया है, कितने आधातों से मर्म्म स्थान विच्छिन्न हो गया है, मा! अब यह नहीं सहा जाता। अब एक बार इस गति शक्ति-हीन सन्तान को अपने अकुल स्नेह मय वक्ष पर स्थान दो।

ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां,
तेषां यशांसि न च सीदति धर्म्म वर्गः।
धन्यास्त एव निभृतात्मज भृत्यदारा,
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ॥१४॥

अनुवाद। मा तुम प्रसन्न होकर जिनको सर्वदा अभ्युदय देती हो उनका जनपद में सम्मान होता है उनका धन यश और धर्म वर्ग अवसन्न नहीं होता, उनके पुत्र, भृत्य और पत्नी विनीत और सुस्थ होते हैं, अतएव जगत में वे ही धन्य हैं।

व्याख्या। मा, तुम प्रसन्न मूर्ति से जिनको अंक में धारण कर रही हो, अर्थात् जिन्होंने तुमको नित्य तृप्ता नित्य प्रसन्नमयी जननी बोलकर समझा है, वे जगत् में देवोचित सम्मान पाते हैं। यद्यपि उन्होंने जगत् के सुख समृद्धि, भोग, ऐश्वर्य, सम्मान और यश को अति नगण्य समझ लिया है, तथापि मा उनके निकट ऐसी

अभ्युदयदायिनी मूर्ति से ही तुम आविर्भूत होती हो। जो सर्व भाव में तुम्हें देखने के अभ्यस्त नहीं हैं, पार्थिव अभ्युदय रूप से भी तुम हो आत्म प्रकाश करती हो, जो विश्वास नहीं करते नहीं मानते, वे विपद् में पड़ कर तुम्हारी क्रोधमयी मूर्ति का ही आभास पाते हैं। तुम्हारी सौम्या प्रसन्ना मूर्ति क्या है उसकी वे धारणा भी नहीं कर सकते। अतएव पार्थिव अभ्युदय लाभ करके भी वे लोग कभी यथार्थ सुखी नहीं हो सकते।

और जो सुख दुःख, अभ्युदय अधःपतन, सब अवस्था में अपने को मा की गोद में स्थित पुत्र रूप से उपलब्धि कर सकते हैं। उनका "न च सीदति धर्म्म वर्गः',—धर्म्मवर्ग अर्थात् धर्मार्थ काम मोक्ष रूप चतुर्वर्ग कभी भी अवसन्न नहीं होता। वे इस जगत में रह कर ही यथा क्रम से पूर्वोक्त चतुर्वर्ग फल लाभ करते हैं। मा, जो तुम्हारी धर्ममयी मूर्ति की सेवा न करके; केवल अर्थ काम की सेवा करते हैं, वे ही दुःख ताप से बार-बार जर्जरीभूत होते हैं। मा देखो—तुम्हारी बड़ी साध की मानव सन्तानों का अधिकांश ही आजकल धर्म्महीन होकर, केवल अर्थ काम की सेवा करते-करते, कैसी शोचनीय दुर्दशा में आ पहुंचा है। चारों ओर से अभाव का दावानल जल उठा है। दुर्भिक्ष, महामारी, अकाल मृत्यु, रोग, शोक आदि द्वारा इतने पीड़ित होते हैं कि शान्ति वा आनन्द नाम की जो एक वस्तु इस जगत में है, यह बात ही मानो वे भूल गये हैं। त्रिविध दुःख से जर्जरीभूत होकर आनन्दमय जगत को दुःखमय बोलकर घोषणा करते हैं।

मा! तुम उनसे कह दो—तुम उनके मर्म-मर्म में समझा दो—धर्म के बिना सुख नहीं मिलता। यह जगत् आनन्दघन है, यह समझने के लिये—वह आनन्द भोग करने के लिये। सबसे पहिले धर्म की सेवा करनी होती है। जीव जितना धर्म परायण होता है उतनी ही चित्त में प्रसन्नता होती है। चित्त प्रसन्न होने से ही

अभाव बोध दूर हो जाता है। अभाव बोध न रहने से अर्थ का भी अभाव नहीं होता; अतएव धर्मानुमोदित कामना पूरण में कुछ भी व्याघात नहीं होता। कामना पूर्ण होने से ही जीव निष्काम होता है। तब तुम मोक्ष रूपिणी मा स्वयं आकर कल्पित बन्धन काट कर, जीव सन्तान को अमृत का आस्वाद भोग कराती हो।

ऐसा सहज सरल उदार मार्ग मौजूद रहने पर भी, अधिकांश जीव मार्ग भूल कर क्यों मनमानी राह से चल कर अपार कष्ट सहते हैं, उसे भ्रान्ति रूपिणी मा! तुम ही जानो। मा! एकबार भ्रान्ति हरा मूर्ति से प्रत्यक्ष हो, जिससे हमारी अनादिकाल की यह भ्रान्ति दूर हो। भ्रान्ति रूप में भी मा! तुम्हारा ही प्रकाश है यह समझ कर हम ,भ्रान्ति से पार चले जावें।

मा! तुम अभ्युदयदायिनी मूर्ति से जिसको गोद में ले लेती हो, उसके नौकर, चाकर, पुत्र, स्त्री, परिवार के लोग सब ही अनुगत शिष्ट सुस्थ और सदाचारी होते हैं। अतएव धर्म पाने की आशा से, अथवा मुक्ति पाने की आशा से, उन्हें गृहस्थाश्रम त्याग कर, निर्जन पर्वतों की गुफाओं में जाने की आवश्यकता नहीं होती। वे यह लोक और परलोक दोनों ही जीत सकते हैं। गीता में भी कहा है—'इहैव तैर्जितः स्वर्गः येषां साम्येस्थितं मनः।" जिनका चित्त समत्व पर स्थित है अर्थात् सर्वत्र अवस्थित सम—स्वरूप मातृ सत्ता पर प्रतिष्ठित हैं, वे इस जगत में रह कर ही स्वर्ग लोक को भी जय कर लेते हैं। अतएव वे ही धन्य हैं। इसी से देवता भी मा, तुम्हारा स्तव करते करते "धन्यास्त एव" कहते हुए तुम्हारी प्रियतम सन्तानों को धन्यवाद प्रदान किये हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में आत्मज, भृत्य और दारा शब्दों के क्रम से विवेक, जीती हुई इन्द्रियां, और आत्माभिमुखी प्रवृत्ति रूप अर्थ करने से ही इस मन्त्र का रहस्य सरलता से समझ में आ जायगा।

धर्म्म्याणि देव सकलानि सदैव कर्म्मा-
ण्यत्यादृतः प्रतिदिनं सुकृती करोति ।
स्वर्गं प्रयाति च ततो भवती प्रसादात्-
लोक त्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन ॥१५॥

अनुवाद। देवि! तुम्हारे ही प्रसाद से सुकृतिशाली जनगण प्रति दिन अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सब कर्मों को धर्म्ममय करके सम्यक् भाव से अनुष्ठान करते हैं। और उसी के फल से स्वर्ग और मोक्ष पाते हैं। अतएव हे देवि! इस तरह तुम तीनों लोक में ही फलदायिनी हो।

व्याख्या। पूर्व मन्त्र में कहा है—"न च सीदति धर्म्मे वर्गः।" एक मात्र धर्म की सेवा करने से ही क्रम से अर्थ काम और मोक्ष फल का अधिकारी हुआ जाता है। किस तरह उस धर्म की सेवा करते हैं, इस मन्त्र द्वारा वही प्रकट किया है। "प्रतिदिनं सकलानि कर्म्माणि इत्यादृतः धर्म्माणि करोति, एवञ्च सुकृती भवति।" प्रतिदिन सब कर्म्म अत्यन्त आदर सहित धर्ममय रूप से अनुष्ठान करने होता है, एवं ऐसा कर सकने से ही मनुष्य सुकृतिशाली होता है, उसी के फल से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। यह विषय और भी स्पष्ट करना आवश्यक है।

साधारणतः लोग कर्म को तीन प्रकार का जानते हैं। कुछ धर्म्म्य कर्म्म जैसे सन्ध्या वन्दन, व्रत नियम, उपवास इत्यादि शास्त्र विहित कर्म्म। कुछ अधर्म्म कर्म, जैसे—हिंसा, द्वेष, झूठ बोलना, परस्व हरण इत्यादि निन्दित कर्म्म। और कुछ साधारण कर्म्म जैसे—भोजन, शयन, भ्रमण, द्रव्योपार्जन इत्यादि। उनमें धर्म्म भी नहीं और अधर्म्म भी नहीं कर्म का ऐसा श्रेणी विभाग रहने पर भी किन्तु हम देखते हैं कि कर्म एक प्रकार मात्र है। विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग होने से ही कर्म्म होता है। गीता में कर्म्म अकर्म्म और विकर्म्म भेद कर्म्म के जो श्रेणी विभाग है वे भी

एकमात्र विषयेन्द्रिय संयोग रूप कर्म्म के ही प्रकार भेद मात्र हैं। इस मन्त्र में उस मूलीभूत कर्म को ही लक्ष्य किया गया है, वह मन्त्र के "सकलानि" शब्द की ओर लक्ष्य करने से ही समझा जा सकता है। अस्तु सब कर्मों को ही धर्म्म रूप से श्रद्धा सहित अनुष्ठान करना चाहिये; अश्रद्धा से न करो। "अत्यादृतः" अत्यन्त आदर सहित करो। क्या होने से सब कर्म्म धर्म्म्य हो सकते हैं? मातृ-कर्तृत्व के दर्शन से। मातृ युक्त होकर कर्म्म अनुष्ठान का नाम ही धर्म्म कर्म्म है। यह गीता के उस 'तत् कुरुष्व मदर्पणम्" मन्त्र की साधन मय अवस्था है। अहं बुद्धि से कर्म्म का अनुष्ठान करके तब ईश्वरार्पण करना कनिष्ठाधिकार का कार्य्य है। अनुष्ठान के समय ही कर्म्मों को जहां तक हो सके मातृयुक्त भाव से करना चाहिये, इसी से मन्त्र में "करोति" यह वर्तमान काल बोधक क्रियापद का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ-परिसमाप्ति का नाम वर्तमान है। जिस किसी भी कार्य के प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त मातृ-कर्तृत्व दर्शन ही यथार्थ धर्म्म कर्म्म है।

विश्वमय एक विराट कर्तृत्व है, वह कर्तृत्व वा क्रिया शक्ति हमारे विषयेन्द्रिय संयोग द्वारा सदा प्रकाश पाता है। कुछ दिन इस ज्ञान का अनुशीलन करने से वह स्वाभाविक होता है, तब फिर चेष्टा करके प्रति कार्य में मातृ-कर्तृत्व देखने के लिये प्रयास नहीं करना होता। इस तरह सर्वत्र मातृ-कर्तृत्व दर्शन में सिद्ध साधकों के सब कर्म्म धर्म्ममय होते हैं। पक्षान्तर में मातृ योग रहित-मातृ कर्तृत्व दर्शन शून्य, व्रत नियम उपवास आदि कर्म्म बाहिर से धर्म्य कर्म्म के आकार में दिखाई देने पर भी, वे वास्तव में धर्म्य कर्म्म नहीं। फिर आहार विहार आदि दैनिक व्यावहारिक कर्म्म भी यदि मातृयुक्त भाव से अनुष्ठित हों, तो ये धर्म्य कर्म्म में परिणत होता है। जो प्रतिदिन सब कर्म्म ऐसा धर्म्ममय अनुष्ठान करते हैं, वे ही यथार्थ सुकृति हैं। उनकी कृतिमात्र ही सु अर्थात् शुभ फलदायक होता है।

पक्षान्तर में स्वर्गादि फल की आकांक्षा से जो काम्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे परलोक में स्वर्ग अर्थात् सुखमय क्षेत्र में जाते हैं और जो निष्काम भाव से—केवल मात्र प्रीति के उद्देश से कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे मुक्ति पाते हैं। ये सब ही "भवतीप्रसादात्", मा ! तुम्हारा प्रसाद में सम्पन्न होता हैं। तुम ही जीव को इस लोक में 'सुकृति' करती हो, तुम ही जीव को परलोक में स्वर्गभोग का अधिकारी करती हो फिर तुम ही इह परलोक से अतीत मोक्ष फल प्रदान कर जीव को धन्य कर देते हो अतएव हे देवि ! तुम "लोकत्रयेऽपिफलदा" ! तीन लोक में त्रिविध भाव से कर्म्म फल तुम ही विधान करती हो।

"फलदा" शब्द का और एक गूढ़ अर्थ है ! खण्डनार्थक "दो" धातु के प्रयोग से भी फलदा शब्द बन सकता है। उससे उसका अर्थ होता है "फलनाशिनी"। अर्थात् यावतीय कर्म्म फलों को जो खण्डन कर सके, वही फलदा है।

मा ! एक तरफ जैसे सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, स्वर्ग, नरक, रूप फल देने से तुम "फलदा" हो दूसरी ओर फिर जीव के सब कर्म फलों को ज्ञानाग्नि के प्रभाव से समूल भस्मीभूत कर देती हो बोल कर तुम ही 'फलदा' हो। मा ! इस तरह तुम फलदायिनी होकर भी फलनाशिनी हो। इस फलनाशिनी मूर्ति से तुम्हारा प्रकाश होता है इसीसे हमें आशा है कि एक दिन तुम्हारे अमृतमय वक्ष पर स्थान पावेंगे ! सब कर्म्म फल से पार चले आयेंगे।

जब तक जीव अहं बुद्धि से साधारण भाव से कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, तब तक ही तुम फलदायिनी मूर्ति से आविर्भूत होकर जीव को सुख दुःखादि फल देती रहती हो। फिर जब जीव अहं बोध को तुम्हारे रातुल चरणों में अर्पण करके विश्वमय विराट कर्तृत्वमयी महाशक्ति रूपिणी ! तुम्हारे कर्मयन्त्र रूप से कर्मानुष्ठान किये जायें तब तुम "फलनाशिनी" मूर्ति से प्रकटित होकर सब कर्म्म फल अब खण्डित कर जीव को मोक्षफल का अधिकारी करती हो।

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेष जन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।
दारिद्रय दुःख भय हारिणि ! का त्वदन्या
सर्वोपकार करणाय सदार्द्र चित्ता ॥१६॥

अनुवाद। मा ! दुर्गम में पड़ने पर तुम्हारा स्मरण करने से तुम सब प्राणियों का भय हरण कर लेती हो; और स्वस्थ अवस्था में स्मरण करने से अत्यन्त शुभ मति प्रदान करती हो। हे दारिद्रय दुःखभय हारिणि ! सब जीवों का ऐसा उपकार करने वाली सदा दयार्द्र चित्त केवल तुम्हारे सिवाय और कौन है ?

व्याख्या। मा ! तुम्हारी प्रिय सन्तान जीव दुर्गम दुःख चक्र में पड़ कर जब उससे परित्राण पाने का कोई उपाय नहीं देखता, सब तरह का पुरुषकार प्रयोग जब व्यर्थ हो जाता है, विपद के काली घटायें जब चारों ओर घेर लेती हैं, जीव की दृष्टि-शक्ति रोक लेती है, भय से, सन्त्रास से जीव जब सम्पूर्ण अवसन्न हो जाता है, तब उस अवस्था में—उस बड़े दुःख के दिन में, और एक बार किसी अज्ञेय महती शक्ति की ओर कातर दृष्टि से देखता है। उस बड़े दुःसमय में तब फिर ऐसा कोई नहीं जो एक बिन्दु सहायता करने को तैयार वा समर्थ हो। उस दुर्दिन में जीव तुम्हारी शरण लेने को वाध्य होता है—तुम्हारा स्मरण करता है। इसी से मन्त्र में कहा है –"दुर्गेस्मृता"।

जगत् की दृष्टि में वह दुःखमय हो, किन्तु जीव के पक्ष में वही यथार्थ सुसमय है ! बड़े पुण्य फल से जीव तुम्हारा स्मरण करने का शुभ अवसर पाता है। तुम्हारा स्मरण करने से—यथार्थ स्मरण कर सकने से, शीघ्र ही विपद दूर होती है। अजी ! पुत्र जब मा ! कह कर कातर होकर पुकारता है, तब तुम क्या निश्चिन्त रह सकती हो ? पुत्र का कातर आह्वान सुनते ही मा ! तुम उन्मादिनी की तरह सत्य लोक से दौड़ कर आने को वाध्य होती

हो ! ओ मा ! तुम्हारी वह मूर्ति स्मरण करके भी विह्वल होने होता है। वह आलुलायित कुन्तला, (मुक्त केशी), वह स्खलित वसना, वह उच्छृङ्खल गमना, वह हमारी पागलिनी मा तुरन्त छाती से लगा कर स्नेहादर करती है—मा, मा, मा।

अस्तु; जीव विपद में पड़ कर ही तुम्हें पुकारने का अभ्यास करता है। उस अभ्यास के फल से स्वस्थ अवस्था में भी तुम्हें याद कर सकता है। क्रम से तुम्हारे अस्तित्व में विश्वासवान होता है कि "सब अवस्थाओं में हमारी मङ्गल करने वाली स्नेहमयी मा निरन्तर हमारी ओर टकटकी लगाये देखती हैं" ऐसे विश्वास से हृदय जब परिपूर्ण हो जाता है, और मातृ-अस्तित्व में बिन्दुमात्र संशय प्राण में नहीं जागता तब ही जीव स्वस्थ होता है। तब फिर विपद् बोलकर कुछ नहीं रहता। दुःख सङ्कट बोलकर भी कोई वस्तु है, यह विचार भी मन में नहीं उठ सकता। जब तक जीव मातृ अस्तित्व में विश्वासवान नहीं हो सकता, तब तक किसी तरह स्वस्थ हो नहीं सकता। स्वस्थ हुए बिना अस्वस्ति भोग करनी ही होगी। अरे, स्व का पता पाये बिना क्या स्वस्थ हुआ जाता है ? स्व तो मा है।

मा। जीव विपद् में पड़ कर तुम्हें पुकारना सीखता है; क्रम से पुकारने का अभ्यास हो जाता है। विपद दूर हो जाती है, तुम्हारी सत्ता में विश्वासवान होता है—स्वस्थ होता है। उस अवस्था में भी किन्तु पुकारना रह जाता है। विपद नहीं है अन्य कोई कामना वासना नहीं है; तो भी प्राण की ताड़ना से तुमको स्मरण करता है, तब तुम क्या करती हो ?

"स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।" स्वस्थ अवस्था में तुम्हारा स्मरण करने से, तुम अत्यन्त शुभा मति देती हो। बुद्धि सत्त्व की निर्मलता ही शुभामति है। हम प्रायः जिस बुद्धि को लेकर जगत् में विचरते हैं, व्यावहारिक जीवन यापन करते हैं; वह रजस्तमोगुण द्वारा मलिन की हुई बुद्धि है, अतएव अविशुद्धा वा

अशुभामती है। किन्तु मा, कामनाहीन सन्तान जब तुम्हें बारम्बार पुकारती है, बारम्बार स्मरण करती है, तब तुम्हारी ही कृपा से उसकी बुद्धि की वह मलिनता दूर हो जाती है बुद्धि सत्त्व निर्मल होता है! इस तरह अतिव शुभामति पाने से उसमें चिदानन्द मयी मा तुम्हारा प्रतिबिम्ब उदय होने लगता है। तब जीव तुम्हारे स्वरूप का आभास पाकर धन्य होता है। जन्म, मरण मोह, सदा के लिये दूर हो जाता है। ऐसा सब अवस्था में सन्तान पर सदा दयार्द्र चित्त तुम्हारे सिवाय और कौन है मा! तुम ही तो हमारी दारिद्रय दुःख भय हारिणी मा हो! इस तरह प्रति जीव में आत्म स्वरूप प्रगट करके अपार दया का परिचय देकर जीव का दारिद्रय सदा के लिये दूर कर देती हो।

"दारिद्रय दुःख भय हारिणि" वाक्य को और भी परिष्कार भाव से समझने की चेष्टा करो। अभाव बोध का नाम है दारिद्रय अभाव बोध रहने से दुःख अवश्य ही होता है। दुःख से ही भय आता है। अतएव दारिद्रय दुःख और भय ये तीनों परस्पर सहचर रहते हैं। यह दारिद्रय वस्तु चित्त का धर्म है। चित्त में सदा एक-न-एक अभाव धरे ही हुये हैं। यह अभाव बोध वा दरिद्रता दूर करने के लिये ही जगत् में यह कोलाहल-दौड़धूप है। कितना ही सञ्चय अथवा भोग क्यों न किया जाय, चित्तक्षेत्र में नित नया अभाव बोध जागेगा ही। यह दारिद्रय दूर हुए बिना, दुःख और भय कभी दूर हो नहीं सकता। वर्तमान में देशव्यापी जो भयानक दारिद्रता मूर्ति रूप देख पड़ती है, इसका हेतु यह अभाव बोध है। अभाव बोध जितना बढ़ा है सामग्री सञ्चय अथवा भोग का उतना अभाव नहीं हुआ है। कौन वस्तु पाने से यह दारिद्रय दूर हो सकता है, सो बता देगी बुद्धि, वह बुद्धि जब तक अशुभ रहते हैं मलिन रहती है, तब तक सब तरह के अभाव को नाश करने वाली वस्तु का स्वरूप जाना नहीं 'जा सकता' अतएव अभाव बोध किसी तरह दूर नहीं होता। इसीसे शुभामति की आवश्यकता है।

जिसके मिल जाने से फिर कोई लाभ अधिक नहीं जान पड़ता, जिसमें स्थिति हो सकने से दुःसह दुःख पड़ने पर भी विचलित न होना पड़े वह जो परमानन्दमय नित्य वस्तु है, जिसके पाने से दरिद्रता दुःख और भय सदा के लिये दूर हो जाते हैं, उसका पता कौन देता है ? शुभामति निर्मल बुद्धिसत्व, उपनिषद् की भासा में इसे प्रज्ञा कहते हैं। प्रज्ञा प्रकाशित होने से ही जीव परमात्मा स्वरूप का उपलब्धि कर सकता है तब सब अभाव दुःख और भय दूर हो जाते हैं। आओ साधक ! आओ, हम भी देवताओं के सुर में सुर मिला कर भक्ति विनम्र चित्त से बोलने की चेष्ठा करें-"दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेष जन्तोः स्वस्थैस्मृता मतिमतीव शुभां ददासि। दारिद्र दुःख भय हारिणि का त्वदन्या, सर्वोपकार करणाय सदार्द्र चित्ता"। मा। सब जीवों का सब तरह का उपकार करने के लिये सदा दयार्द्र चित्ता स्नेह विगलित हृदया तुम्हारे सिवाय और कौन है ? तुम हमारी सब भावों से ही दयामयी मा हो ? दया से, स्नेह से, मातृत्व से तुम्हारे हृदय सदा ही विगलित है। किन्तु मा हम कब तक तुम्हारा यह अतुलनीय मातृत्व अनुभव करके यथार्थ पुत्रत्व लाभ कर धन्य होंगे ?

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्।
संग्राममृत्यु मधिगम्य दिवं प्रयान्तु
मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि ॥१७॥

अनुवाद। हे देवि। ये असुर निहत होने से ही जगत यथार्थ सुख लाभ कर सकता है, असुरों भी फिर चिरकाल नरकजनक पापानुष्ठान नहीं कर सकेंगे; पक्षान्तर में सम्मुख संग्राम में निहत होकर स्वर्ग लाभ करेंगे, ये सब बातें विचार कर ही तुमने असुरों को निहत किया है।

व्याख्या। मा! यदि तुम सबका उपकार करती हो, सब के लिए यदि तुम्हारे चित्त में दया है, शत्रु-मित्र, पापी पुण्यवान्, ज्ञानी-अज्ञान ये विचार यदि तुम में नहीं है; तो इस असुर कुल को क्यों निहत किया? इस विषय में तुम्हारे कहने की तीन बातें हैं। प्रथम तो इनके निहत होने से जगत् शान्ति लाभ करेगा। दूसरे— असुरों भी अब दीर्घकाल पापाचरण करके नरक का परिमाण न बढ़ा सकेंगे। तीसरे— सन्मुख संग्राम में निहत होने से ये स्वर्ग को जायेंगे। ये तीन उद्देश्य लेकर ही तुमने असुरों का विनाश करतीं हो।

यदि यथार्थ मरण बोलकर कुछ होता, यदि यथार्थ अनुपकार बोलकर कुछ रहता, यदि यथार्थ निष्ठुरता कुछ रहती, तो तुममें उपकार, अनुपकार दया और निष्ठुरता रूप दो धर्म दीख पड़ते। जब तुम्हारी प्रत्येक इच्छा हीं मङ्गलप्रसु है, प्रत्येक कार्य ही मङ्गलमय हैं, तब अमङ्गल वा निष्ठुरता बोलकर कुछ रह ही नहीं सकती। यह बात जब तक हम अच्छी तरह हृदयङ्गम न कर सकें, तब तक हीं जगत् की नेत्रों से तुम में भी उपकार अनुपकार, दया और निष्ठुरतारूप दो वस्तुएँ दीख पड़ती हैं। स्थूल दर्शि-भेदज्ञान-सम्पन्न नेत्रों से ऐसा द्वैत-दर्शन होगा ही; किन्तु मा। तुम दया करके जिनका भेद-ज्ञान दूर कर देती हो, जो समझ सकते हैं कि तुम्हारे सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है; जो समझ सके हैं —ध्वंस और सृष्टि, दोनों ही तुम्हारी तुल्य आनन्दलीला हैं, वे कैसे कहेंगे कि तुम किसी पर दया और किसी पर निष्ठुरता प्रकाश करती हो।

किन्तु यदि भेद दर्शन लेकर भी तुमको देखा जाय तो भी देखते हैं—जीव तुम्हारी सन्तान है, तुम जीवों की जननीं हो। जननी कभी सन्तान पर निष्ठुर हो नहीं सकती। तब जिसको हम निष्ठुरता बोलकर मानते हैं—रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, मृत्यु आदि जिनको हम यथार्थ अनुपकार वा निष्ठुरता समझते हैं, वे भी वास्तव में मातृ-स्नेह के सिवाय और कुछ नहीं हैं—यह समझ लेने के लिये—

उनके भीतर भी तुम्हारे पूर्व कहे हुए तीन उद्देश्य विशेष भाव से लक्ष्य करने होता है।

पहला उद्देश्य—'जगद्दैपैतिसुखम्'—असुरगण निहत होने से जगत् शान्ति लाभ करेगा। स्थूल भाव से असुर कुछ निहत होने से जगत् के सब अत्याचार शान्त होते हैं, इसे सब ही समझ सकते हैं। सूक्ष्म भाव से भी देखा जाता है कि वासनाओं को बढ़ने का अवसर न देकर प्रलयाभिमुखी कर सकने से जीव यथार्थ शान्ति का पता पाता है; क्योंकि कामनाओं की चरितार्थता में जो सुख मिलता है, कामनाओं की उद्वेलनशून्यता में उससे सैकड़ों गुना अधिक सुख देता है। विशुद्ध चित्त से विषय भोग करने में जो सुख है, प्रशान्त चित्त से विषयभोग की अभिलाषा न होने में उससे बहुत अधिक सुख होता है। चित्त-विक्षोभ का नाम ही दुःख है और चित्त की प्रशान्तता ही सुख है। अब देखो—यदि जगत् को वा तुमको यथार्थ सुखी करना है, तो अवश्य ही असुर-कुल वा वासनाओं को ध्वंस करना होगा।

दूसरा उद्देश्य—"नरकाय चिराय पापं न कुर्व्वन्तु"। असुरवृन्द वा वासनामय चित्त में सदा वासना की चरितार्थता सम्पादन करते करते सदा नरक भोग न करे। नर जहाँ अति सङ्कीर्ण, उसी को नरक कहते हैं। छोटे-छोटे विषय, छोटी-छोटी कामनायें लेकर मनुष्य उनमें ऐसे मुग्ध रहते हैं कि यथार्थ सुख का पता भी नहीं पाते; अतएव उनको सम्मुख-संग्राम में निहत करना अत्यन्त आवश्यक है और यही असुरनिधन का तीसरा उद्देश्य है। जो यथार्थ सुख है उसे सामने रख कर छोटी-छोटी अनेक वासनाओं को समष्टीभूत करके उसकी ओर परिधावित कर सकने से ही नरकीय वृत्तियां विलय हो जाती है। सन्मुख संग्राम में असुर विनाश का यही रहस्य है। भूमा सुख का आभास सामने देख पाने से ही जीव दुःख मिश्रित क्षण-स्थायी सुख की कामना अनायास छोड़

सकते हैं। मा हमारी आनन्दमयी परम सुखमयी मूर्ति से अब सामने खड़ी हों, तब ही सब असुरभाव विलय हो जायँ; इसी से देवता कहते हैं—"अहितान् विनिहंसि"। जो अहित हैं—हमारे लिये हितकर नहीं है, ऐसे भावों को ध्वंस करके हमारे परम मंगल का मार्ग खोल देने के लिये ही मा की यह समर विड़म्बना है।

दृष्ट्वैव किन्न भवती प्रकरोति भस्म
सर्वासुरानरिषुयत् प्रहिणोषि शस्त्रम्।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्रपूता
इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽतिसाध्वी ॥१८॥

अनुवाद—मा! तुम दृष्टिपातन्मात्र से ही तो असुरों को भस्म कर सकती थीं, तो भी ऐसा न करके सब शत्रुओं पर जो अस्त्र निक्षेप किये हो, इसका हेतु-शत्रुगण भी तुम्हारे अस्त्राघात से पवित्र होकर उत्कृष्ट लोकों में गमन करेंगे। अहो! शत्रुओं पर भी तुम्हारी ऐसी साध्वीमति है।

व्याख्या—तुम सृष्टि-स्थिति प्रलयकरी महाशक्ति हो। तुम्हारी इच्छा मात्र से ही तो आसुरिक भाव क्षणभर में विलय हो सकते हैं, ऐसा न करके अरिगण पर अस्त्र-शस्त्र निक्षेप रूप यह संग्राम विड़म्बना क्यों मा? अजी, इसमें भी तुम्हारी साध्वी मति—मङ्गलमयी इच्छा-निहित है। तुम्हारे अपने हाथ से चलाये हुए अस्त्र से विधकर वे पवित्र होंगे, निष्पाप होंगे, उत्कृष्ट लोकों में गमन करेंगे—तुम्हारे वरवपु से मिल जावें, ऐसी अति उदार और साध्वी मति लेकर ही तुम्हारी यह संग्राम-लीला है। शत्रु पर भी तुम्हारी ऐसी महती दया! यह विचार करने में भी विस्मित होना पड़ता है। जिसको हम निष्ठुरता समझते हैं, वह वास्तव में निष्ठुरता नहीं करुणा का छद्मवेश मात्र है!

मा ! तुम जब जीव की आसुरी वृत्तियों को शस्त्र से पवित्र करती हो, जब छोटी-छोटी वासनाओं को थोड़ा-थोड़ा कर अपनी ओर आकर्षण करती हो, जब चित्त की वृत्तियाँ जड़त्व मोह काट कर कुछ-कुछ बोधमय सत्ता का सन्धान पाती हैं, तब ही तो वे स्वर्गीय सुख भोगते हैं। यही देवता भक्ति विनम्र कण्ठ से कहते हैं— "लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्र पूताः"। मा, हमारी बहिर्मुख वृत्तियों को इस तरह बिन्दु-विन्दु आनन्दरस का भोग करा कर, क्रम से अपने में सम्यक् मिलाओ और तुम तब "एकमेवा-द्वितीयम्" स्वरूप में विराजती रहो। मा ! धन्य तुम्हारी कार्य्य-प्रणाली की अपूर्व सृङ्खला है।

खड्ग प्रभानिकरविस्फुरणैस्तथोग्रैः,
शूलाग्रकान्ति निवहेन दृशोऽसुराणाम्।
यन्नागता विलयमंशुमदिन्दु खण्ड—
योग्याननं तवविलोकयतां तदेतत् ॥१६॥

अनुवाद। मा ! तुम्हारी खड्ग प्रभा समूह की विस्फुरण और शूलाग्र भागों की दीप्ति जो असुरों की दर्शन शक्ति विलय न कर सकी उसका हेतु असुरों ने तुम्हारा यह ज्योतिर्मय इन्दु-कला-विभूषित अतुलनीय मुख दर्शन किया था।

व्याख्या। मा ! स्थूल दृष्टि से देखते हैं—इस महिषासुर युद्ध में तुम्हारी खड्गप्रभाओं की विस्फुरण और शूलाग्रों की कान्ती, असुरों की दृष्टि शक्ति को विलय नहीं कर सकी, फिर सूक्ष्म भाव से भी देखा जाता है—तुम्हारे विज्ञान-खड्ग की प्रभा और ज्ञानमय शूल की कान्ति भी आसुरी दृष्टि का सम्यक विलय नहीं कर सकती। क्यों ऐसा होता है ? जिस विशुद्ध बोध रूप शाणित अस्त्र के प्रभाव से सब द्वैत रूप दैत्य कुल समूल से विनष्ट हो जाता है, उसका आभास पाने पर भी आसुरिक दृष्टि का विलय क्यों नहीं होता ? यह प्रश्न का उत्तर निरूपन करने में देवतागण बोले—

"अंशुमदिन्दु खण्ड योगाननं तव बिलोकयतां"। मा ! तुम्हारा समुज्वल मुख चन्द्र देख लेने के कारण असुर दृष्टि विलय प्राप्ति नहीं हुई। मा की हास्यमयी स्नेहमयी आनन-सुषमा निरीक्षण कर सकने से फिर दृष्टि बिलय की आशङ्का रहती है क्यों ? आसुरिक सत्ता भी तो चिदानन्दमयी मातृ सत्ता ही हैं, उससे भिन्न और कुछ नहीं है, यह रहस्य सम्यक अनुभव कर सकने से ही पूर्वोक्त संशय दूर हो जाता है। जो सर्वतो भाव से सब तरह के आसुरी भावों का बिलय करके विशुद्ध बोध स्वरूपा तुम्हारी सत्ता को पकड़ना चाहते हैं, वे शायद इस रहस्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखने की चेष्टा करेंगे ! वे करते रहें। किन्तु कुछ धीर भाव से देखने पर वे भी खुले शब्दों में घोषणा करेंगे कि मा का मुख देख लेने के बाद भी असुर दृष्टि रह सकती है और रहती है ! क्रम से—समय आने पर वह बिलकुल विलय हो जाता है, मा ! अपनी प्रियतम मानव सन्तान को तुम समझा दो की आसुरीक दृष्टि रहने पर भी तुम्हारे स्नेह करुणमय मुख सौन्दर्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। अति दुराचारी मनुष्य भी तुम्हारा अनन्य चित्त से भजन कर सकते हैं। तुम्हें देखे बिना क्या तुम्हारा अनन्य चित्त से भजन हो सकता है ? परन्तु वह दूसरी बात है।

मा ! चन्द्र के दृष्टान्त से भी हम इस सत्य पर पहुँच सकते हैं। साधारण दृष्टि से देखा जाता है—'अंशुमदिन्दु" अर्थात चन्द्र की ही किरण. किन्तु तत्त्व दृष्टि से भली भाँति देख पड़ता है कि किरण तो चन्द्र की नहीं है, वह सूर्य की है। चन्द्र में प्रतिविम्बित सूर्य्य किरण ही चन्द्र किरण रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। ठीक इसी तरह जिनको हम आसुरिक दृष्टि वा आसुरी भाव मानते हैं, वे भी तो मा तुम्हारी ही सत्ता से सत्तावान हैं; तुम्हारे ही प्रकाश से प्रकाशित हैं, इसके सिवाय उनकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है, यह रहस्य जो यथार्थ अनुभव कर सकते हैं, उनकी आसुरी दृष्टि बिलय होना और न होना दोनों ही तुल्य होता है। केवल प्राण रूपिणी

तुम ही तो सुर असुर दोनों आकार से प्रकाशित हो हम तुम्हें न देखकर उस आकार पर मुग्ध होते हैं। तवही तो प्रवञ्चीत होते हैं कल्याणमयी मा, तुम हमारा यह मोह दूर करो, कल्याण दृष्टि खोल दो। प्राण में प्रतिष्ठित करो।

दुर्वृत्त वृत्तशमनं तव देवि शीलम्
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः।
वीर्य्यंश्च हन्तृ हृतदेव पराक्रमाणां
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम् ॥ २० ॥

अनुवाद—हे देवि! दुर्वृत्तों के वृत प्रशमनकारी तुम्हारी स्वभाव, अचिन्तनीय तुम्हारा रूप, देव पराक्रम विनाशी—असुर निधनकारी तुम्हारा वीर्य्य और वैरियों पर भी तुम्हारी ऐसी दया इनकी तुलना केवल तुम ही में है और कहीं नहीं।

व्याख्या—मा! चित्त की वृतियाँ जब तक असत् वस्तु में वर्तमान अर्थात् आसक्त रहती हैं, तब तक ही वे दुर्वृत्त हैं। केवल सत् स्वरूपा तुमको परित्याग कर जब तक चित्त क्षेत्र में वैषयिक स्पन्दन प्रकाशित होते रहें, तब तक ही वृत्तियाँ दुर्वृत्त हैं। किन्तु इन दुंवृत्तियों को सम्यक प्रशमित करना ही तुम्हारा स्वभाव है। मा! "विनाशाय च दुस्कृताम"—दुष्कृतों को विनाश करना ही तुम्हारा कार्य्य है। किस तरह यह निष्पन्न होता है। तुम्हारा रूप देखने से दुर्वृत प्रशमित होते हैं। रूपं तथैतदविचिन्त्यम्" तुम्हारा रूप अचिन्तनीय है। चिन्ता-चित्त धर्म्म है तुम्हारा रूप जब प्रकाशित होता है तब चित्त कहने को कुछ नहीं रहता, रह ही नहीं सकता? अतएव चिन्ता भी नहीं रहती; इस से मा, दुर्वृत्तियों का वृत्त शमन अनायास सम्पन्न हो जाता है। यही तुम्हारा स्वभाव है।

साधक। तुमने वह अरूप का रूप कभी देखा है क्या? परिच्छिन्न सीमा वाला कोई भी रूप देखने से शायद मोहित न हो सको, किन्तु उस रूपहीन रूपसागर में अवगाहन करने से

अवश्य ही मुग्ध होंगे। एक तुच्छ पार्थिव रूप पर मुग्ध होकर मनुष्य कुल, शील, मान सबको जलाञ्जलि दे सकता है, तब उस अपरिच्छिन्न मधुमय, प्राणमय, प्रेममय रूप के सामने खड़े होने पर जीव क्या आत्महारा हुए बिना रह सकता है? अजी! आओ सब मिलकर मा के उस अचिन्तनीय रूप सागर में कूद पड़ें। जिससे सदा की प्यास बुझ जाय। सब दुर्वृत्त प्रशमित होगा। परन्तु वह दूसरी बात है।

मा! तुम्हारा रूप देखने पर चित्त वृत्तियां अपने आप प्रशान्त हो जाती हैं, इस पर जो विश्वास न करके, तुम्हें छोड़ कर केवल कौशल की सहायता से चित्त निरोध करना चाहते हैं उन्हें अपना यह रहस्य अच्छी तरह समझा दो। मा बोलकर सत्य बोलकर प्राण बोलकर आत्मा बोलकर आह्वान करने से ही तुम्हारी अचिन्त्य रूपराशि प्रकाशित होती है। वह रूप ऐसा ही मधुमय, असीम, भाषाहीन वह रूप है—उसका प्रकाश होने से, चित्त अपने आप मुग्ध हो जाता है, दुर्वृत्त-असत्प्रियता बिलकुल दूर हो जाती है। निर्विकल्पा, निरञ्जना, भावातीता मा हमारी! तुम्हारे प्रकाश से सर्व भाव, सब तरह का वैषयिक प्रकाश विलुप्त हो जाता है।

केवल रूप ही नहीं बल्कि तुम्हारा वीर्य्य भी दुर्वृत्तों का वृत्ति प्रशमन करने में समर्थ है। जो आसुरी वृत्तियां देव भावों को निर्वीर्य्य कर देती हैं, उनकी उस शक्ति को केवल तुम ही विलय करने में समर्थ हो। तुम्हारा जो वीर्य्य, जो महती शक्ति जगत की सृष्टि स्थिति प्रलय कार्य अनायास सम्पन्न कर रही है उस अमित वीर्य के प्रति लक्ष्य स्थापन करने से भी चित्तवृत्ति बिना प्रयत्न के निरूद्ध हो जाती हैं।

ओ मा, जो तुम्हारे रूपहीन रूप को धारणा करने में असमर्थ अर्थात् जो "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह स्वरूप लक्षण धरके तुम्हारे सन्मुख खड़े नहीं हो सकते उनके लिये तुम्हारा यह अमित वीर्य्य— इस महती शक्ति धारणा का उपदेश विहित हुआ है। वे "जन्माद्यस्य

यतः" इस तटस्थ लक्षणा के सहारे (जिनमें जगत की उत्पति स्थिति और लय होता है) उनकी—उस लीलामयी महती शक्ति के सामने खड़े हों। इसके द्वारा भी चित्तवृत्ति अनायास निरुद्ध हो जाती है। और जो इसमें भी असमर्थ हैं, उनके लिये वैरिष्वपि प्रकटितैव दयात्वयेत्थम्" तुम्हारी अतुलनीय दया की बात स्मरण करा दी है। जो वैरिदल पर भी दया करने में बिलकुल कृपणता नहीं करतीं, वे वही तुम हमारी मा हो, हम तुम्हारे पुत्र हैं; अतएव हम कभी तुम्हारी दया पाने से वञ्चित न रहेंगे। मा, जगतमय जो असीम दया फैल रही है, इस सदा प्रत्यक्ष अत्यन्त प्रकटित तुम्हारी दया के सामने सरल प्राण से, सत्य ज्ञान से, एक बार मा कह कर खड़े होने पर भी चित्त वृत्ति निरुद्ध हो जाती है—असुर कुल विलय हो जाता है।

मा, इस तरह तुम्हारा रूप, तुम्हारी शक्ति और तुम्हारी दया इन तीन में से किसी एक का आश्रय लेने से ही; चञ्चल चित्त निरुद्ध होता है, दुर्वृत्तवृत्त अनायास प्रशमित हो जाता है। इसी से देवता कहते हैं—मा। दुर्वृतियों का वृत्त प्रशमन करना ही तुम्हारा स्वभाव है। ये तीनों ही मा, अतुलनीय है, और कोई साधन और कोई उपाय उसके साथ तुलना के योग्य नहीं है। इसी से मन्त्र में कहा है—"अतुल्यमन्यैः"।

ओ मा! किन्तु हम तुम्हारे कनिष्ठ पुत्र हैं; हमारे लिये तो तुम्हारा तीसरा उपदेश ही अत्यन्त उपयोगी है। हम तुम्हारी कृपा के भिखारी हैं। विश्वमय तुम्हारी जो दयामयी मूर्ति प्रकटित है, उस मूर्ति पर मुग्ध होने की चेष्टा करेंगे। मा बोलकर तुम्हारे मुख की ओर ताकते हुए बैठे रहेंगे, किसी दिन तुम अवश्य ही आत्म प्रकाश करोगी, किसी दिन अवश्य ही तुम्हारी दया उपलब्धि कर सकेंगे। उस दिन हमारा दुर्वृत प्रशमित होगा। फिर बिना चेष्टा से तुम्हारे वीर्य्य वा तटस्थ लक्षण पर पहुँच जायँगे; सर्वशेष तू अरूप का रूप लेकर, हमारी आत्मा रूप में—सत्य ज्ञान आनन्द स्वरूप

में—महा स्वरूप में प्रकटित होगी, हमारी मा नाम की पुकार सार्थक होगी। आनन्द से जय मा कह कर जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख के पर पार चले आयेंगे। मा। उस दिन में अभी कितनी देर है?

केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य।
रूपंच शत्रुभयकार्य्यतिहारि कुत्र
चित्ते कृपा समर निष्ठुरता च दृष्ट्वा
त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि ॥ २१ ॥

अनुवाद। हे देवि। हे वरदे। तुम्हारे इस पराक्रम की तुलना कहाँ? शत्रु को भयप्रद होने पर भी अति मनोहर ऐसा रूप ही कहाँ? चित में कृपा होने पर भी समरनिष्ठुरता, यह त्रिभुवन में केवल तुम में ही देखी पाई जाती है।

व्याख्या। मा। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थिति प्रलयङ्करी महाशक्ति तुम हो, अतएव तुम्हारे पराक्रम की तुलना नहीं, इसमें कहना ही क्या है? पक्षान्तर में जगत में जो पराक्रान्त बोलकर परिचित हैं; सो सर्वतो भाव से दुर्बलों के प्रति प्रयोग होता है। दुर्बल के अश्रुबिन्दु भूमितल पर गिराये बिना पराक्रम का सार्थकता ही नहीं होता। किन्तु मा! तुम्हारा पराक्रम ठीक इसके विपरीत है। वैरियों पर भी अपार करुणा वर्षण करना तुम्हारे पराक्रम का काम है। अतएव जगत के पराक्रम के साथ तुम्हारे पराक्रम की तुलना बिल्कुल असम्भव है।

इसके बाद तुम्हारा रूप—वह भी अतुलनीय है। भय जनकत्व और मनोहरत्व, ये परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दो धर्म्म केवल तुम्हारे रूप में ही विद्यमान हैं। जगत में कहीं भी ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों का सम्मिलन सम्भव नहीं है। एक साथ शत्रु को भयदायक और पुत्र को आनन्ददायक रूप केवल तुम में ही सम्भव है।

रजोगुण जनित चित्तविक्षेपरूप शत्रु समूह तुम्हारे उस रूप हीन रूप-सागर में अवगाहन करने में मानो डरता हुआ मिला जाता है, फिर दूसरी ओर उस अचिन्तनीय रूप के प्रकाश से साधक के प्राण में अनिर्वचनीय आनन्द की फुरना होती है। मा! तुम्हारे चित्त में महती कृपा है तो भी बाहर में समर-निष्ठुरता-शत्रु संहार के लिये प्राणपण से शाणित अस्त्र निक्षेप, ऐसे परस्पर विरुद्ध धर्म केवल तुम में ही देखे जाते हैं; जगत में जो रोग, शोक, अत्याचार, उत्पीडन, दुःख, दारिद्रय आदि देखे जाते हैं, कनिष्ठ सन्तान उसमें केवल तुम्हारी निष्ठुरता ही देख पाती हैं; किन्तु जो तुम्हारे स्नेह स्तन्यपान से परिपुष्ट हुए हैं, वे एक साथ तुम्हारे चित्त में कृपा और समर निष्ठुरता देखकर धन्य होते हैं। तुम जो समर निष्ठुरता के कठोर आवरण से अपने को गुप्त रख कर, जीव सन्तानों पर असीम करुणाधारा वर्षाती हो, उसे वे सदा प्रत्यक्ष करते हैं, और सब अवस्थाओं में एकमात्र तुम्हारी कृपारूप निर्मल आनन्द रस पान कर सदा प्रफुल्ल रहते हैं।

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपुनाशनेन
त्रातं त्वया समरमूर्द्धनि तेऽपिहत्वा।
नीतादिवं रिपुगणा भयमप्यपास्त—
मस्माकमुन्मदसुरारिभवंनमस्ते ॥२२॥

अनुवाद। मा तुमने शत्रु संहार करके अखिललोक का परित्राण किया, समर क्षेत्र में निहत करके शत्रुओं को स्वर्ग प्रदान किया, और हमको भी उद्धत असुरों की भीति विदूरित की। मा तुमको प्रणाम।

व्याख्या। मा! जगत के प्रति जीव में इस तरह तीन कार्य सम्पन्न करके अपना दयामयी नाम सार्थक किया है। त्रिलोक को शान्ति, असुरों को स्वर्ग प्रदान, और हमारा असुरभीति विमोचन, यही तुम्हारा कार्य है। तुम्हारी दया का यही तो बाहिरी फल

है। हम जो अनेक जन्म से काम क्रोधादि के अत्याचार से— सञ्चित संस्कार रूप असुरों की उत्पीड़न से उत्पीड़ित होते थे, सो तुमने स्वयं असिहस्त से हमारे हृदय रूप रणक्षेत्र में अवतीर्ण होकर उस असुर कुल को निर्मूल कर दिया। हमारे चित्तक्षेत्र में जो असुरभीति का प्रबल संस्कार आबद्ध था, जिस भय से संकुचित होकर हम प्राण भरकर तुम्हें मा कहकर नहीं पुकार सकते थे— समझते थे कि काम क्रोधादि रहते चित्त की मलीनता विद्यमान रहते संसाराश्रम वर्त्तमान रहते तुमको नहीं पुकारा जा सकेगा। आज तुमने सन्तान स्नेह से बाध्य होकर हमारी वह आशङ्का दूर कर दी है। प्राण की सङ्कीर्णता दूर हो गई है। सञ्चित कामनाओं के विक्षोभजनित चित्त में आसुरिक चञ्चलता अब नहीं है जो हमारे मातृ मिलन में अन्तराय थीं, जिनमें हमारी वैरबुद्धि पोषण करते आ रहे थे, आज देखते हैं कि वह भी तुम्हारे स्नेह से सजीव होकर विशुद्ध होकर, तुम्हारे ही पवित्र अङ्ग में मिलते जाते हैं। तुम्हारी अपरिसीम दया के प्रभाव से वे भी आज "दिव नीताः" स्वर्ग को प्राप्त हुए। जिन्होंने भूरादि तीन लोकों में अत्याचार करके एक दिन अशान्ति पैदा की थी, अब देखते हैं कि वे भी तुम्हारे ही अङ्ग के भूषण हो जाने से, हमारी वह त्रिलोक व्यापी अशान्ति दूर हो गई है। (त्रिलोक का अत्याचार पूर्व व्याख्यात हो चुका है)। तुम जगत की रक्षा करने को तैयार हुई हो—चारों ओर क्रम से उसी का आयोजन हो रहा है। अजी! तुम वाक्य और मन के अज्ञात-अपरिच्छिन्न हो; तो भी इस तरह प्रति जीव के हृदय में तुमको इतने क्षुद्र भाव से आत्मप्रकाश करना होती है। ओः! तुम्हारी दया, वाक्य और चिन्ता के अतीत है। हमारा और क्या है मा। केवल प्रणाम को—"नमस्ते नमस्ते नमस्ते।"

शूलेन पाहिनो देवि पाहि खड्गेन चाम्बिके।
घण्टास्वनेन नः पाहि चापज्यानिःस्वनेन च ॥२३॥

प्राच्यां रक्ष प्रतीच्याञ्च चण्डिके रक्ष दक्षिणे
भ्रामणेनात्म शूलस्य उत्तरस्यां तथेश्वरि ॥२४॥

अनुवाद— हे देवि ! शूल, खड्ग, घण्टाध्वनि और धनुष की ज्या ध्वनी द्वारा हमारी रक्षा करो। हे चण्डिके। हे ईश्वरि। अपना आत्मशूल परिभ्रामित करके पुर्व पश्चिम दक्षिन और उत्तर की ओर हमारी रक्षा करो !

व्याख्या—शूल, खड्ग, घण्टाध्वनि और धनुष की ज्याध्वनि आदि का आध्यात्मिक रहस्य पहले विस्तारपूर्वक आलोचित हो चुका है। फिर उसका उल्लेख करके ग्रन्थ का कलेबर वढ़ाना आवश्यक नहीं।

देखो—साधक ! तुम्हारे पुर्व पश्चिम दक्षिन और उतर मे सर्वत्र मातृ-शक्ति मातृ-आह्वान विद्यमान है। विशिष्ट विशिष्ट ज्ञान और नाद शक्ति ही सर्वत्र विषयाकार से विराजमान है। आओ हम भी शक्रादि देवताओं की तरह सरल प्राण से कातर भाव से प्रार्थना करें। मा ! शूल; खड्ग; घण्टाध्वनि ज्याध्वनि आदि अपने सब अस्त्र शस्त्रों से हमारी रक्षा करो। जिधर देखते हैं, उधर ही घनी जड़ता की दुश्छेद्य मूर्ति दिखाई देती है, इस जड़त्व रूप महासुर के हाथ से हमारा परित्राण करो। एक मात्र प्राणस्वरूपा तुम ही हमारे चारों ओर पूर्ण भाव से विराज रही हो; यह बात हम हजार आलोचना से भी भूल जाते हैं, जड़त्व द्वारा बार-बार उत्पीड़ित होते हैं, उसी के फल से कितने लाखों जन्म मृत्यु की असह्य पेषन सह्य करने पड़ते हैं। मा ! हमारी इस विपद से रक्षा करो ! जिधर देखें उधर ही जिससे हमारी प्राण स्वरूपिणी मातृ-मूर्ति प्रकाशित हो। फिर जिससे विषय बोध से विषय भोग कर त्रितापों के विष से विदग्ध न होना पड़े। मा हमारी यह जड़त्व

प्रतीति दूर करने में तुम्हें जितनी तरह की शक्ति प्रयोग करनी पड़े उतनी करो।

सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते।
यानी चात्यर्थघोराणि तैरक्षस्मांस्तथा भुवम ।२५॥
खड्गशूलगदादीनि यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके।
करपल्लवसंगीनि तैरस्मान रक्ष सर्व्वतः ॥२६॥

अनुवाद—मा! त्रिलोक में तुम्हारे ये अति सौम्य और अति भयानक रूप मौजूद हैं, उन सब के द्वारा ही हमारी और इस विश्व की रक्षा करो। हे अम्बिके। खड़्ग, शूल, गदा आदि जो अस्त्र तुम्हारे हाथों में विराज रहे हैं, उन अस्त्रों द्वारा हमारी सर्व्वतो भाव से रक्षा करो।

व्याख्या—मा। इस जगत में द्विविध मूर्ति से तुम्हारा प्रकाश देखा जाता है। एक सौम्या, दूसरा घोरा। जब पार्थिव वा अपार्थिव सब प्रकार की सुख सामग्री लेकर तुम सौम्य मूर्ति से हमें गोद में लेकर बैठो तब हम सुख के मोह से तुम्हारे स्नेह का स्पर्श न भूल जायें। पार्थिव भोग ऐश्वर्य्य और अपार्थिव सिद्धि शक्ति अथवा स्वर्गादि सुख जिससे हमें मुग्ध न कर सकें। मा। सौम्य मूर्ति से इस मुग्धता के हाथ से तुम हमारी रक्षा करना। सब तरह के सुख रूप से मानो तुम ही उपस्थित होते हो यह बात क्षण भर के लिये भी हमारे अन्तर से अन्तर्हित न हो। फिर जब दुःख दुर्दैव की अमानिशा उपस्थित होता है जब रोग शोक दारिद्र्य और मृत्यु-भयों से उत्पीड़ित होने लगे, तब यह समझ सकें कि मा। तुम हो घोरा मूर्ति से आकर हमे गोद में ले बैठ रही हो। उस समय तुम्हारी वह भीतो प्रदायिनी मूर्ति देखकर हम भीत सन्त्रस्त न हों, अवसाद ग्रस्त न हों, जिससे तुम्हारे अस्तित्व में तुम्हारे मातृत्व में बिन्दुमात्र भी संशय न आवे, कितनी ही घोरा मूर्ति से तुम

आविर्भूत क्यों न हो—प्रकृति कितनी ही प्रतिकूल वेश न लेकर उपस्थित क्यों न हो, तुम यथार्थ ही हमारी मा हो. इसमें तिलमात्र भी अविश्वास न आवे। मा ! यह जीवन चक्र सदा परिवर्तनशील है। इसमें सुख दुःख का परिवर्तन सदा ही होता है और होगा। उसी के भीतर तुम्हारी सौम्या और घोरा मूर्ति का प्रकाश है। इन दोनों मूर्तियों से ही हमारी रक्षा करो। केवल हमारी ही नहीं—"तथाभुवम्" ये विश्वव्यापी जहाँ जितने जीव हैं, सब की रक्षा करो मा। सब की ही रक्षा करो। केवल तुम ही सुख दुःख आकार में आती हो, यह प्रति जीव के मर्म मर्म्म में अंकित कर दो। इसी का नाम रक्षा है किसी अवस्था में जीव अपने को मातृहारा निराश्रय अनाथ न समझे। ऐसा करने के लिये तुम्हे जितने प्रकार के अस्त्र प्रयोग के आवश्यक हों वे सब ही करो। हे सर्वायुध धारिणी हमारी मा ! अपने सब आयुध प्रयोग करके भी हमारी रक्षा करो। "रक्ष सर्व्वत" सबसे रक्षा करो ! यह जो सर्व्वभाव, यह जो बहुभाव हैं इनसे रक्षा करो। एकमात्र सच्चिदानन्दमयी तुम हो सर्वभाव से प्रकाशित हो, तुम्हारे सिवाय सर्व वा बहु बोलकर कुछ भी नहीं—इस सत्य पर प्रतिष्ठित करो। हम सर्व अवस्था में सत्य के आश्रित; सत्य में स्थित है, इस महा ज्ञान रूप से तुम प्रति जीव हृदय में दृढ़ प्रतिष्ठित हो, मा। दृढ़ प्रतिष्ठित हो। जगत से दुःख भय सदा के लिये दूर हो जाय।

ऋषिरुवाच ।

एवं स्तुता सुरैर्द्दिव्यैः कुसुमैर्नन्दनोद्भवैः ।
अर्चिता जगतां धात्री तथा गन्धानुलेपनैः ॥२७॥
भक्त्या समस्तैस्त्रिदशैर्द्दिव्यैर्धूपैस्तु धूपिता ।
प्राह प्रसाद सुमुखी समस्तान् प्रणतान् सुरान ॥२८॥

अनुवाद—ऋषि कहते हैं—देवताओं ने इस तरह जगद्धात्री मा की स्तुति करके, नन्दनवन में उत्पन्न दिव्य पुष्पों से, गन्ध और अनुलेपन द्वारा पूजा की। सब देवताओं ने भक्ति सहित दिव्य धूप द्वारा देवी को सौरभाकुलित कर दिया था। अनन्तर प्रसन्नमुखी देवी प्रणत देवताओं से कहने लगी।

व्याख्या—इन्द्रादि देवताओं ने इस तरह स्तुति करके, गन्ध पुष्प धूपादि द्वारा जगत का विधारिणी महाशक्ति की पूजा की। आध्यात्मिक दृष्टि से भी देखा जाता है—इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य-वर्ग ने आनन्दमय सात्विक भाव समूह रूप नन्दन कुसुम, विवेकानल से ज्ञान कर्मेन्द्रिय दाह से उत्पन्न सुरभि धूप, और श्रद्धा, निर्म्ममता, विराग, सुचिता आदि गन्धानुलेपन द्वारा जगत विधारिणी मा की पूजा की। देवी भी ऐसी पूजा से प्रसन्न होकर वर देने को तैयार हुई। यहाँ पूजा के सम्बन्ध में दो एक बात की आलोचना करना अप्रासङ्गिक न होगा।

गीता में कहा है–पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति इस देवीमाहात्मय के भी अनेक स्थानों में पत्र पुष्पादि द्वारा पूजा का उल्लेख है। इनके सिवाय सब स्मृति, संहिता, पुराणादि शास्त्रों में पूजा का विधान बहुधा कहा है। परन्तु अन्यत्र कहा है–"बाह्य पूजाधमाधमा" ऐसा उल्लेख भी है। कोई कोई इस उपदेश के अनुसार, सब कर्म काण्ड त्याग कर केवल ध्यान की सहायता से परमात्म साक्षात्कार करने की चेष्टा करते हैं! इस सम्बन्ध में हमें क्या समझना चाहिये?

हम समझें कि जब तक आहार निद्रा है, जब तक अनुकूल प्रतिकूल बोध है, जब तक लघु गुरू का ज्ञान है, तब तक तो बाह्य पूजा रहेगी ही। केवल फुल और बेलपत्र छोड़ देने से ही बाह्य पूजा परित्याग नहीं होती। परन्तु लक्ष्य रखना चाहिए कि पूजा ऐसी हो जो केवल बाह्य पूजा रूप में ही अनुष्ठित न हो यह

बिलकुल सत्य है कि बाह्य पूजा सचमुच अधम से ही अधम है। श्रुति में भी कहा है—"उपास्य एक जन और उपासक दूसरा जन, ऐसा भेद ज्ञान लेकर जो देव पूजा करते हैं वे देवताओं के पशु हैं"। भगवान ने स्वयं भी कहा है—"अन्य देवता की पूजा करने से वह अवैध हो जाती है"। ("परिचाय पुरा देवं देव पूजा परोभव तावत पूजां न मनुते यावत परिचयो न हि"। वि०चं०) भेद ज्ञान लेकर पूजा का नाम ही बाह्य पूजा है। जब तक "बाह्य" बोलकर एक घन बोध रहे, तब तक यथार्थ पूजा का अधिकार नहीं होता। बाह्य बोलकर कुछ भी नहीं है "सब ही तो अन्तर है" इस ज्ञान पर प्रतिष्ठित होने से, फिर बाह्य पूजा नहीं रहती। यह केवल मुख से कहने से नहीं हो जाती इस जगत को अन्तर बोलकर उपलब्धि करने होता है। केवल वह अन्तर बाहिर भेद ज्ञान दूर कराने ही के लिये सब साधना-आराधना है। स्थूल मूर्ति के अवलम्बन से पूजा करने से सहज में अन्तरबाह्य भेदज्ञान तिरोहित होता है। ज्ञान भक्ति कर्म्म का एक साथ अनुशीलन करने का इससे अच्छा सहज उपाय और कोई है नहीं समझ पड़ता। यदि होता तो ऋषिगण इस देश में ऐसी मूर्ति पूजा का प्रचलन न करते। किन्तु वह दूसरी बात।

जबतक यह अन्तर बाह्य भेद ज्ञान दूर नहीं होता, तब तक देवता से परिचय नहीं होती, अतएव किसकी पूजा करोगे? "देवे परिचयोनास्ति वद पूजा कथं भवेत्॥" फिर 'जाते परिचये देवे पूजामपि न काङ्क्षति' देवता के साथ परिचय होने से फिर पूजा की आकांक्षा भी नहीं करता। अतएव "उभयोरपि पक्षयोः पूजां पश्यामि दुर्घटां" दोनों पक्ष में ही पूजा असम्भव हो जाती है पूजा और पूजक रूप भेद ज्ञान लेकर पूजा करने से ही, वह अज्ञान की अधम पूजा होती है। किन्तु हमारा जो प्राण है हमारा जो मैं है उसकी पूजा करते हैं—ऐसा बोध लेकर पूजा करने से वह पूजा कभी व्यर्थ नहीं होती। यद्यपि इस तरह अभेद में भेद ज्ञान लेकर

पूजा का आरम्भ करने से, क्रम से भेद, ज्ञान शिथिल हो जाता है, पूजा में विघ्न भी होता है, विधिलङ्घन होती है; यद्यपि तब शास्त्रोक्त पूजा का क्रम भी याद नहीं रहता, धूप चढ़ाने के बजाय फूल चढ़ा देते हैं, तथापि वही पूर्ण पूजा का फल है। इसी से शास्त्र में कहा है—"देव एवेति धिया विस्मृते पूजन क्रमे। पूजायां जायते विघ्नः पूर्ण पूजा फलंहितत् ॥"

आजकल भी इस देश के करोड़ों स्त्री पुरुष पूजा करते हैं, वह पूजा निष्फल होती है यह नहीं कहते परन्तु यह देखा जाता है कि अनेक लोगों ने दीर्घकाल पूजा करके भी विशेष कुछ उन्नति लाभ कर लेते ऐसा जान पड़ता। दैनिक कर्त्तव्य करने की तरह पूजा भी किये हैं ऐसा है, और जो केवल धन के लालच से पूजा का अनिभय करते हैं, उनकी तो बात ही दूसरी है। क्यों ऐसा होता है—क्यों पूजा करके ज्ञान भक्ति नहीं लाभ कर सकते? वह परिचय का अभाव है। जिसकी पूजा करनी है, उसको साथ परिचय का अभाव। "वह कौन है? वह तो जानते नहीं, वह वहाँ किस भाव से है? सो भी नहीं जानते, अपना अभ्यास बना रहे, नितान्त इसी के लिये पूजा करते हैं" ऐसा कुछ भाव रहने के कारण ही पूजायें आशानुरूप फल नही देती। "पूजातत्व नामक पुस्तक में पूजा विषयक अनेक जानने योग्य विषय विशद भाव से आलोचित हुए हैं।

इस देश की नित्यक्रिया पूजा हवनादि कर्म काण्ड मानो एक मृत कर्म का अनुष्ठान रूप हो गया है। कदाचित फिर इस देश का कर्म कांड उज्ज्वल ज्ञान और पराभक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित होकर सजीव होने लगे, तो हमारी समझ से देश का यह हा हा कार, अभाव, उत्पीड़न सब दूर हो जाय! एक बार धर्म के निर्म्मल रस का आस्वाद पा लेने से, लोक फिर धर्म्महीन हो नहीं सकते। धर्महीन न होने से सब सुख भी मनुष्यों को सहजलभ्य

होते हैं। यह दायित्व प्रधानतः ब्राह्मणों के ऊपर ही पूर्णतः निर्भर करता है, क्योंकि ब्राह्मणों ही प्रत्यक्ष और परोक्षभाव से कर्म्म कांड को अभी तक स्थिर रक्षा कर रहे हैं। वे ही इस प्राणहीन अस्थि कङ्काल विशिष्ट कर्मकांड को प्राण प्रतिष्ठ करके फिर सजीव और सफलतामय कर सकें तो फिर वे आदर्श भूमि पर खड़े होकर पृथिवी के सब भाइयों को आदर से बुला कर गोद में लेलेंगे, सबही धर्ममय होंगे सब ही कर्म्ममय होंगे। फिर सब कर्म्म ही ज्ञानमय होगा। ज्ञान फिर पराभक्ति की सुस्निग्ध धारा से मधुमय होंगे। यह विश्वराज्य धर्म्मराज्य में परिणत होगा। असत्य दूर होकर सत्य की प्रतिष्ठा होगी। इसी आशा से ही सत्य और प्राण प्रतिष्ठा रूप वराभय हाथ से मा हमारे सामने खड़ी हैं।

वह देखो साधक! देवताओं की पूजा से प्रसन्न होकर मा हमारी वर देने को तैय्यार हुई है—"प्राह प्रसाद सुमुखी समस्तान प्रणतान सुरान"। पूजा कर सकने से प्रणत हो सकने से ही मा हमारी प्रसन्न होती हैं। यह न समझना कि वे केवल देवताओं की पूजा और प्रणति से ही तृप्त होती हैं, हम जैसे भक्तहीन, श्रद्धा-हीन; ज्ञानहीन, दुर्व्वल, अविश्वासी सन्तान की पूजा प्रणति भी वे बड़ आदर से ग्रहण करती हैं। इस अविश्वासी युग में भी वे प्रकट होते हैं, वरा भय देकर सन्तान को आदर करती हैं? आओ जीव! आओ साधक! आओ मन्त्रहीन, क्रियाहीन हम सब मिलकर, मां कहकर मा के चरणतले प्रणत हो जायें, निश्चय निश्चय निश्चय ही मा हम पर भी इसी तरह प्रसन्न होंगी।

देव्युवाच।

व्रियतां त्रिदशाः सर्वे यदस्मत्तोऽभि वांछितम् ॥२९॥

देवा ऊचुः।

भगवत्या कृतं सर्व्वं न किन्चिदवशिष्यते।
यदयं निहतः शत्रुरस्माकं महिषासुरः ॥३०॥

अनुवाद। देवी ने कहा—हे देवगण! तुम मुझसे अभीष्ट वर लो। देवता बोले—भगवती द्वारा सब कार्य पूर्ण हो गया, अब कुछ भी शेष नहीं है, क्यों कि हमारा शत्रु महिषासुर निहत हो गया है।

व्याख्या। ठीक ऐसा ही होता है। मा जब विशिष्ट भाव से आविर्भूत होकर वर देने को तैयार होती है, तब सन्तान कहने लगती है—नहीं मा, कुछ भी नहीं चाहिये। हमें कुछ भी बाकी नहीं है। कुछ अभाव नहीं है। पूर्ण स्वरूपा तुम आविर्भूत हुई हो, अब हमें कुछ नहीं चाहिये, केवल तुम ही रहो केवल चिरदिन इसी तरह हमारे सामने रहो। चहने का कुछ नहीं है। हृदय तो परिपूर्ण हो गया। अन्तर का अन्तस्तल तलाश करने पर भी तो कुछ अभाव नहीं दीख पड़ता। "न किञ्चित अवशिष्यते'! कुछ भी तो अवशिष्ट नहीं है।

साधक मात्र की यह अवस्था होती है। कितनी ही कामना वासना लेकर मा की पूजा में व्रती क्यों न हो, मा को एक बार दर्शन हो जाने पर फिर कुछ भी मन में चाह नहीं रहती, ऐसा जान पड़ता है कि सब पा लिया, अब क्या चाहूँ? बालक योगी ध्रुव की भी यही अवस्था हुई थी। राज्य कामना से साधना आरम्भ की थी किन्तु जब पद्मपलाश लोचन का साक्षात हुआ तब बोले—मैंने काँच ढूंढ़ने में अमृत पा लिया है, प्रभु! मुझे अब चाहने का कुछ भी नहीं है।

साधक। यह न समझिये ऐसी घटना कदाचित कभी किसी भाग्यवान मनुष्य के पक्ष में ही सम्भव है। सो नहीं प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन ऐसा भगवत सान्निध्य लाभ और पूर्णता का उपलब्धि कर सकता है। इसमें असम्भव या अस्वाभाविकता कुछ नहीं है। अरे वह तो सर्वदा सर्वत्र सुप्रकट और सुप्रसन्न है। इच्छामात्र से ही देखा पाया जाता है। तब जो सुनते हो कि दीर्घकाल तपस्या के फल से तब कहीं भगवद दर्शन होता है, उसका तात्पर्य दूसरा है।

"मैं भगवान को यथार्थ ही चाहूँ" केवल ऐसा एक इच्छा का जागरण करने के लिये ही दीर्घकाल, दीर्घकाल ही क्यों—अनेक जीवन साधना करना आवश्यक है। यदि किसी में ऐसी इच्छा का आभास भी आ जाय, तो वह अचिर ही अभीष्ट लाभ करने में समर्थ है। परन्तु वह दूसरी बात है।

इस मन्त्र का और एक गूढ़ अर्थ है। "भागवत्या कृतं-सर्व्वम न किञ्चिदवशिष्यते" यहाँ नञ् पूर्वार्द्ध के साथ अन्वय करनेसे उसका अर्थ दूसरी तरह का हो जाता है। "भगवत्या कृतं सर्व्वं न, किञ्चित् अवशिष्यते'। मा ! तुमने हमारे लिये बहुत किया है किन्तु सब कार्य्य पूरा हुआ नहीं, अभी भी कुछ अवशिष्ट है। महिषासुर वध से जीवत्व का सम्पूर्ण अवसान नहीं होता। शुम्भ वध आवश्यक है। वह अभी नहीं हुआ, इसी से देवताओं ने कहा—"किञ्चिदवशिष्यते"।

यदि चापि वरोदेयस्त्वयास्माकं महेश्वरि।
संस्मृता संस्मृता त्वं नो हिंसेथाः परमापदः ॥३१॥
यश्च मर्त्यः स्तवैरेभिस्त्वां स्तोष्यत्यमलानने।
तस्य वित्तर्द्धिविभवै र्धनदारादि सम्पदाम्॥
वृद्धयेऽस्मत प्रसन्ना त्वं भवेथाः सर्वदाम्बिके ॥३२॥

अनुवाद। हे महेश्वरि ! यदि तुम अवश्य ही हमको वर दोगी, तो ऐसा कीजिये कि जिससे हम निरन्तर तुम्हारा स्मरण कर सकें, और उसी के फल से, हमारी परमापदायें दुरीभूत हो जायें। और जो मनुष्य इस प्रकार स्तव द्वारा तुम्हारी स्तुति करें; हे अमलानने हे अम्बिके तुम उन पर सदा प्रसन्न रहो, एवं ज्ञान ऐश्वर्य्य सम्पत्ति धन पुत्रादि विषयक मङ्गल विधान करना।

व्याख्या। सन्तान जब मा को देख पाती है, तब आनन्द और विस्मय में आत्महारा हो जाती है। चाहने को कुछ खोजने पर भी

अवश्य नहीं मिलता, किन्तु मा तो सन्तान का अभाव अभियोग सब ही जान सकती है, ऐसा कुछ नहीं है जो उनके सर्वदर्शी तीन नेत्रों के अन्तराल रह सकता। इसी से मा ने आप ही वर देने के लिये सन्तान के हृदय में क्षण भर में पूर्व भूला हुआ अभाव याद लगा दिया। ठीक ऐसा ही होता है। प्रथम दर्शन मात्र से ही साधक का सब अभाव बोध विस्मृति हो जाता है; क्योंकि, मा हमारी पूर्णतमा है! उसके बाद जब धीरे-धीरे वह भाव अन्तर्हित होने लगता है— एक तरफ से मा जब अप्रकट होती है, दूसरी ओर से तब चकित की नाईं अभाव की मूर्ति प्रकट होने लगती है, यह अभाव बोध होने का नाम ही वर प्रार्थना है! मा को सामने रख कर अर्थात मा के सामने खड़े होके यदि कोई अभाव बोध जागे तो समझ लो कि शीघ्र ही वह अभाव विदुरित होगा। मा सन्तान स्नेह पर ऐसी ही मुग्धा है कि मुख से कुछ न कहने पर भी, सन्तान के अन्तर में छिपा हुआ अभाव बोध दूर कर देती है। बिना विचारे ही अभीष्ट वर प्रदान से धन्य करती हैं। परन्तु हम ऐसे कृतघ्न, ऐसे सङ्कीर्ण हृदय सन्तान हैं कि जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के भी ध्यान में अगम्या हैं, उन्हें सामने पाकर भी, अति तुच्छ अभाव अभियोग की सूची तैयार कर पेश देते हैं। मा, कब तक हमारे हृदय की यह सङ्कीर्णता सम्यक् विदुरित होगी?

आओ साधक हम भी देवताओं की तरह कहें कि हे महेश्वरि हम सर्वदा तुमको स्मरण कर सकें और तुम भी हमारी परम आपदायें दूर कर दो।

"परमापद" शब्द से हम परम की आपद समझ लें, अर्थात हमारे परम स्वरूप में उद्बुद्ध होने के पक्षमें जो विघ्न है, वही यथार्थ परमापद हैं। "हम सदा परमात्म रूप में अवस्थान करें" इस ब्राह्मी स्थिति के प्रतिकूल जो कुछ विघ्न है—वे ही परमापद हैं। एक बात में समझे कि मा को भूले रहना ही परमापद है। यथार्थ ही

हमारे पक्ष में इससे दुर्दैव और कुछ भी नहीं है। मा तुम इतने निकट इतनी प्रत्यक्ष हो, तो भी हम तुम्हें भूल कर जगत की धूलि लेकर चरितार्थ हुआ मानते हैं। हमारे लिये इससे अधिक विपत्ति और क्या हो सकती है ? इसी से प्रार्थना करते हैं मा! "संस्मृता संस्मृता त्वन्नो हिंसेथाः परमापदः"। जिससे हम बार बार तुम्हारा स्मरण कर सकें फिर उसी के फल से—हमारे परम स्वरूप के विघ्न प्रतिहत हो जावें।

और एक बात है— यदि सचमुच ही मा! "अस्मत् प्रसन्ना" हमारे ऊपर प्रसन्न हुई हों, तो उस प्रसन्नता का फल इस विश्व में फैल जाय। मा! तुम्हारा ऐसा हास्यमय अमलानन, ऐसी स्नेहमयी अम्बिका मूर्ति, जगत के सब मनुष्य ही दर्शन कर धन्य हों! जगत में जो साधारणों के दृष्टि से दुराचार बोलकर परिचित हैं, वे भी इस प्रकार स्तव स्तुति की सहायता से तुम्हारी नित्य प्रसन्नता उपलब्धि करने में समर्थ होवें। और उसके फल से–धन दारादिरूप भोग और ज्ञानैस्वर्य रूप अपवर्ग लाभ से धन्य हो जायें यद्यपि जीव जगत, मर्त्य— मरण धर्म्मशील है, तथापि तुम्हारी ही कृपा से अमरत्व का आस्वाद पावें। मा! तुम ऐसा करके प्रति जीव हृदय में भोग-मोक्ष विधायिनी नित्य प्रसन्ना अम्बिका मूर्ति से आविर्भूत हो। जगत से दुःख का रोदन सदा के लिये दूर हो जाय।

अजी! देखो,—तुम्हारी जीव सन्तानें मोक्ष तो दूर की बात है, भोग करना ही नहीं जानतीं। केवल भोग को आशा और आश्रय करके, प्रतिमुहुर्त में विनाश की चिन्ता और अभाव की पीड़ा से उत्पीड़ित रहती है। पूर्णकुटीरवासी कदन्नसेवी भिक्षुक से लेकर राज प्रासाद निवासी पलान्न पुष्ट धनी तक सब ही अभाव ग्रस्त हैं। कोई भी पूर्ण प्राण से, सरल हृदय से, विषय भोगों की जो परितृप्ति है उसे नहीं पारहे है केवल उपभोग करते जाते हैं— भोग के समीपस्थ मात्र होते हैं। प्राणपात परिश्रम से भोग्य सामग्री

इकट्ठा करने में ही जीवन व्यतीत करते हैं, भोग करना भी नहीं जानते। इसी से कहते हैं मा तुम एक बार भोग मयी मूर्ति से खड़ी होओ सन्तानोंप्राण भरकर एक बार सत्य ज्ञान से मातृ स्नेह रूप विषय भोग करके परितृप्त हों, इस विश्व की दारुण क्षुधा की निवृत्ति हो। तब तुम अनायास ज्ञानैश्वर्य समन्वित अपवर्गप्रदायिनी मूर्ति से आत्मप्रकाश करके जीवों को अमरत्व का आस्वाद भोग कराओगी।

ओ मा! हमारे इस क्षुद्र प्राण में चाहने को कुछ नहीं है! चाहने को कुछ बाकी भी नहीं रक्खा? केवल तुम्हारे चरणों में प्रणत होकर कातर-प्रार्थना करते हैं "मा! विश्व का मङ्गल हो!"

ऋषिरुवाच।

इति प्रसादिता देवैर्जगतोऽर्थे तथात्मनः।
तथेत्युक्त्वाभद्रकाली बभूवान्तर्हिता नृप ॥३३॥
इत्येतत कथितं भूप सम्भूता सा यथापुरा।
देवी देव शरीरेभ्यो जगत्त्रय हितैषिणी ॥३४॥

अनुवाद। ऋषि कहते हैं—हे नृप सुरथ। देवतागण इस तरह अपने और जगत के लिये देवी को प्रसन्न करने पर भद्रकाली देवी "तथास्तु" कहकर अन्तर्हित हो गई। हे भूप पुराकाल में देवताओं के शरीर से त्रिलोक मंगलविधायिनी देवी जिस तरह आविर्भूत हुई थी, वह तुमसे कहा गया।

व्याख्या। जगत के मङ्गल के लिये अनादिकाल से देववृन्द ने इस तरह देवी के प्रीतिसाधन उद्देश्य से अनेक प्रकार की साधना स्तव स्तुति किया करते हैं। जगत का मङ्गल होने से ही देवताओं का आत्म-मङ्गल साधित होता है। आत्मा ही तो जगदाकार से प्रकाशित होकर सदा त्रीतापों का दुःख भोगने का कल्पित अभिनय

किया करती है। यह दु:ख दूर करने के लिये आत्मा को ही प्रीति साधन विधेय है। आत्मा मा हमारी नित्य पूर्ण नित्य तृप्त है। उससे किसी दुःख का संस्पर्श नहीं, यह समझ सकने से ही आत्म प्रीति लाभ होती है। और उसी के फल से विश्व का मंगल साधित होता है। अस्तु, हम देखते हैं कि देवताओं की चेष्टा से मंगलमयी भद्रकाली मा प्रसन्न हुई देवताओं ने विश्व मङ्गल की प्रार्थना की मा "तथास्तु" कहकर अदृश्य हो गई।

जीव ! साधक ! यह कल्पना नहीं, उपाख्यान नहीं यह सम्पूर्ण सत्य घटना है। जिस तरह व्यक्ति में प्रति जीव हृदय में ऐसी संघटन होती है, ठीक उसी तरह समष्टि में भी देवता वृन्द जगत के मङ्गल के लिये-मातृ प्रसन्नता के लिये इस तरह चेष्टा किया करते हैं। यदि किसी के हृदय में अबतक भी ऐसा संघटन नहीं हुआ हो परन्तु ऐसा संघटन देखने के लिये प्राण अत्यन्त लालायित है तो सरल प्राण से अन्वेषण करो। मा के निकट प्रार्थना करो ! उस महा सम्मिलन क्षेत्र का सन्धान पाओगे। उस देवलीला में सहचर होकर जीवन को पवित्र करने की चेष्टा करने में हानि ही क्या है ? परन्तु वह दूसरी बात है :—

विज्ञानमय गुरु मेधस ने यहाँ राजा सुरथ से कहा— हे नृप ! तुमको महामाया की उत्पत्ति कार्य और स्वभाव इत्यादि विवरण सुनने के लिये बड़ा कौतूहल हुआ था एवं मधुकैटभ निधन के प्रसंग में उनकी तामसी महाकाली मूर्ति में आविर्भाव प्रत्यक्ष किया था। और इस बार वह महामाया किस तरह देवताओं के शरीर से आविर्भूत होकर राजसी महालक्ष्मी मूर्ति से त्रिजगत का मङ्गल विधान करती हैं, किस रूप में जीव के सञ्चित कर्म-बन्धन छिन्न कर देती है, वह देख लिया; किन्तु अभि शेष हुआ नहीं :—

पुनश्च गौरी देहा समुद्भूता यथाभवत् ।
वधाय दुष्ट दैत्यानां तथा शुम्भ निशुम्भयोः ।। ३५ ।।

रक्षणाय च लोकानां देवानामुपकारिणी ।
तच्छृणुष्व मयाख्यातं यथावत कथयामि ते ।। ३६ ।।

इति मार्कण्डेय पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवी माहात्म्ये शक्रादिस्तुतिः ।

अनुवाद । फिर वह महामाया शुम्भ निशुम्भ और अन्यान्य दुष्ट दैत्यों का निधन पुर्वक लोक रक्षा और देवताओं के उपकार के लिये जिस तरह गौरी देह से आविर्भुत हुई थी, वह यथार्थ रूप से तुमसे कहता हूँ । तुम उसे अवहित चित्त से सुनो ।

मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत 'सार्वणिक मन्वन्तरीय उपाख्याने ।
देवी माहात्म्य वर्णने शक्रादिस्तुति समाप्त ।

व्याख्या । फिर महामाया को गौरी मूर्ति से आविर्भूत होना होगा । अभी भी जीव का रुद्रग्रन्थि भेद नहीं हुआ अभी भी जीव सम्यक आनन्द में प्रतिष्ठित नहीं हुआ अभी भी दुष्ट असुर शुम्भ निशुम्भ और उनके सहचरगण भी जीवित है अभी देवकुल पूर्णरूप निशङ्क नहीं हो सकी है । अभी भी लोक रक्षा वा धर्मराज्य पूर्ण प्रतिष्ठित हुआ नहीं इसी से मा को फिर आना होगा । फिर गौरी रूप से-महेश्वर की अङ्कस्थित सौम्य शान्तिमयी मूर्ति से प्रकटित होना होगा । आओ वत्स सुरथ आओ जीव ! मां की वह गौरी मुर्ति देखने के लिये तैयार हो । हृदय आसन और भी पवित्र और भी विधौत करो ! मां आरही हैं, ध्यान रखना उन्हें मलिन आसन पर विराजमान मत करना । देखो, उस भावातीत मां के निर्मल वपु को संस्कार के फटे वस्त्र न पहनाना । धीरे एकाग्रचित्त से शुभ दिन की प्रतिक्षा करो । सत्य ही मा आ रही हैं ।

मनोमय ग्रन्थि भेद हुआ है—नाम रूप का मोह कट गया है, नाम रूप सत्य ही मा के सिवाय और कुछ नहीं हैं, यह अनुभव किये हो--समझ सके हो। अतएव नित नूतन आशा, आकाङ्क्षाओं को पीड़ा दुर होगई है--सत्य पर प्रतिष्ठित हुए हो। इस बार प्राणमय ग्रन्थि भी छिन्न होगई, केवल प्राण ही नाम रूप के आकार से आकारित हो रहा है, वह समझ सके हो। प्राण कहने से अब फिर कुछ सङ्कीर्ण अव्यक्त चेतन्य का आभास मात्र बोध नहीं होता। सर्व्वव्यापी मां के प्राण गुरु के प्राण ही तुम्हारे प्राण रूप से अभिव्यक्त हैं, इस बार यह अनुभव कर सके हो। तुम्हारे विष्णु ग्रन्थि वा प्राणमय ग्रन्थि भेद होगया। विषय मात्र ही प्राण की मूर्ति हैं; यह देख लिया। अब प्राण कहने से ही विश्वमय चित् सत्ता अनुभव कर सकते हो। अतएव नाम रूप के प्रति-विषय के प्रति जो कुछ विशेष ममत्व बोध—अनुराग वा विद्वेष था, वह भी दुर हो गया हैं अतएव सञ्चित कर्म्म संस्कारों अब भुने बीजवत् होने से फिर अंकुर उत्पादन वा फल पैदा करने में असमर्थ हुए हैं। साधक! तुम इतने दिन में प्राण वा चैतन्य पर प्रतिष्ठित हुए।

अब हम ज्ञान मय ग्रन्थि के समीपस्थ होंगे। यही जीव महीरूह (वृक्ष) का शेष बन्धन है। माँ की कृपा से यह विच्छिन्न होने से ही अज्ञान अन्धकार बिल्कुल दुर हो जायगा, जीव का जो यथार्थ स्वरूप है वह प्रकाशित होने लगगा। सुरथ! तुम मा कहकर, आत्म समर्पण योग की सहायता से मुक्ति सागर में कूद पड़े हो। दो लहरें तुम्हारे उपर होकर चली गई। स्थूल और सूक्ष्म शरीर पर जो तुम्हारा अभिमान था वह दुर हो गया। अब सिर्फ एक ही अवशिष्ट रही है। मा की कृपा से वह भी अनायास ही अतिक्रम कर सकोगे और तुम आनन्द पर प्रतिष्ठित होगे।

आओ साधक ! आओ जीव ! सब जन मिले हुए कण्ठ से मा बोलकर आगे बढ़े। जो हमें इस दुर्जय असुर की उत्पीड़न से परित्रान कर, अपने स्नेहमय वक्ष पर धारण कर आनन्द मन्दिर में ले जा रही है, उनके चरणों में प्रणत हो, प्रणाम के सिवाय और हमारे पास है ही क्या ! आओ अभिमान का ऊँचा शिर सम्यक् अवनत कर बोलें—

"नमो नमस्तेऽस्तु सहस्र कृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते" ।।

इति साधन-समर वा देवी माहात्म्य व्याख्या के विष्णु ग्रन्थि भेद समाप्त ।